ओम् · १०० तथ्य, डॉ नेमीचन्द, ©हीरा भैया प्रकाशन, प्रकाशन : हीरा भैया प्रकाशन, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश, मुद्रण : 'नईदुनिया प्रिंटरी' बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२ ००९, मध्यप्रदेश, आवरण भाऊ समर्थ, प्रथम आवृत्ति . २१ अप्रैल १९९६, मूल्य · पाँच रुपये।

ISBN 81-85760-39-X
अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक संख्या
८१-८५७६०-३९-x

ओम् : १०० तथ्य

१ परमेष्ठीवाचक

जैनाचार्यों ने 'ओम्' को परमेष्ठीवाचक प्रतिपादित किया है। 'अ' से अरिहन्त [illegible] से अशरीरी (सिद्ध), 'आ' से आचार्य, 'उ' से उपाध्याय, और 'म' से मुनि शब्दों का बोध होता है। अरिहन्त, अशरीरी, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि शब्दों के प्रथमाक्षरों की सन्धि से 'ओम' संगठित है।

२ प्रणव

'प्रणव' और 'ओंकार' पर्याय शब्द है। प्रणव शब्द के मूल में 'नू' धातु है, जिसका अर्थ है आत्मा-की-स्तुति करना (आत्मा-की-स्तुति और आत्मस्तुति में अन्तर करना आवश्यक है। आत्मा-की-स्तुति का अर्थ है आत्मानुसन्धान आत्मा के स्वरूप को जानना तथा तदनुरूप स्वरूपाचरण करना, जबकि आत्मस्तुति आत्मश्लाघा कहलायेगी। इसस अहंकार बनेगा जो व्यक्ति को पतन की ओर ले जाएगा।)। संपूर्ण व्याख्या इस प्रकार है – प्रकर्षेण नूयते स्तूयते स्वेष्टदेवता अनेन। प्रणव के मायने प्राण देने वाला भी है। योगशास्त्र में ओम को प्राण-शक्ति को प्रज्वलित करने/रखने वाला तत्त्व कहा गया है।

३ ब्रह्मा, विष्णु, महेश

वैदिक परम्परा में 'ओम्' को अ, उ, म् वर्णों की संयुक्त सृष्टि कहा गया है। यहाँ अ से ब्रह्मा, उ से विष्णु और 'म्' से महेश (शिव/महादेव) का बोध होता है। ये तीनों शक्तियाँ क्रमशः सृजन, सिंचन और संहार की प्रक्रिया की नियामक शक्तियाँ हैं।

४ सोऽहम् से बना है 'ओम्'

'सोऽहम्' का अर्थ है – मैं वह हूँ। मैं परमात्मा हूँ। इस भावनात्मक सेतु के कारण सोऽहम् एक अत्यन्त शक्तिशाली मन्त्र बन गया है। सोऽहम् का विकास हुआ, सकार और हकार हटे, फलस्वरूप 'ओम्' अस्तित्व में आया। ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति काफी तर्कसंगत है।

५ रत्नत्रय

जैन शास्त्रों में 'ओम्' की एक अन्य निष्पत्ति भी उपलब्ध है। अ – ज्ञान, उ – दर्शन, तथा म् – चारित्र के प्रतीक वर्ण हैं। इन तीन वर्णों से निष्पन्न ओंकार तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** का सारांश है। इस तरह ओंकार की उपासना का सीधासादा अर्थ है मोक्षमार्ग का अनुगमन।

६ अव् धातु से निष्पन्न

वैयाकरण (व्याकरणवेत्ता) ओम् पद को अव् धातु से निष्पन्न मानते हैं। अव् धातु के उन्नीस अर्थ हैं, जो ओम् की अस्मिता, गरिमा और महत्ता पर व्यापक प्रकाश डालते हैं।

७ परमेश्वर

'ओम्' परमेश्वर है। वह संसार का प्रहरी है, उसकी रक्षा करता है। 'अव्' धातु का पहला अर्थ रक्षा करना है। जो संसार का अभिभावक/पालक है, उसे तमाम क्षतियों और अमंगलों से परे रखता है, वह 'ओम्' है।

८ गति

'ओम्' जगत् को जीवन्त रखता है। उसे पुरातन/निष्क्रिय नहीं होने देता। वह लोकव्यापी है। वह स्वयं गतिमान नहीं है, किन्तु परमाणु से ले कर बृहत्तम/महत्तम तक को गतिशील रखता है। वह गतियों का जनक/उनका प्रेरक स्रोत है। 'अव्' का दूसरा अर्थ गमन, संसरण, भ्रमण इत्यादि है।

९ सुषमा

ओम् के तीसरे मायने हैं शोभा, सौन्दर्य, कान्ति, दीप्ति इत्यादि। इसे सौन्दर्य-स्रष्टा तथा सुखदाता कहा गया है। वह शरीर-जैसे क्षणभंगुर/भीतर-से-घृणित अस्तित्व को भी शोभा-श्री से अभिमण्डित करने की अपूर्व क्षमता रखता है। मांस-मज्जा-अस्थि में भी जो कमनीयता/रमणीकता धड़कती है वह 'ओम्' का करिश्मा है।

१० भक्ति/प्रीति

'ओम्' का चौथा अर्थ 'प्रीति' है। ओंकार **वसुधैव कुटुम्बकम्** (यह धरती मेरा परिवार है) से

ओतप्रोत सार्वभौम ध्वनि है। यह निःसृत हो कर [illegible]
है। जो इसकी भक्ति करते हैं फलस्वरूप उन्हें यह [illegible]

११ सतोष

ओम् का पाँचवाँ अर्थ है सन्तृप्त होना। जो [illegible] अपरिसीम तोष-तृप्ति प्रदान करता है वह ओम् है। ओम् को [illegible] को सम्पूर्ण बलवत्ता से ध्वनित/झंकृत करने पर संसार का ऐसा [illegible] चरणों में स्वयमेव न आ पड़े। ओंकार के साधक को सब कुछ प्राप्त है।

१२ ज्ञानमूल

ओम् का छठा अर्थ है अवगम। अवगम ज्ञान का वाहन है। [illegible] सम्यक् उच्चार से रोम-रोम ज्ञान-केन्द्र में रूपान्तरित हो पाता है। [illegible] अभिशाप नहीं है और ज्ञान से बड़ा कोई वरदान नहीं है। [illegible] जिसे पाने के लिए अपने भीतर गहरे-तलातल चोंच हुए – [illegible]

१३ अबाध

ओम् कहाँ नहीं है? वह सर्वत्र और सर्वदा है। सूक्ष्म और सारग्राही होने [illegible] बेरोकटोक सर्वत्र है। वह वस्तुतः सबमें है और सब उसमें है। [illegible] उसकी व्यापकता स्वयंसिद्ध है।

१४ श्रवण

ओम् का आठवाँ अर्थ है 'सुनना।' ओम् सवादक अस्तित्व है। वह सृष्टि के समस्त अस्तित्वों के मध्य सवाद (डायलॉग) का सर्वोत्तम जरिया है। उससे न तो कुछ छुपा है और न कभी छुपा रह सकेगा। वह गुप्त-से-गुप्त बातचीत को सुनता है – सुन सकता है तथा लोक के तमाम जीवधारियों को सुनने की असीम शक्ति प्रदान करता है।

१५ शासक/स्वामी

ओम् सृष्टि का नियामक है। वह इसका कुशल प्रबन्धक/संगठक है। इसी से स्वर-लय के लोक के चराचर अस्तित्व एक-दूसरे से बद्धमूल हैं। यह विश्व का सनातन तत्त्व है।

१६ प्रार्थनीय

ओम् दाता है। वह सकल ऐश्वर्य-सपन्न है। उसके खजाने में क्या नहीं है? भीतर बाहर की तमाम नेमतें और दौलतें उसके कोष में हैं। इसीलिए योगियों ने इसे 'दायक' और 'साधक' कहा है। ओम् कामनाओं की अभिपूर्ति में तो समर्थ है ही उससे मुक्ति दिलाने की क्षमता भी उसमें है। वह कल्पवृक्ष है अतः प्रार्थनीय है।

१७ निष्कामता

'ओम्' का ग्यारहवाँ अर्थ स्वयं में एक महान् सदेश है। वह स्वाभाविकता, निरापदता और

स्वाधीनता का वार्तावह है। जो निष्काम कर्म करता है वह ओम् है – ओम् का सच्चा आराधक इस तरह 'ओम्' का अर्थ हुआ – कामना-रहित हो कर अनवरत कर्मरत रहना। निष्काम कर्म और 'ओम्' समानार्थी हैं।

१८ लोककल्याण

'ओम्' का बारहवाँ अर्थ 'कल्याणमूलक' है। जो समस्त प्राणियों की हित-कामना करना तदनुरूप इच्छा रखना है, वह 'ओम्' है। 'ओम्' और 'ओम्' का आराधक दो अलग अस्तित्व नहीं – हो भी नहीं सकते। ओम् से तादात्म्य के बिना कुछ भी घटित होना सम्भव नहीं है।

१९ दीपक

'ओम्' ज्ञानरूप होने से तेजोमय है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि तमाम उसकी तेजोमयता से प्रदीप्त हैं। वह प्रकाश-का-अमोघ-स्रोत है – प्रकाशों-का-प्रकाश रोशनी-का-पिता। प्राचीन सिक्कों में 'ओम्' की जो आकृति उपलब्ध है, उससे भी यही अर्थ प्रमाणित होता है तदनुसार वह सूर्योपम ही नहीं, स्वयं सूर्य है।

२० लोकसुलभ

जैसे हवा, पानी, आकाश, धरती और आग सहज सुलभ हैं वैसे ही ओम् भी सर्वत्र-सदैव सुलभ है। वह अन्तश्चक्षु है। भीतर की आँख खुलने पर वह सर्वत्र है। असल में वह आँखों-की-आँख है। उसे सब कुछ लभ्य है, वह स्वयं भी सबको – सर्वत्र प्राप्त है। वह क्षेत्र-कालातीत है।

२१ बहुवर्णी / विविध

'अव्' धातु से व्युत्पन्न 'ओम्' का पन्द्रहवाँ अर्थ है – जगत् के पदार्थों को चित्र-विचित्र बनाना। जगत् और उसके समस्त अस्तित्व बहुआयामी हैं। 'ओम्' के अनुगुंजन से जागतिक पदार्थों/स्थितियों की विविधता उघड़ने लगती है और उनके व्यक्तित्व स्पष्ट होने लगते है। ओंकार से कुछ भी छुपा हुआ नहीं है। वह रवि-किरणों की तरह सर्वत्र अपनी ध्वन्यात्मक पहुँच रखता है। समस्त संसार उसकी भुजाओं में निबद्ध है।

२२. न्याय

'ओम्' दुष्टों/ज़ालिमों को दण्डित करता है। वह वहाँ है, जहाँ न्याय है। अन्याय और अत्याचार, खलता और उत्पीड़न, शोषण और दोहन उसके आगे नहीं टिकते। 'अव्' धातु का एक अर्थ है – 'नष्ट करना', तदनुसार 'ओम्' अन्याय और दुष्टता का उन्मूलन करता है। ओंकार से दुष्टों और अत्याचारियों के आसन डोल उठते हैं।

२३ दानी

'ओम्' दानी है, उदार हृदय है। वह जगत् के समस्त प्राणियों को देह, इन्द्रिय, मेधा एवं बहुविध वस्तुएँ प्रदान करता है। वह रुचि-परिमार्जक है। वह देह को ओजस्वी, इन्द्रियों को संयत, मेधा को ...मय तथा अभिरुचि को गुणोन्मुख रखता है। वह भोग्य पदार्थों में भी योग्य-अयोग्य/ ग्राह्य-अग्राह्य के

विक को प्रतिपल जागृत रखता है।

२४ परिपाक

'ओम्' विमण्डन और विकिरण का निमित्त भी है। यह [illegible] पदार्थ-रचना करता है। उसमे प्रलय और सृजन, लोप और आगम [illegible] यथायोग्य और यथाकाल करता है। अन्न, फल इत्यादि के [illegible] है।

२५ सवर्द्धन

'ओम्' परमाणुओ के सयोजन से वनस्पतियो, जीव-जन्तुओं [illegible], पृथ्वी, [illegible] तथा लोक-लोकान्तरो को सवर्द्धित करता है – उन्हे पुष्ट करता है। 'अव्' धातु का [illegible] है। 'ओम्' वर्द्धमानता (डायनमिज्म) का ज्वलन्त प्रतीक है।

२६ अव्यय

'ओम्' अव्यय शब्द है, जो लिगो, विभक्तियो तथा वचनों मे अपरिवर्तित रहता है। यह अजर-अमर है, इसका कभी व्यय नही होता – न व्याकरण मे, न जगत् मे।

२७ सर्वव्यापी

'ओम्' अर्थवान् कृदन्त प्रातिपदिक (सार्थक शब्द) है। ऋषियों ने इसे 'आप्' धातु से निष्पन्न माना है। 'ओम्' का अर्थ है सर्वत्र व्याप्त, सबमे अनुक्षण समुपस्थित।

२८ वेद-सार

'ओम्' सब वेदो का साराश है। प्रजापति ने वेदो को तपाया फलस्वरूप 'अ'कार 'उ'कार और 'म'कार वर्ण उत्पन्न हुए। भू, भुव, स्व (गायत्री मन्त्र) तीनो वेदो को दुह कर निकाले गए है।

२९ आदि, मध्य, अन्त

माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार 'ओम्' के 'अ'कार का अर्थ है आदि, 'उ'कार का उत्कर्ष, और 'म'कार का ज्ञान/लीनता है। इस तरह जो साधक 'ओम्' की अर्थवत्ता को साध लेता है, उसे समस्त वांछित पदार्थ सहज ही मिल जाते हैं, वह उत्कर्ष को प्राप्त होता है, जगत् उसके लिए दर्पण-तुल्य हो जाता है, और अन्तत वह समाधि-लीन हो जाता है।

३० एकाक्षर

उपनिषदो मे ओकार को एकाक्षर-रूप कहा है। वह अव्युत्पन्न है, स्वयंभेव है। इसे ऋग्वेद मे स्वरित उदात्त, यजुर्वेद मे त्रैस्वर्योदात्त, सामवेद मे दीर्घप्लुतोदात्त और अथर्ववेद मे ह्रस्वोदात्त कहा गया है।

३१ बिन्दु अर्थात् मुक्तिबोध

'ओम्' मे अर्द्धचन्द्राकार (ँ) कला है, जो व्यवहार-निश्चय-रूप सविकल्पना से ऊपर निर्विकल्प आत्मानुभूति की प्रतीक है। सबसे ऊपर जो बिन्दु है, वह अन्तिम मुक्ति का ज्ञान कराता है।

३२. उत्पाद व्यय ध्रौव्य

आचार्य उमास्वामी (तत्त्वार्थसूत्र) के अनुसार 'ओम्' के अ,उ,म् वर्ण क्रमश अव्यय (ध्रौव्य), स्थिति (उत्पाद) तथा लय (व्यय) के द्योतक है। अन्य शब्दो मे ओम् वस्तु-स्वरूप की अभूतपूर्व कुजी है।

३३ बारह कलाएँ

ओंकार के अ उ म् प्रत्यक्ष दिखायी देते है, तथापि उनका स्फुरण बारह कलाओ के रूप मे होता है। ये है – अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, कुण्डलिनी, व्यापिनी शक्ति, समना, उन्मना।

३४ 'ओम्' – जप

'ओम्' के त्रिविध जप हैं। ह्रस्व (उपाशु), दीर्घ (उच्च स्वर), तथा प्लुत (मानस)। इन तीनो मे उपाशु पापनाशक, दीर्घ शान्तिदायक तथा प्लुत सर्वमनोरथ-सिद्धि-दायक है।

३५ दिव्यध्वनि

तीर्थकरो की दिव्यध्वनि (देशना) को ओकार-रूप माना गया है, जिसमे १८ महाभाषाएँ और ७०० लघुभाषाएँ गर्भित है।

३६ समन्वय

अनेकान्त दृष्टि से ॐ के प्रारम्भ मे '३' का अक अनेकात्मक भेद-व्यवहार का निषेधक और अभेद निश्चय का द्योतक है। इन दोनो के मध्य जो रेखा है, वह व्यवहार-निश्चय का सेतुबन्ध है – सापेक्षता की सूचक। साख्य आदि दर्शन वस्तु को नित्य और बौद्ध आदि अनित्य मानते हैं। ॐ की मध्यरेखा इन दोनो मान्यताओ को समन्वित करती है।

३७ अष्टांग साधना

'ओम्' के ध्यान के निमित्त अष्टाग साधना अपेक्षित है। अष्टाग है – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। ये योग के अग है।

३८ 'ओम्' और रग

'ओम्' की साधना विभिन्न रगो के साथ की जाती है। श्वेतवर्णी ॐ शान्ति, पुष्टि और मुक्ति का प्रदाता है। पीले रग का ॐ ज्ञान-तन्तुओ को सक्रिय रखता है। लाल रग का ओम् (ॐ) ऊर्जा-वृद्धि करता है। नीलवर्णी ॐ उदात्तता की ओर ले जाता है तथा श्यामवर्णी ॐ साधक को कष्ट-सहिष्णु बनाता है।

३९ अजपाजप

'ओम् / सोऽहं' को अजपाजप कहा गया है। श्वास लेते समय 'सो'-'ओ' की ध्वनि नि सृत होती है छोडते समय 'ह' ध्वनि सुनायी देती है। इस तरह श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया मे 'सोऽह' (ओम्)) का स्वयमेव हो जाता है। वस्तुत अह का त्याग करने पर ही जीव मे शुद्ध स्वरूप का उदय होता है। 'ओम्'

४४. हुँकार

'हुँ' एक मनोरात्मक अव्यय शब्द है, जो किसी बात को सुनने वाला यह सूचित करने के लिए बोलता है कि 'वह जो कुछ कहा जा रहा है उसे सुन रहा है'। 'हुँकार' या 'हुँकारी' ओंकार का ही लोकोन्मुख विकास है। इसे 'हाँ' या 'हामी' भी कह सकते हैं। किसी से कथा-कहानी को सुनते समय श्रोता अपनी सचेतना या अवधान की सूचना 'हुँ' कह कर करता है। गाँवो मे यह परम्परा आज भी है।

४५ स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ

भगवद्गीता मे 'ॐ तत् सत्' को ब्रह्म का तिहरा निर्देश कहा गया है। इसमे 'ओम्' एक गूढ सकेत है। 'तत्' का अर्थ है 'वह', 'यह' या 'मेरा' नही, अत इससे निष्काम कर्म का बोध होता है। 'सत्' शब्द नैतिक कर्म के लिए प्रयुक्त है। इस प्रकार इस तिहरे निर्देश मे स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ (इहलोक, परलोक और मोक्ष) इन तीनो सीढियो का समावेश होगया है। सक्षेप मे, इसका अर्थ हुआ ईश्वरार्पणपूर्वक निष्काम सत्कर्म करना।

४६. ओनामा

किसी भी काम के शुभारम्भ को लोकभाषा मे 'ओनामा (श्रीगणेश) कहा जाता है। लोकोक्ति है – ओनामासीधम् (ओम् नम सिद्धेभ्य)। सत ज्ञानेश्वर ने 'ओम्' मे गणेश की कल्पना की है। उन्होने ॐकार के 'अ उ म्' इस तरह तीन विभाग किये है। उनकी रससिक्त कल्पना के अनुसार 'अ'कार पद्मासन,, 'उ'कार उदर, तथा 'म्'कार वक्रतुण्ड है।

४७ मगल स्मरण

वैदिक ऋषियो के अनुसार समस्त मगल स्मरण 'ओंकार' की गूढ सज्ञा मे समाये हुए है। वेदमन्त्र हिमालय-के-जगल-जैसे दुर्गम है। ओंकार-की-गुफा उस दुर्गम वन का अत्यन्त विकट स्थान है, जहाँ से आर्य-सस्कृति की पावन गगा का उद्गम हुआ है। अभ्युदय और नि श्रेयस् इस गगा के उभय तट हैं।

४८ उमा

ॐ अ, उ, म् अक्षरो का समवाय है। इन अक्षरो को यदि भिन्न क्रम मे सयोजित करे और स्त्रीलिंग शब्द बनाये तो 'उमा' शब्द बनेगा। उमा हिमालय-की-बेटी तो है ही, वह शान्ति, कीर्ति और सुषमा प्रतीक भी है। शब्दकोशो मे 'उमा' के ये अर्थ उपलब्ध हैं। इस तरह 'उमा' शब्द से 'ओंकार' और पर्या ब्रह्मविद्या का सूचन होता है। 'ओंकार' का चिन्तन ब्रह्म-विद्या-मन्दिर का गर्भगृह है।

४९ धनुष-बाण

'आत्मानामरणिं कृत्वा प्रणव चोत्तरारणिम्' – आत्मारूपी नीचे की लकडी और ओंकार-की लकडी (अरणि) के घर्षण से ज्ञानाग्नि उत्पन्न की जाए अथवा 'प्रणवो धनु शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' – ओंकार धनुष है, आतमा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य है – सन्धान करो।

५४. दमन, दया, दान

ओंकार की तीन मात्राओं 'अ उ म्' के (इन्द्रिय-) दमन, दान-(परार्थ) वृद्धि और दया इन तीन अर्थों की स्वीकृति में कोई संकट नहीं है। 'अ'कार में आत्मा का 'न घातयति' निष्काम स्वरूप प्रकट होगा, 'उ'कार से दयावृत्ति बनेगी तथा 'म्'कार से दान-वृद्धि बरसेगी। इस तरह 'अ' निदाघ (ग्रीष्म), 'उ' शरद् और 'म्' पावस (वर्षा) ऋतु बनेंगे और एक अदम्य कालपुरुष का जन्म होगा।

५५. महावाक्य

'शान्ति शान्ति शान्ति' के संकल्प में शान्ति के तीन बार उद्घोष का अभिप्राय 'अकार शान्ति उकार शान्ति मकार शान्ति' है अर्थात् 'वाक् शान्ति मन शान्ति प्राण शान्ति'। यह महावाक्य है, जिसमें समस्त उपवाक्य विसर्जित हुए हैं।

५६. कर्मयोग

'ओंकार' के ज़र्रे-ज़र्रे में कर्मयोग अनुगुंजित है। इसमें अ – श्रोत्रियत्व – वेद-ज्ञान, उ – अ-का महत्त्व = निष्कामना, तथा म् अवृजिनत्व = निष्पापता के द्योतक अक्षर हैं। इस तरह ज्ञान-विज्ञान, निष्काम कर्म और निष्पाप आचरण ओंकारोपासना की प्रथम तीन महत्त्वपूर्ण शर्तें हैं।

५७ सनातन हाँ

'ओम्' गूढ ध्वनि है, इसलिए इसका गुप्त अर्थ 'तत्' कार के रूप में मान्य है, इसी तरह वह 'सनातन हाँ' के रूप में भी विख्यात है, अतः उसका प्रकट अर्थ 'सत्' कार है।

५८ परम तत्त्व

कठोपनिषद् (२ १५) में 'ओम्' को परब्रह्मवाचक कहा है। बताया है कि ओम् पुरुषोत्तम भगवान् का परम तत्त्व है, जिसके अनुष्ठान के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

५९ अ-नाम

नाम-रहित होने पर भी परमात्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। इन समस्त नामों में 'ओम्' सिरमौर है। यह ऐसा नाम है, जिसमें नाम और नामी एकरूप हुए हैं।

६०. पर भी, अपर भी

प्रश्नोपनिषद् (५ २) में कहा है कि 'ओंकार' पर और अपर ब्रह्म दोनों युगपद् है, अतः विद्वान् इस एक के माध्यम से अपने अभीष्ट का अनुस्मरण/अनुसरण करते हैं।

६१ कालातीत

'ओम्' भूत, भविष्य और वर्तमान की गिरफ्त से परे है। वह त्रिकालातीत है। जो 'था', जो 'है', जो 'होगा', वह सब ओंकार है, ओंकार को जानना कालतत्त्व को उसकी सम्पूर्ण पारदर्शिता में जानना है। यह कैवल्य है। आमूल परिशुद्ध है।

६२ कुक्कुटरुतवत् उच्चारण

'ओंकार' वेद का प्रणव है, 'हूं'कार शैवागम-सम्मत प्रणव है और 'ह्रीं'कार शाक्तागम-सम्मत। इस तरह तन्त्रशास्त्र में प्रणव के अनेक भेद वर्णित हैं। इनके समुच्चार का अर्थ है ह्रस्व दीर्घ और प्लुत के भेद

७० चिन्तवन

ओम् के स्थूल वर्ण अ उ, म् का इस तरह चिन्तवन करो 'अ' पृथ्वी-रूप है – इसकी छवि चन्द्र-कान्ति जैसी है। नभ (बिन्दु) चन्द्र है जिस पर (नाद) शब्दब्रह्म है।

७१. सकल-निष्कल

अ उ म् से नि सृत 'ओम्' का जब हम स-कल चिन्तवन करते हैं तब यह त्रिगुणात्मक है। ब्रह्मा विष्णु और महेश इसके अग हैं। ये तीनो क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस् गुण वाले हैं। स-कल देहधारी श्वेत, पीत, श्याम वर्ण वाले हैं। वे ससारी हैं। निष्कल नभ (शून्य–बिन्दु) नाद है। यही जिन अथवा सिद्ध है।

७२ अकुश / कर्तरिका

प्राज्ञ पुरुषो की वाणी है कि 'ओंकार' मुक्तात्माओ की साक्षात् मुक्ति, मोहरूपी हाथी को वशीभूत करने के लिए अकुश और ससार के दु खो को काट फेकने के निमित्त कैची है।

७३ ओम् सपूर्ण मुख-मण्डल

मनीषी/मेधावी/प्राज्ञ पुरुष सर्वार्थसिद्धि के लिए सूर्य तथा चन्द्र नाडियो को रोक कर तथा मन को निर्मल कर अरिहंत को मस्तक मे सिद्ध को भ्रूमध्य ललाट मे आचार्य को दोनो कानो के केन्द्र मे, उपाध्याय को नासिकाग्र पर और साधु-समुदाय को मुखाग्र पर स्थापित करे। ओंकार परमेष्ठीवाचक है।

७४. शक्ति-पुज

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जैसे पलाश के पत्ते को एक तिनके से उठाया जा सकता है, वैसे ही इस विश्व को 'ओंकार' से धारण किया जा सकता है। **निर्लिप्तता गुरुताओ का सर्वोत्तम समाधान है।**

७५ '३'

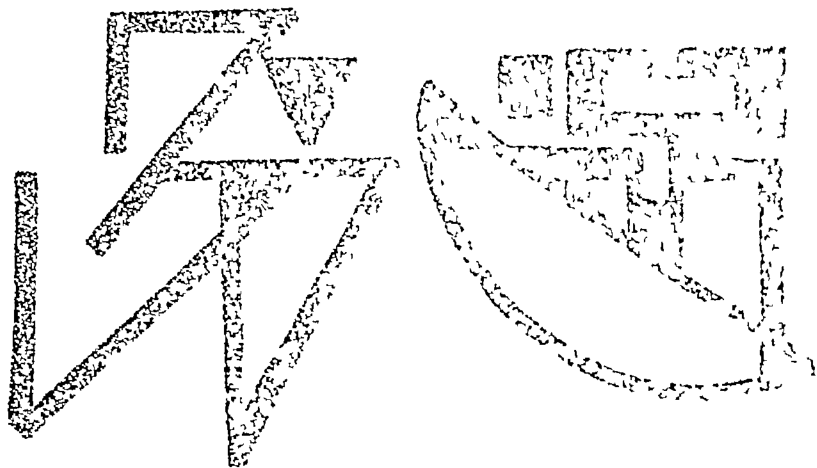
योगिजन ओंकार का उच्चारण दीर्घतम घटाध्वनि-के-समान बहुत लम्बे या अत्यन्त प्लुत स्वर मे करते है, इसलिए इसे 'उद्‌गीथ' कहा गया है। प्लुतत्व को सूचित करने के लिए ही 'ओ' तथा 'म्' के बीच '३' का अक रखा जाता है। 'ओम्' की चतुर्थ गूढ मात्रा का उच्चारण या चिन्तन ब्रह्मज्ञानी ही कर पाते हैं।

७६ रसो-का-रस

ॐ सर्वोपरि रस है। सपूर्ण भूतो का रस रसा (पृथ्वी) है। रसा का रस जल है। जल का रस औषधियाँ हैं। औषधियो का रस वाक् है। वाक् का रस ऋक् है। ऋक् का रस साम है। साम का रस ओम् है। ओम् त्रयी का प्रवर्तक है।

७७ '१' और '९'

१ का अक सभी सख्याओ के आदि मध्य और अन्त मे विद्यमान है। १ २ मे है परन्तु २ १ मे नही है, अत १ सूक्ष्म है। १ को छोड शेष अक स्थूल है। सूक्ष्म का प्रवेश स्थूल मे सभव है, स्थूल का सूक्ष्म मे



नही। 'अव्' धातु (ओम् जिससे निप्पन्न है) की १९ सज्ञाएँ आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्व है। १ और ९ सख्याओ के आदि, मध्य और अन्त वाचक है, १९ सज्ञाओ का प्रतिनिधि ओम् स्वय मे परिपूर्ण अत सर्वश्रेष्ठ है।

७८ साढे तीन मात्राएँ

सत विनोबा भावे के अनुसार ओकार मे साढे तीन मात्राएँ हैं। यह आधी मात्रा पेशवाओ के जमाने के साढे तीन सयानो मे आधे सयाने की भाँति ही अन्य तीनो मात्राओ से अधिक योग्यता की होने के कारण, जान पडता है, उस पर उन तीनो मात्राओ अ उ म् की कुछ भी मात्रा नही चलती। इसे समझने के लिए 'ओम्' की रासायनिक सरचना को समझना होगा। जैसे चूना + हल्दी = लाल रग और २ + ४ = ६ मे फर्क है, वही अन्तर अ + उ + म् = ओम् तथा ओकार मे है।

७९ जगज्जेता

'अ' कार का ध्यान करोगे तो पृथ्वी के प्रभु बनोगे, 'उ' कार का ध्यान करोगे तो अन्तरिक्ष के अधिकारी बनोगे, 'म्' कार का ध्यान करोगे तो स्वर्ग के स्वामी बनोगे और तीनो का ध्यान करोगे तो जगत् के विजेता बनोगे, लेकिन जगत् के विजेता होने पर भी जगदीश हाथ नही आयेगा। उसे प्राप्त करने के लिए तीन मात्राओ का योग कर 'ओकार' का ध्यान करना होगा। इस योग-सामर्थ्य से आधी मात्रा बढ जाती है।

८० अनुभव-कर्ण

प्राणायाम द्वारा 'ॐ' के ध्यान मे अनाहत नाद की अधिक-से-अधिक ८४ आवृत्तियाँ ह को एकाग्र करना चाहिये। नाद के विराट् रूप मे ३६ मण्डल हैं, जिनमे १० स्वर-रूप ... २६ अनुभव-के-कान से सुनायी पडते हैं।

८१ अम् / अहम्

ईश्वर 'अम्' है, जीव 'अहम्' है। 'अह्-अम्' के मेल मे ही 'ओम्' बनता है एवं 'अह्-अम्' के मेल से ही 'अहम्' बनता है। 'अ' स्वर है 'ह्' व्यजन है। 'अ' सूक्ष्म है 'ह्' स्थूल है। 'अ' आत्मा है, 'ह्' विश्व है। आत्मा सूक्ष्म/स्वतन्त्र है। विश्व स्थूल/परतन्त्र है। समस्त विश्व आत्मा के अधीन है। 'ओम्' शब्द का साराशत , यही तात्पर्य है।

८२ गोल गुम्बद

ईश्वर के ज्ञान मे जो जगत् झलकता है, उसके केन्द्र मे विज्ञान-घन ईश्वर अवस्थित है। यही ज्ञान रश्मि-रूप मे बाहर निकल कर अपना एक गोल गुम्बद बनाता है। 'ओम्' को बोलते समय एक ध्वनि केन्द्र से उठ कर चारो ओर अपना गोल गुम्बद तानती है। ध्यान रहे गोल गुम्बद बनाने का सामर्थ्य केवल 'ओम्' मे है। अहम् के उच्चारण मे वह योग्यता नही है।

८३ 'ओम्' · आश्रम

ओम् का 'अ' ब्रह्मचर्य, 'उ' गृहस्थ तथा 'म्' वानप्रस्थ आश्रम का सूचक है। इसमे जीवनावधि त जीवन-लक्ष्य भी स्पष्ट होते है।

८४ ओम् · प्रश्न-पुज

'ओम्' जिज्ञासाओ का अभूतपूर्व समवाय है। अ' क्या का, 'उ' कितने का, तथा 'म्' कैसे व प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह 'ओम्' वस्तु-स्वरूप को खोजने की अचूक कुजी भी है।

८५ ओम् · परिवार

'ओम्' जगत् का प्रतीक भी है, यथा – 'अ' माता 'उ' पिता तथा 'म्' प्रजा (सतान) का अ ध्वनित करते है। किसी परिवार की सरचना के ये तीन मूलभूत घटक है।

८६ दिनमान

'ओम्' दिनमान भी है। इसका 'अ वर्ण प्रात 'उ' मध्याह्न तथा 'म् साय का अर्थ देते है।

८७ ब्रह्म के चार पाद (१)

'ओम्' ब्रह्म के चार पादो का सूचक है। 'अ'कार का ऊष्मा भाग विकास को तथा स्पर्श भाग सकोच को बताता है। विकास अग्नि है, सकोच सोम है। इन दोनो के सम्मिश्रण मे सपूर्ण सृष्टि है। 'अ' कार मे समस्त शब्द निमित-निर्वचित है – अकारो व सर्वा वाक्। गीता मे भगवान् ने स्वय को 'अ'कार कहा है- अक्षराणामकारोऽस्मि। अकार असग है अत अव्यय पुरुष है।

८८ ब्रह्म के चार पाद (२)

'उ' ब्रह्म का द्वितीय पाद है। 'उ कार के उच्चारण मे मुख का सकोच होता है। यह ससगासग है। न तो वह 'अ'कार की भाँति पूर्णतया असग है और न ही 'म कार की की तरह पूर्ण ससग है। यह अक्षर पुरुष है।

८९ ब्रह्म के चार पाद (३)

'म'कार क्षर पुरुष है। इसके उच्चार में मुख का सर्वथा सकोच हो जाता है। यह ओष्ठ्य व्यजन है। इसे बोलते समय दोनों ओठ चिपक जाते हैं और जो भीतर है वह भीतर जो बाहर है वह बाहर रुक-ठहर जाता है इस तरह म' अन्तर्मुखता का सूत्रपात है।

९० ब्रह्म के चार पाद (४)

'म'कार के बाद की अर्द्धमात्रा परात्पर की सूचक है। इसमें शास्त्र का हस्तक्षेप नहीं है। यह स्वानुभव का विषय है। इस तरह 'ओम्' अव्यय अक्षर क्षर एव परात्पर का महायोग एक अलौकिक/अप्रतिम अस्तित्व है।

९१ ओमेन

ईसाई धर्म भी 'ओम्' को ओमेन omen के रूप में मानता है। ओमेन osmen (ओस्मेन) से नि सृत शब्द है। os (ओस) का अर्थ 'मुख' है। एक व्युत्पत्ति के अनुसार यह aus (ऑस) से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ 'सुनना' है। इस तरह 'ओम्' कण्ठ-से-ओष्ठ तथा ओष्ठ-से-कर्ण तक की यात्रा है ठीक वैसे ही ओमेन भी मुख से कान तक का प्रेरक आध्यात्मिक सफर है। कहा जाता है कि जैसे स्वस्तिक 'क्रास' में रूपान्तरित हुआ वैसे ही 'ओम्' 'ओमेन' बन गया।

९२ आमीन

'ओम्' का इस्लाम में भी सबन्ध दिखायी पड़ता है। यहा यह आमीन के रूप में प्रचलित/प्रयुक्त है। ओम् का अ' अल्लाह है। परमेश्वर रूप है। वैसे भी अल्ला स्वय सस्कृत शब्द है जिसके मायने हैं – माता पराशक्ति परमात्मा। इस तरह 'ओम्' एक सम्प्रदायातीत/सार्वभौम शब्द है।

९३ हु

तिब्बत के बौद्ध भिक्षुक बर्फीले मौसम में भी अपने शरीर से पसीना निकालने में समर्थ हैं। ऐसा करने के लिए वे ॐ मणि पद्मे हु मन्त्र का दीर्घ-अविराम उच्चार करते हैं। हु (Hum) ओम् का ही रूपान्तर है। इसे ईश्वर की जीवनी-शक्ति निरूपित किया गया है।

९४ सिद्धशिला

जैनधर्म में निर्वाणधाम अर्द्धचन्द्राकार माना गया है। इसे सिद्धशिला कहा गया है। अर्द्धचन्द्र के मध्य में जो बिन्दु है, वह मुक्तात्मा का प्रतीक है। नि शब्द की यात्रा में शब्द अँगुली छोड़ देता है। वह थक पड़ता है। 'ओम्' जब शब्द नहीं रहता तब समस्त अन्तराय टूट जाते हैं और चेतना अपने उस काल में आ जाती है। इस तरह 'ओम्' वह विराट् शक्ति है, जो बहिरात्मा के परिधान फेंक कर परमात्मा के रूप में व्यक्त होती है।

९५ भूटान

भूटान (भोट देश) के बौद्ध अपने धर्म-कर्म आदि में 'ओ हन् हु' शब्द का उच्चार करते हैं। इन तीनों ध्वनियों को वहाँ क्रमश बुद्ध धर्म और सघ माना जाता है।

९६ महाप्रलय के बाद की ध्वनि

माना जाता है कि महाप्रलय के अवसान और कल्प के आरम्भ में जब स्थूल जगत् शुरू होता है तब सृष्टि की सरचना के क्षणो में एक खास प्रकार की ध्वनि होती है तथा विशिष्ट प्रकार की आकृतियाँ निसृत होती है, जिनका प्रणव (ओंकार) से साम्य होता है। शास्त्रो में कहा गया है कि उस समय, जो अनन्त आकृतियाँ विश्वाकाश मे क्रीडा करती है, वे इन्द्रिय-गोचर नही होती, प्रज्ञागम्य होती है। ये तमाम 'ओम्' की आकृति से सगति रखती है।

९७ ओम् पर्वत

सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री तरुण विजय की एक पुस्तक है –'साक्षात् शिव से सवाद', जिसमे उन्होने अपनी मानसरोवर-यात्रा का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। श्री विजय के अनुसार मानसरोवर-मार्ग मे एक पर्वत–हिमनद– पडता है। यह बर्फीला नद है जो गर्मियो मे बहता है और सर्दियो मे जम जाता है। शरद् ऋतु मे यह बिल्कुल 'ओम्' की धवल आकृति ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि इसे 'ओम् पर्वत के नाम से जाना जाता है।

९८ अहिसा जीवन्त

'ओम्' अहिसा का जीवन्त/सर्वोत्तम प्रतीक है। इसका 'अ' न घातयति, 'उ' न हन्ति तथा 'म्' न हन्यते के प्रतीक अक्षर है। इसके उच्चारण-मात्र मे अहिंसक जीवन-शैली झकृत है।

९९ त्याग

'ओम् त्याग का महान् सदेश देता है। इसके अ उ म् एषणा के क्रमश विसर्जन की कथा कहते है। 'अ' पुत्रैषणा-त्याग 'उ' वित्तैषणा-त्याग और 'म् लोकैषणा-त्याग के प्रतीक वर्ण है। ओम् के सतत् दीर्घोच्चार से साधक मे एषणा के प्रति एक विलक्षण उदासीनता जन्म लेती है जो उसकी चेतना को निर्मल और सबल बनाती है।

१०० नमन-सामर्थ्य

'ओम्' आत्मा का कम्पन है, जो भीतर जर्रे-जर्रे मे होता है। सारे स्वर खो जाते है, आवाजे तितर-बितर हो जाती है, रोम-रोम मे एक महासगीत झकृत हो उठता है – इसीलिए कहा है कि जो 'अहम्' को जानता है, वही 'ओम्' को जानता है; वस्तुत 'ओम्' को जानना ही 'अहम्' के पार जाना है नमन के लिए समर्थ होना है।

—सकलन नेमीचन्द

सत्तूकी तरह छान कर बोलो

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्रधीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषी लक्ष्मीर्निहताधि वाचि।।

जैसे बुद्धिमान् लोग सत्तू को चालनी से छान कर काम मे लाते हैं, वैसे ही वे वाक् को मन मे छान कर विचार से उसे निर्दोष बना कर बोलते हैं। पहले तोलते हैं, फिर बोलते हैं। ऐसी वाणी बोलने वाले परस्पर मित्र होते हैं और वह वाणी भद्र होती है।

जागरित-स्थान	स्वप्न-स्थान	सुषुप्त-स्थान	(मां ३-५)
सत्त्व	रज	तमस्	(गी १७)
माता की शिक्षा	पिता की शिक्षा	गुरु की शिक्षा	(तै १.११.२)
वरेण्यम्	भर्ग	तत्	(छा ६)
क्रिया	इच्छा	ज्ञान	(योग-चूडा ८६)
वैखरी	पश्यन्ती	मध्यमा	(ऋ १.१६४.४५)
शान्ति (साधना)	शान्ति (स्वरूप)	शान्ति (साध्य)	

संकेत-स्पष्टिका

ईश - ईशावास्योपनिषद् के - केनोपनिषद् बृ - बृहदारण्यकोपनिषद् माण्डूक्य - माण्डूक्योपनिषद् तै - तैत्तिरीयोपनिषद् छां - छान्दोग्य ऋ - ऋग्वेद गी - गीता कौ - कौषीतकी यो - योगसूत्र प्रश्न - प्रश्नोपनिषद् श्वे - श्वेताश्वतरोपनिषद् कठ - कठोपनिषद्।

सूचनाएँ

१ यह तालिका दिग्दर्शनार्थ समझी जाए, संपूर्ण नहीं।
२ आगे मात्रा के भिन्न-भिन्न अर्थ सुझा रखे गए हैं, पाठक ढूँढ निकालें।
३ अकारादिकों के पर्याय परस्पर पर्याय नहीं होते।
४ इस अर्थ के बारे में आग्रह रखना संभव नहीं, जैसे– यजुर्वेद का संबंध स्वर्ग से (यानी म् कार से) और सामवेद का अन्तरिक्ष से (यानी उ कार से) ऐसी उलट-पुलट व्यवस्था भी मिलती है (तै १.५.२)। वैसे ही 'उ' कार (यानी प्राण) और 'म्' कार (यानी मन) ऐसा अर्थ भी करते हैं।

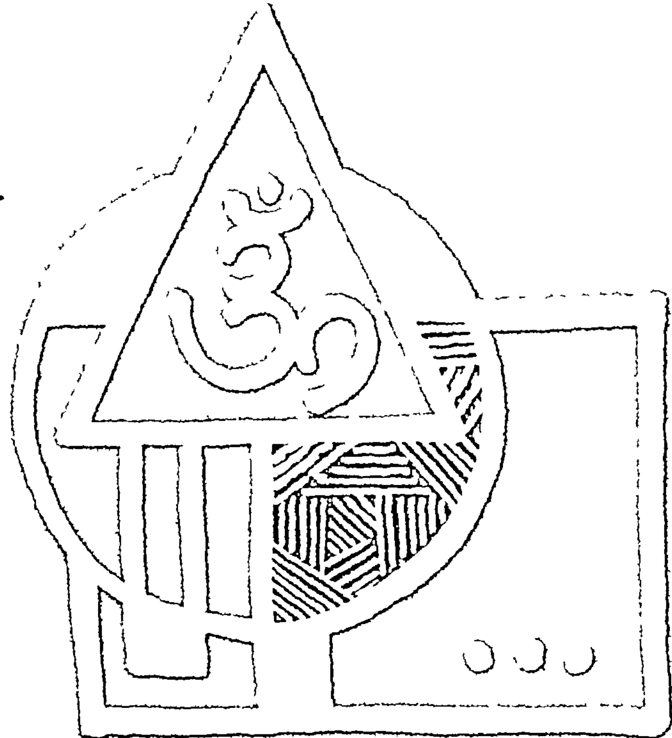
—'उपनिषदों का अध्ययन', विनोबा

ॐकार की तीन मात्राएँ

दमन, दान, दया

काम, क्रोध और लोभ चूँकि सभी मनुष्यों में सामान्यतः जाति-सुलभ दोष हैं, इसलिए ॐ कार की तीन मात्राओं के (इन्द्रिय) दमन, दान (अथवा परार्थ-बुद्धि) और दया ये तीन अर्थ स्वीकार करने में कुछ भी हर्ज नहीं होना चाहिये। 'अ' कार में जहाँ इन्द्रिय-दमन का ग्रीष्म दहकने लगा कि हिंसा करवाने वाला काम झुलस जाएगा और आत्मा का 'न घातयति' वाला निष्काम स्वरूप प्रकट होगा। 'उ' कार में दया-वृत्ति का जाड़ा चमका कि हिंसा करने वाला क्रोध ठिठुर जाएगा और आत्मा को 'न हन्ति' वाला निर्वैर स्वरूप दिखायी देने लगेगा और 'म्' कार में दान-बुद्धि की वर्षा जहाँ शुरू हुई कि हिंसा के वश होने वाला लोभ धुल जाएगा और आत्मा को 'न हन्यते' वाले निर्लोभ स्वरूप का अनुभव होगा। दमन, दया और दान ॐ कार की इन तीन मात्राओं की नैष्ठिक उपासना करने पर, आचार्यों की भाषा में, हिंसा का कर्तृत्व, हिंसा का कर्मत्व और हिंसा का हेतु-कर्तृत्व (यानी प्रेरकत्व) तीनों उड़ जाएँगे और आधी मात्रा में परिपूर्ण 'शान्त आत्मा' प्रतीत होगा।

—विनोबा



ओङ्कारं बिन्दु-संयुक्तं
नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव
ओङ्काराय नमो नमः॥

जैनधर्म: इक्कीसवीं शताब्दी/ डॉ. नेमीचन्द जैन/ हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२००१ मध्यप्रदेश/ प्रथम संस्करण फरवरी १९८७/ द्वितीय संस्करण अक्टूबर १९८९/ तृतीय संस्करण सितम्बर १९९४

मूल्य पाँच रुपये, मुद्रक— नई दुनिया प्रिंटरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर-४५२००९ मध्यप्रदेश।

क्या आपने कभी सोचा है कि जब समूचे हिन्दुस्तान को इक्कीसवी सदी के लिए तैयार किया जा रहा है, तब आपका/आपमे सबन्धित प्रवृत्तियो का क्या रूप होगा ? क्या शक्ल होगी उनकी ? क्या आप इन शक्लो मे कोई दिलचस्पी लेंगे या ये अपना आकार स्वय ग्रहण करती जाएँगी और आप सर झुका कर अत्यन्त कृतज्ञ/विनम्र भाव से इन्हें मजूर कर लेंगे ? क्या कभी आपकी कल्पना मे यह तथ्य आया है कि जैनधर्म 'आगामी कल' कैसा होगा यानी सन् २००१ की १ जनवरी की सुबह उसका क्या स्वरूप होगा ? माना 'विगत कल' पर 'आज' और 'आज' पर 'आगामी कल' बहुत तेजी से चढा आ रहा है, इस वेग से कि हम इसे अन्दाज भी नही सकते, किन्तु कभी न बदलने वाली मौलिकताओ (ध्रौव्य) के साथ ही हमे अपनी सामाजिकताओ और आचरणिक कसौटियो (प्रतिमानो) पर भी तो विचार करना चाहिये। मौलिकताएँ कभी नही बदलती मसलन आग का गर्म होना, जल का ठण्डा होना, बादल का बरसना, हवा का बहना जैसी मौलिकताओ मे कोई बदलाव नही आयेगा, किन्तु रूपान्तर/पर्यायान्तर होगा। श्रावक/श्रमण के आचारो मे तब्दीली आयेगी । असल मे यह सब अपरिहार्य होगा हम सबके लिए कि हम नये वैज्ञानिक और नवसामाजिक सदर्भों की अनदेखी न करें । ये सदर्भ इतने अचूक होगे/दुर्निवार होगे कि हम चाहें, न चाहें हमे उनकी अगवानी मे अपनी भुजाएँ नि सकोच पसार देनी होगी ।

चूंकि इतिहास गवाही है कि जब छापे का जन्म उन्नीसवी सदी मे हुआ सब धर्म ने अपने शास्त्रो को उस प्रक्रिया मे डालने से साफ इकार कर दिया । छपाई का जम कर विरोध हुआ । तब हस्तलिखित ग्रन्थो को पवित्र माना जाता था/अधिक प्रामाणिक माना जाता था । परिवर्तन लगातार होता गया और अब ऐसी मानसिकता बन चुकी है कि हस्तलिखित ग्रन्थो के लिए लहिये (लिपिक) नही मिलते । अब तो शायद यह भी नही देखा जाता कि मुद्रण-प्रक्रिया मे क्या होता है, क्या हम जिस प्रक्रिया का इस्तेमाल कर रहे हैं उसमे कोई अविनय, या हिंसा होती है ? अब यह इतना सा। ।

हो गया है कि छपाई को ले कर हमारे मन मे कोई शकशुवहा पैदा ही नही होता । हम ऐसी अनेक स्थितियो को जानते है जहाँ अपेक्षया अधिक हिंसा होती है, किन्तु सचय और सौदर्य के दुश्चक्र मे हम करणीय-अकरणीय सव स्वीकार कर लेते हैं । मुद्रण अव न सिर्फ अनिवार्य हुआ है अपितु इस सुविधा के कारण जैनो मे अपव्यय की वृत्ति भी वढ गयी है । प्रामाणिकता तो घटी ही है, साथ ही आत्मप्रदर्शन की भावना ने हमे इतना अधिक जकड लिया है कि हम अब विवेक की कसौटी पर खरा-खोटा कसना/परखना ही भूल गये हैं ।

इसी तरह एक जमाना था जव विजली के पखे असह्य थे, अविहित थे । उनका मदिर मे प्रवेश लगभग निषिद्ध था, किन्तु आज उनकी मनभावन उपस्थिति न केवल सह्य है, अपितु अनिवार्य भी हो गयी है । शायद ही कोई मदिर/धर्मस्थल ऐसा हो जिसमे विजली के पखो की व्यवस्था न हो । इसी तरह वातानुकूलन का भी कोई रिवाज़ नही था, किन्तु तीर्थों मे अव इस तरह के इतज़ाम का वड़े गौरव के साथ उल्लेख किया जाता है और लाखो रुपयो की लागत से वातानुकूलित अतिथिगृह वनवाये जाते है । पहले इमारतें बनाने/बनवाने मे लोग छने पानी आदि के उपयोग का ध्यान रखने थे, किन्तु अब वह मब जरूरी नही रह गया है । इसी तरह लाउड स्पीकरो का चलन साधुओ मे एक ममय बिलकुल ही नही था – उसे हिंसा का कारण माना जाता था, किन्तु वह भी अब सह्य हुआ है । शायद ही एकाध साधु कोई वचा हो जो ध्वनि-विस्तारको का इस्तेमाल नही कर रहा हो अन्यथा शेष सारे धडल्ले मे उसका इस्तेमाल कर रहें हैं । उन्हे (हमे भी) इसमे कोई आपत्ति नही है । रात मे रोशनी का उपयोग पहले नही होता था, अब वह आम वात है, कही कोई एतराज़ इस मुद्दे पर नही है । जिन्हें एतराज है, वे भी अब एक तर्कहीन स्थिति मे कुली की तरह उस परम्परा को ढो रहे है, उनके भीतर भी इन अन्धी/बेतुकी परम्पराओ से मुक्त होने की छटपटाहट है । यही हाल वायुयान-से-सफर का हुआ । बहुत दिनो तक बहस चलती रही कि जैन मुनि वायुयान से यात्रा करे या नही, कुछ ने 'हाँ' कहा, कुछ ने 'ना' अन्तत, परम्परा-भजन हुआ और स्थापित साधुओ ने भी उस लाठी को थाम लिया । इस तरह वायुयान भी सह्य हुआ, होता जा रहा है । धीरे से अतरिक्ष मे जैन कॉलोनी और जिनालय की बात भी आकार ग्रहण कर लेगी । वायुयानी सुविधा का उपयोग करने और जैनधर्म को हवाई मार्ग से विदेशो मे वितरित करने के लिए तो एक जैन पथ ने नूतन साधुश्रेणी ही खडी कर ली । यो यह आरम्भ बुरा नही है, क्योकि किसी बडी टूट-फूट से पहले परम्परित

आचार-सहिता का युक्तियुक्तकरण ज़रूरी है । असल मे इस विषय पर एक राष्ट्रीय/समाजव्यापी बहस होनी चाहिये कि हम धर्म के क्षेत्र मे इस तरह की बुद्धिमानियो का उपयोग करें, या नही।

कुल मिला कर यह मान लेना होगा कि नये सदर्भो के साथ जैन धर्म और समाज ने कई अच्छे-बुरे अनुबन्ध किये हैं और लगातार करता जा रहा है । अब तो निश्चय से ऐसी मानसिकता बन चुकी है कि जब भी कोई नया सदर्भ, या परिवर्तन क्षितिज पर आता है तो हम उसे बिना किसी झिझक के स्वीकार कर लेते है (करना चाहिये, या नही यह एक अलग बहस की बात है) । रेकॉर्डर्स, रेडियो, टीवी, फिल्मे इत्यादि सब अब धर्म के इलाके मे पूरी तरह सह्य हुए हैं ।

सवाल यह है कि १९ वी सदी मे ही जब हमने सामान्य होना शुरू कर दिया था धर्मेतर क्षेत्रो मे हुई तब्दीलियो के सिलसिले मे, और जब २० वी सदी मे भी हमने बहुत से सदर्भ/परिवर्तनो को बिना किसी सकोच के स्वीकार कर लिया है तब फिर क्या आने वाली शताब्दी-के-सदर्भ मे हमारा अनुदार बनना समीचीन/समुचित कहा जाएगा ? शायद नही, कदापि नही ।

इसलिए बहुत ज़रूरी है कि हम जैनधर्म के स्वरूप को गौर से देखें (एक विशेषज्ञ की नज़र से) कि महावीर-के-युग से अब तक उसमे क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं और उन परिवर्तनो के साथ तत्कालीन मानसिकता ने कैसा सुलूक किया था ? आखिर उन-उन लोगो ने अपने-अपने ज़मानो मे इन तब्दीलियो को मजूर क्यो किया, या मजर क्यो कर लेना पड़ा उन्हें ? हमारे इस व्यापक सर्वेक्षण का नतीजा यह होगा कि हम उस मानसिकता को पहचान पायेंगे जो परिवर्तनो को स्वीकार करने के लिए बनती रही है, बन जाती है, ताकि हम अपनी मौलिकताओ के सदर्भ मे, आने वाली सदी के परिवर्तनो की परिकल्पना कर सकें तथा उनके लिए तैयार रह सकें ।

यह तय है कि जो भी परिवर्तन आयेंगे वे बहिरंग होंगे, अन्तरंग परिवर्तन एक तो सभव नहीं है, और दूसरे उनका स्वभाव जल्द घटित होने का नही है । दूसरे शब्दो मे हमें जानना चाहिये कि दार्शनिक ढाँचे मे [illegible] परिवर्तन की गुंजाइश प्राय नहीं ही रहती है किन्तु जो आचार [illegible] है, उसे वक्त प्रभावित कर सकता है, इसे हमें दुबारा अवश्य [illegible] होगा । सबसे पहले तो हमें बीसवीं सदी के उपयुक्त बनना होगा [illegible] जिस सदी ने हमारे द्वार खटखटाना शुरू कर दिया है उसके [illegible] गभीरता से विचार करना होगा । अभी जो परिवर्तन धर्म के [illegible] ढांचे मे दिखाई दे रहे हैं वे [illegible] हैं—[illegible] नहीं रहे हैं । [illegible]

वर्तन की प्रक्रिया का समीचीन/समुचित अध्ययन करना चाहिये और आने वाली शताब्दी के सदर्भ मे जो भी आवश्यक तब्दीलियाँ सभावित हो उन पर रचनात्मक बहस करनी चाहिये ।

अभी असल मे हो यह रहा है कि हम जैनधर्म के आचारशास्त्र के साथ ऊपरा-ऊपरी बर्ताव कर रहे है । श्रावको के आचार पर समय का दबाव होते हुए भी–हमने अब तक ठीक मे विचार नही किया है, करना चाहिये और बहुत जल्द करना चाहिये । इससे पहले कि कोई लाचारी सामने आ खडी हो हमे समूचे आचरणिक/आचारिक ढाँचे की तर्कसम्मत समीक्षा कर लेनी चाहिये और फिजूल के काम छोड कर तेजी से इस दिशा मे आ जाना चाहिये । मसलन, यदि हम मदिरो के बनाने मे लगते है तो वह हमारी शक्ति का अपव्यय है, हाँ, यदि हम बने हुए मदिरो की व्यवस्था और सुरक्षा मे लगते है तो वह अमली काम है, बेहद समीचीन कर्तव्य है । यदि हम जैन धर्म और दर्शन को चरित्र मे प्रकट करने की अपेक्षा कैसेटो/फिल्मो/तस्वीरो/ट्रक-यात्राओ मे डालते हैं तो यह हमारा एक बहुत ही बचकाना कदम है, किन्तु यदि हम अपने बुद्धिजीवी वर्ग को जैनधर्म का शिक्षाशास्त्र के निर्धारित मानको/माध्यमो के द्वारा उपयुक्त शिक्षण देते है तो यह उसकी शत-प्रतिशत सार्थकता है, इसमे दो मत नही हो सकते । यदि हम अपने खान-पान को प्रयोगशाला-के-प्रत्यक्ष प्रमाणो के साथ जोडने का पुरुषार्थ करते है तो उसका कोई मतलब है और उसके दूरवर्ती नतीजे निकल सकते हैं, किन्तु यदि हम भद्दे प्रदर्शनो द्वारा अपनी नेतागिरी के लिए कुछ करते है तो वह राजनैतिक पैंतरेबाजी के अन्तर्गत तो दुरुस्त है, किन्तु उससे जैन-धर्म और समाज की अन्तरात्मा घायल/व्यथित होगी, उसे साघातिक चोट पहुँचेगी ।

हिंसा और उससे मिलती-जुलती प्रवृत्तियो (परिग्रह, झूठ, चोरी आदि) ने जो घातक/कूटनीतिक शक्ल ले ली है–लेना शुरू कर दिया है–उससे निबटने के लिए हमने अब तक क्या किया है, या आगे क्या करने जा रहे है? कुछ भी नही, बल्कि हुआ यह है कि हम उस सारे कृत्य मे जाने/अनजाने साझीदार बन गये है । आज जो कत्लखाने खुल रहे है उनकी राजनीति/रणनीति बिलकुल नयी है, उन्हे ले कर कहा जा रहा है कि पहले जो कत्लखाने खुलते थे उनमे पशुओ के प्राण बडी क्रूरता और बेरहमी के साथ लिये जाते थे, किन्तु अब इन कत्लखानो मे हम दयालुता और रह-मदिली, सुविधा और आराम मे पशुओ का कत्ल करेंगे । उन्हे अधिक कष्ट नही होने देंगे । जिन पशुओ का वध किया जाएगा उनके आराम का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाएगा, उन्हें इस तरह से मारा जाएगा कि कम-से-कम तकलीफ हो उन्हें, अर्थात् उनके साथ बेहद अहिंसक सुलूक किया जाएगा ।

क्या यह ऐसा ही नही है जैसा अग्रेजो ने कुछ किया था? सुख, किन्तु गुलामी ज़रूरी। बर्ताव दयालुता का, किन्तु कत्ल ज़रूरी। इस तरह की भाषा के उपयोग द्वारा धर्म के साथ आगे चल कर जो खिलवाड़ होने वाली है और हमारा सदाचार जिस खतरे मे पडने वाला है, आज उसकी ओर हमारा ध्यान बिल्कुल नही है। हम सिर्फ बहिर्मुख सुविधाओ मे सतोष कर रहे हैं, किन्तु इसका हमारी जाने वाली पीढी की मानसिकता पर क्या असर होने वाला है, इसका खयाल हमे कतई नही है।

अत यह मौका है जब हमे अपनी परम्परा और अपने वर्तमान का बहुत सावधान पर्यवलोकन करना चाहिये, जायजा लेना चाहिये, और देखना चाहिये कि हम परम्परा और सामने खडे वर्तमान के साथ किस तरह का कितना सतुलन/समानुपात बनाये रख सकते है। 'उत्पादव्ययध्रौव्य' का हमारा सिद्धान्त इतना सशक्त है कि यदि हम इसे ठीक समझ ले तो हम आज और आने वाले कल के साथ एक स्वस्थ सुलूक कर सकते हैं। स्थितियाँ पैदा होती हैं, टिकती है, नष्ट होती हैं, विनाश के इस मलबे पर दूसरी स्थितियाँ आती हैं, टिकती हैं और लुप्त हो जाती हैं, किन्तु ऐसा कुछ है जो न तो पैदा ही होता है और न ही नष्ट। वह ध्रुव है। उस ध्रुव की जो कसौटी है 'आज' की और 'आने वाले कल' की उसे ध्यान मे रख कर हमे आने वाली शताब्दी के लिए तैयारी करनी चाहिये। यह ऐसा संवेदनशील क्षण है कि जब यदि हमने इस तरह की कोई तैयारी नही की तो हम दुनिया से बुद्धि और आचरण की दौड मे बुरी तरह पिछड जाएँगे।

(२)

अब तक हमने इक्कीसवी सदी के द्वार तक पहुँचते-पहुँचते जैनधर्म की क्या शक्ल होगी इस पर किंचित् अनुमानपरक विचार किया है। अब हम उसी विषय के और-और पहलुओ पर विचार करेंगे। जनवरी १९८६ से जनवरी २००१ की दो खूँटियो के बीच पूरे डेढ दशक का फासला है यानी इस दरम्यान हमे १८० महीने—५४७५ दिन व्यतीत करने हैं। यह एक उल्लेखनीय समय-दूरी है। परिवर्तनो की दृष्टि से ये वर्ष बहुत गतिवान सिद्ध होगे। बीसवी सदी मे घटनाओ की जो तीव्रता और सघनता रही है, उसके खत्म होते-होते वह काफी बढ जाएगी, और उन्हें ले कर की जाने वाली व्याख्याओ/मूल्याकनो/भविष्यवाणियो मे काफी फर्क पड जाएगा। कई सदर्भ इसे प्रभावित करेंगे। समाज की मानसिकता आमूलाग्र बदल जाएगी। विज्ञान और राजनीति, अर्थ और समर-नीति उसे प्रभावित करेंगे। कोई बात बतौर आदेश, या फरमान के मजूर नही की जाएगी। हरएक

चाहेगा कि वह तथ्यो की युक्तियुक्त समीक्षा करे और उन्हे अपने स्तर पर पुष्ट करे। तब तक विज्ञान क्रमश मनुष्य को ऐसे उपकरणो/औजारो से लैस कर चुकेगा, जो उसकी तथ्यो की समीक्षा और पुष्टि मे मदद करेगे। आचार्य कुन्दकुन्द की विधि-निषेधपरक शैली पुन जीवन्त हो उठेगी। कोई ऊलजलूल बात सिर झुका कर मानना सभव नही हो पायेगा। श्रद्धा का स्थान क्रमश सापेक्ष समीक्षा ग्रहण कर लेगी। श्रद्धेय कौन हो इसके नये मानदण्ड/नयी कसौटियाँ नये सिरे से अस्तित्व मे आयेगी। जो तर्कसगत और अन्धविश्वास-से-परे होगा, वही पूज्य/श्रद्धेय होगा। थोपी गयी श्रद्धाओ के पाँव-तले से जमीन खिसक जाएगी।

चूंकि जैनधर्म/दर्शन पहले से ही वर्तमान है और अनेकान्त/स्याद्वाद की वजह से उदार और सहिष्णु है, अत उनकी स्थिति मजबूत होगी। आम लोग जैनधर्म का अध्ययन करना चाहेगे, किन्तु जैनधर्मानुयायी उन्हे उपयुक्त साधन उपलब्ध कराने मे असफल रहेगे। दु खद यह होगा कि जैनधर्म को मानने वाले जैनधर्म को छोडने लगेगे और ऐसे लोग जिन्होने उसके बारे मे कभी कुछ जाना ही नही, उसे खोज-खोज कर पढना शुरू करेगे तथा बडी निष्ठा/प्रामाणिकता से उसे स्वीकार करेगे। जैन समाज भीतर से टूटेगा, किन्तु जो नया तत्त्व देश-विदेश मे आ कर उसके ढाँचे मे घुलेगा वह उसे रूपान्तरित करेगा। इस तरह सभवत वह उस बिन्दु पर लौट आयेगा, जिस पर वह महावीर-युग मे था अर्थात् जैनधर्म अधिकाश जैनो के लिए अप्रासगिक और जैनेतरो के लिए प्रासगिक हो बनेगा। लगता है महावीर और हमारे इस युग की मानसिकताओ मे तब कोई खास अतर नही रह जाएगा। प्राकृत/अपभ्रश अपना पारम्परिक असर खो चुकेगी। जैन धर्म/दर्शन को अभिव्यक्ति के लिए लोक-प्रचलित बोलियो/भाषाओ का इस्तेमाल करना होगा, यानी आमफहम की जुबान के जरिये जैन धर्म/दर्शन को लोगो तक ले जाना होगा, या फिर हालात ऐसे कुछ बनेगे कि वह खुद-ब-खुद उन तक चला जाएगा। इसी तर्ज मे धर्म पर वैज्ञानिकता का रग गाढा हो जाएगा, कहना चाहिये धर्म-की-वैज्ञानिकता जैसा कुछ अस्तित्व मे आने लगेगा। धर्म जो नवाकृति ग्रहण करेगा उसमे विज्ञान की एक उल्लेखनीय भूमिका होगी। धर्म और विज्ञान अजीज दोस्त की तरह मैदान मे आ खडे होगे। अध्यात्म के धरातल पर इन दोनो की यह मैत्री विश्व के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगी।

कम्प्यूटरो (सगणको) के आ जाने मे हमारी चिन्तन-प्रक्रिया मे काफी फर्क पड़ जाएगा। कुछ ही सालो मे हम कई सदियाँ एक साँस मे जी पायेंगे। जिन तथ्यो को हम जीवन-भर घोखते/ढोते रहे हैं उन्हें हम पलक-मारते हृदयगम करने की स्थिति मे होगे। जैन धर्म/दर्शन को कम्प्यूटर की

भाषा मे फीड करने/उपलब्ध कराने की अनिवार्यता का अनुभव हम करेंगे तदनुसार हमे ऐसे जैन पण्डितो/साधुओ का एक विशिष्ट वर्ग इधर के वर्षों मे क्षितिज पर लाना होगा जो जैनधर्म को इस नयी प्रक्रिया मे प्रस्तुत कर सके। ध्यान/प्रतिक्रमण/सामायिक आदि प्रक्रियाओ मे भी सगणक की उल्लेखनीय भूमिका होगी। हम यदि चाहेंगे तो अपने दोषो को कम्प्यूटरी पर्दे पर देख सकेंगे और यथावधि उनकी समीक्षा/उनका परिहार कर सकेंगे। आचार्यों को भी अपने सघवर्ती साधुओ की गोपनीय चरित्रावली रखने में कम्प्यूटर काफी मददगार साबित होगा। साधुओ को सब मे बडा फायदा यह होगा कि कोई भी जैनाचार्य अब उन पर अपनी मनमानी नही थोप पायेगा, चूँकि कम्प्यूटर सच/सतुलित/पूर्वग्रहमुक्त आचरण देगा, अत एकबारगी सब कुछ निष्कलक हो जाएगा। विज्ञान विवश सच की ओर व्यक्ति/समाज को ले आयेगा, क्योकि जब भी ऐसी स्थितियाँ आयेंगी/बनेंगी कि आदमी झूठ बोलना चाहेगा, या बोलेगा, या कोई ग़लत काम करेगा कम्प्यूटर अपनी ओर से उसे आगाह कर देगा। इससे जहाँ एक ओर कई मुश्किले खडी होगी, वही दूसरी ओर कई प्रतीक्षित सामाजिक शुद्धियाँ भी क्षितिज पर आयेंगी।

कम्प्यूटरो के कारण हमारी स्वाध्याय-विधि भी समृद्ध होगी। इनकी मदद से हम अधिक गहन, व्यापक और प्रामाणिक स्वाध्याय कर सकेंगे। ऐसे कम्प्यूटर सामने आ जाएँगे जिनकी मेमरी/स्मृति मे हम लगभग सारा आगम डाल सकेंगे और जब/जितनी चाहेंगे मनचीती जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से एक कल्पवृक्ष-सस्कृति आविर्भूत होगी। जैनो को इस सस्कृति की अगवानी के लिए भावनात्मक तैयारी करनी चाहिये। उन्हें ईमानदारी से यह कोशिश करनी चाहिये कि २००० ई तक ऐसे जैन विद्वान् सामने आ जाएँ जो जैनधर्म को इक्कीसवी सदी की तब्दीलियो के अनुरूप ढाल सकें।

कर्मसिद्धान्त की पेचीदगियो को हम कम्प्यूटर के जरिये जानने मे समर्थ होगे। अब तक हम उसे 'जैसा बीज, वैसा फल' की भाषा में जानते रहे हैं, अब हम इसे सीधा गोम्मटसारी गणित से जुडा पायेंगे। जो सवाल अब तक जटिल दीख पडते थे, अब काफी आसान दिखायी देने लगेंगे। अन्धविश्वास जडमूल से उखड जाएँगे, तब न कोई भूत होगा, न प्रेत, होगा सिर्फ आदमी और उसके सामने खडा बिलकुल नगा/निर्वस्त्र सत्य। बिल्लियाँ एक तो रास्ता काट नही पायेंगी (उन्हें भी ट्रैफिक के नियम पालने होंगे और यदि कदाच् उन्होने ऐसा किया भी तो उसका कोई मायना नही

शकुन-अपशकुन निरर्थक हो जाएँगे। हमे ऐसे ग्रन्थालय विकसित करने होगे जो शास्त्रो (हस्तलिखित/मुद्रित) से नही वरन् कम्प्यूटरो और कैसेटो मे लैस होगे।

जैसे-जैसे नयी तकनीकें/विधियाँ विकसित होती जाएँगी, वैसे-वैसे हमारे स्थापत्य का स्वरूप भी बदल जाएगा/बदलने लगेगा। जो मदिर आज उजड रहे है, उन्हे नगरो मे यथास्थान स्थानान्तरित किया जा सकेगा। बाजार मे प्रीकास्ट मदिर सहज ही मिल सकेंगे। इसी तरह जो मदिर इक्कीसवी सदी मे बनेंगे वे स्थानान्तरणीय प्रकृति के होगे, वे इस तरह के कुछ होगे कि जिन्हे जरूरत होने पर एक स्थान मे दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकेगा, यानी वक्त के साथ हमे कुछ नये अनुबन्ध अपरिहार्यत कर लेने होगे। मानिये, मदिरो मे अधुनातन वैज्ञानिक साधन पूरे लवाजिमे के साथ प्रवेश कर जाएँगे। इस तरह एक नयी ही 'मन्दिर-सस्कृति' अस्तित्व मे आ जाएगी।

पाँच अणुव्रतो की स्थिति भी बदल जाएगी। मूल धारणा वही रहेगी, किन्तु बदली हुई/तेजी से बदलती जीवन-छवियो के साथ या तो उन्हे समायोजित होना पडेगा, या हमे उन्हे करना पडेगा। अहिंसा की धारणा अब मात्र जीव-हिंसा तक ही सीमित नही रहेगी, पारिस्थितिकी (ईकॉलॉजी) उसे एक सूक्ष्म मोड प्रदान करेगी। जैनधर्म मे अहिंसा की जो सूक्ष्मतर व्याख्या दी गयी है, उस पर अनजाने मे काफी गभीरता से विचार किया जाएगा। प्रदूषण-जैसी दुर्घटना से बचने के लिए मनुष्य पेड-पौधो/पशु-पक्षियो की रक्षा करेगा। इसी तरह वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी आदि के प्रदूषणो से बचने के लिए भी वह लाज़िमी तौर पर जीव-रक्षा की ओर मुडेगा। यह सब उसकी खुद की अस्तित्व-रक्षा के लिए ज़रूरी होगा। प्रदूषण का अजगर कुछ इस तरह मुँह बा कर उसके सामने आ खड़ा होगा कि उसे विवशता मे एक उत्कृष्ट अहिंसक की भूमिका मे प्रकट होना पडेगा। युद्धो की कुछ अजीब-सी शक्ल होगी। एक तो वे लडे ही नही जाएँगे और यदि जूझे गये तो भीषण/प्रलयकर होगे। भरत-बाहुबली-जैसे किसी अहिंसक युद्ध की सभावनाएँ नही होगी।

सत्य की धारणा भी बहुत-कुछ अपने मूलबिन्दु की ओर लौटने लगेगी। लोग चाह कर भी झूठ बोल/कर नही पायेंगे। विज्ञान क्रमश ऐसी लाचारियाँ पैदा कर देगा कि मनुष्य को विवशतापूर्वक सच बोलना पडगा, प्रामाणिक बनना पडेगा, इस तरह सत्य के क्षेत्र मे विज्ञान मनुष्य को सत्यसध होने पर विवश कर देगा; किन्तु यदि हम ध्यान से देखेंगे तो हमे लगेगा कि यह विवश सत्य एक तरह का असत्य ही होगा। असत्य की सभावना जड़मूल

से नही जाएगी, वह मौका ढूंढती रहेगी—घात लगाये मन के किसी कोने मे बैठी रहेगी। वस्तुत विवश अहिंसा भी एक किस्म की हिंसा ही है।

अचौर्य के साथ भी यही/ऐसा कुछ होगा। कोई व्यक्ति चाह कर भी तस्करी नही कर पायेगा। तब तक विज्ञान इतनी सावधानियाँ/कसौटियाँ विकसित कर चुकेगा कि कोई वस्तु, या वस्तुस्थिति छुपी नही रह पायेगी। कही-न-कही कोई-न-कोई उन सारी स्थितियो को देख सकेगा, जिन्हे कोई व्यक्ति, या मुल्क, या समूह छुपाना चाहेगा। विज्ञान की इस खुफियागीरी के कारण व्यक्तियो/मुल्को को लाचारी मे अचौर्य का पालन करना होगा, किन्तु इस सबका एक काला/खौफनाक पहलू भी विकसित होगा कि व्यक्ति ज्यो-ज्यो पारदर्शन के कौशल का विकास करता जाएगा त्यो-त्यो वह ऐसे साधनो को भी आविष्कृत करेगा, जिनमे स्थितियो को अधिक दक्षता के साथ ढांका जा सके। दोनो स्थितियां आमने-सामने एक विषम सघर्ष मे होगी, अत नतीजतन सामाजिकता अधिक जटिल रूप धारण कर लेगी।

अपरिग्रह को भी एक नयी शक्ल सामने आयेगी। लोगो को स्थान-मोह अब नही रहेगा। कोई खास ज़मीन, मुल्क, या मकान मे उनकी आसक्ति नही रहेगी। जहाँ भी उन्हें अधिकतम सुभीते मिलेंगे, वहाँ वे बेझिझक चले जाएँगे, इस तरह परिवार की धारणा एकदम पस्त हो जाएगी और स्थानिक आसक्तियाँ काफी घट जाएँगी। वसुधैवकुटुम्बकम् की भावना आकार लेगी, किन्तु वह कोई आदर्श नही होगी—एक विवश फलश्रुति होगी। यातायात की तीव्रता और सघनता के कारण लोग बहुत नजदीक आ जाएँगे और एक विश्व-सस्कृति/विश्व-मानव की सभावना क्षितिज पर करवट लेने लगेगी।

ब्रह्मचर्य की धारणा बहुत कुछ बदली है, बहुत कुछ बदल जाएगी। विवाह-सस्था खतरे मे पड जाएगी (पडने लगी है)। सामाजिक नियन्त्रण काफी ढीला पड जाएगा। सयम या तो आरोपित होगा, या परम्परित, जो होगा एक लाचारी होगा। आदमी खुद इतना व्यस्त हो जाएगा कि उसे इन सब मामलो के लिए वक्त ही नही मिलेगा। नये सदर्भों मे जीवन-मूल्य नवसार्थकता तलाश करेंगे। धार्मिक विश्वास विज्ञान को मायनस करने पर—रूढ/परम्परित/अन्ध लगने लगेंगे, अत उनके नये सिरे से प्रासगिक होने की सभावना जगेगी।

साधु-सस्था की एक नयी शक्ल सामने आयेगी। जो रूप आज है, उसे देखते साधु-विहार कम हो जाएँगे। साधु स्थिर हो जाएँगे, उन्हें होना पडेगा, और श्रावक विहार करेंगे। जहाँ साधु होगे वहाँ श्रावको के समूह जाएँगे और उनसे यथावश्यक मार्गदर्शन प्राप्त करेंगे। यातायात के साधन इतने

जटिल/प्रखर हो जाएँगे कि या तो साधुओं को ट्रैफिक-नियम सीखने होगे, या फिर उन्हे एक स्थान पर ही रुक जाना होगा और अपने-अपने तपोवन विकसित कर लेने होगे। जैसे वीरायतन, जैन विश्व भारती आदि। साध्वियो की सख्या घट जाएगी। स्त्री अधिक व्यस्त हो जाएगी, पुरुष अपेक्षया निवृत्त हो जाएगा। सामाजिक समता मे वृद्धि होगी, किन्तु जो भाई-चारा सामने आयेगा वह औपचारिक अधिक होगा। साधुओ को अपनी विहार-सहिता पर वक्त-रहते विचार कर लेना होगा, यदि उन्होने वैसा नही किया तो वक्त खुद वैसा कर देगा। दीक्षाओ के रूप मे भी परिवर्तन हो जाएगा। मदिर और उपासरे सादगी की ओर झुक जाएँगे। जो भी धर्मस्थल होगे वे उदार प्रेरणा-स्थलो के रूप मे सामने आयेगे – उनके साथ मनोरजकता और सुविधाएँ भी जुड जाएँगी। वे 'धर्म कम, स्थल अधिक' होगे। वस्तुत वे हारे-थके लोगो की आरामगाह के रूप मे विकसित हो जाएँगे।

लोग क्रमश मासाहार की विषाक्तता/निरर्थकता को जानने लगेगे, एक तो प्रदूषण से बचने के लिए, दूसरे स्वास्थ्य-रक्षा के लिए मासाहार उन्हे घटाना होगा। शाकाहार की प्रतिष्ठा बढेगी। सभ्यता जैसे-जैसे जटिल होती जाएगी, शाकाहार की गुणवत्ता वैसे-वैसे सामने आने लगेगी। उसकी गुणमूलकता पर ध्यान जाते ही उसका महत्त्व स्थापित होने लगेगा। ज्यादा-तर यह स्थिति आपोआप बनेगी।

कुल मिलाकर ऐसी तब्दीलियाँ होगी, जिनके कारण जैनधर्म काफी भिन्न हो जाएगा, कैनवास (पटल) वही रहेगा, किन्तु रग बदल जाएँगे।

(३)

आज से पन्द्रह वर्ष बाद हम क्या होगे, आज क्या है, कल क्या थे – इन सारे प्रश्नो के उत्तर देने के लिए हमे काफी अच्छी मानसिक तैयारी कर लेनी चाहिये। चूंकि आज ये सवाल उतने महत्त्व के नही दिखायी पड रहे हैं, किन्तु कल इनके साथ जो जटिलताएँ उत्पन्न हो जाएँगी, जुड जाएँगी वे बेहद तकलीफदेह साबित होगी। इस सवाल पर भी विचार करने की आवश्यकता है कि इन वर्षों मे जो तब्दीलियाँ होगी उनके नियन्त्रक तत्त्व/सूत्र क्या होगे? वे कौन-सी स्थितियाँ होगी जो हमारे आगामी डेढ दशक की प्रगति पर शासन करेंगी (या करने लगी है)? आने वाली जैन आबादी का परिमाण क्या होगा? उस आबादी का बदला हुआ चेहरा कैसा होगा? क्या जैन धर्म/दर्शन जिन उसूलो की सदियो से नुमाइदगी करते आ रहे हैं, वे इस आबादी के आचार-विचार के साथ पूरी सगति रख पायेगे या बदलती आबादी अपने

नये विचारो के साथ उनमे मनोवाछित परिवर्तन कर लेगी ? ऐसी स्थिति मे क्या महावीरकालीन जैन समाज – जो सार्द्ध/चौबीस सदियाँ त्रिता चुका है और इक्कीसवी सदी मे पाँव रख रहा है – के मुखमण्डल की आभा वही होगी, या उसमे बदलाव आ जाएगा ? क्या दोनो चेहरो को अलग-अलग रख कर हम कह पायेंगे कि वे दोनो एक-से हैं ? ये सारे यक्ष-प्रश्न हैं, जिन्हें हमे टालना नही है, वल्कि जिनकी आँच से सावधान हो/रह कर हमे अपनी वेलौस समीक्षा करनी है।

इसके साथ ही हमे यह देख-परख लेना होगा कि जो पीढी आकार ले रही है, या जिसने विगत २–३ वर्षों मे ही सूरज की पहली किरण देखी है, या जो इस वीच जमेगी – धर्म (यहाँ जैनधर्म) के प्रति कैसा रुख अपनायेगी ? क्या विज्ञान और तकनीक ने जिस तर्कशक्ति को जन्म दिया है और जिन तृष्णाओ और लालसाओ को उत्पन्न किया है, उनके सामने परम्परित धर्म के पाँव मजबूती से टिके रह पायेंगे, या लडखडा जाएँगे ? हकीकत यह है कि आज धर्म के पाँव विज्ञान की बढती हुई ताकत के आगे लडखडा गये हैं। आज हम जिन्हें धार्मिक कह रहे हैं, वे या तो वुरी तरह घबराये हुए लोग हैं, या धर्म को ले कर निपट निरक्षर जन हैं, या ऐसे लोग हैं जिनके सामने कोई स्पष्ट दिशादृष्टि नही है, अत हमे इस तथ्य को अनिवार्यतया देख लेना होगा कि उदीयमान पीढी के तर्क और उसकी सहजमति के आगे जैनधर्म का क्रियाकाण्ड कितना टिक पायेगा और कितना नही? हमे स्पष्टतया जैनधर्म की मौलिकताओ को उपस्थित पीढी के सामने इस तरह कुछ परोसना चाहिये ताकि वह इसमे रुचि ले सके तथा उसकी प्रखर प्रज्ञा के आगे वे अविचल बनी रह सकें। समस्या लगभग वैसी ही है जैसी भगवान् महावीर के ज़माने मे कभी वह रही है। उस समय भी लोग धर्म के तर्कसगत और लोकोपयोगी रूप की तलाश मे थे, आज भी वे धर्म के उस रूप को खोज रहे हैं, जो उनकी मुरझायी/चोट खायी जिन्दगी को रोशनी दे सके, जो विज्ञान की तरह ही तर्कसगत हो, और जो तमाम वेहूदगियो से मुक्त हो। जैनधर्म को हमे इन कसौटियो पर कस कर ही उग रही पीढी के सामने पेश करना चाहिये। अभी स्थिति यह है कि हम स्वय ही नहीं जान पा रहे हैं कि जैनधर्म को किस शक्ल मे प्रस्तुत किया जाए ?

इन दिनो हमारी फ़ज़ा में विज्ञान-कथाओ की धूम है। विज्ञान-कथाओ के माध्यम से विज्ञान के भावी स्वरूप को सामने रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। विज्ञान जिस रफ्तार से और जिन भावनाओ, स्वप्नो, तृष्णाओ और लालसाओ की ज़मीन पर आज खड़ा है, क्या वह उस पर खड़ा रह कर मानव-मगल के हमारे चिरपोषित स्वप्न को पूरा कर पायेगा, या उसके हाथो हमारे सारे किये-कराये पर पानी फिर जाएगा ?

विज्ञान-कथाओ मे स्पष्टत कहा जा रहा है कि विज्ञान जिस रूप मे और जिस गति से दुनिया के क्षितिज पर आ रहा है, वह उसका आत्मघाती रूप है। वह जो जाल बुन रहा है, लगभग तय है कि वह उसी मे गुलाट खा जाएगा – बुरी तरह फँस जाएगा। 'सोवियत भूमि' के मार्च-अप्रैल १९८८ के अको मे ए देनेप्रोव की 'केंकडे द्वीप पर घूमते हैं' शीर्षक एक विज्ञान-कथा प्रकाशित हुई है, जो उन सारे खतरो के प्रति मानव-जाति को आगाह करती है जो उसे स्वय को निगल जाने वाले सिद्ध होगे। मानव-मगल को बाला-ए-ताक रख कर विज्ञान जो काम कर रहा है, उससे उसकी तमाम उपलब्धियो के ध्वस्त हो जाने का खतरा मँडराने लगा है वस्तुत विज्ञान ऐसे यन्त्र लगातार बनाता जा रहा है, जो स्वय की तरह के नये यन्त्रो की रचना करेंगे और आवश्यक खुराक न पाने पर मनुष्य को लीलने लग जाएँगे। विधाता-यन्त्रो के कारण विधाता-की-यह-सृष्टि जल्दी ही खतरो से घिर जाएगी, बल्कि कहिये, घिर चुकी है। अभिमन्यु की तरह हम चक्र-व्यूह भेद कर भीतर अपनी पहुँच तो बना लेगे, किन्तु बाहर निकलने का कोई उपाय हमारे पास नही होगा। यन्त्रो मे हम जिन सवेदनशील नसो को जन्म दे रहे हैं, उनका नतीजा वस्तुत यह हो रहा है कि मनुष्य की सवेदनशीलता निरन्तर/अनुपात मे नष्ट होने लगी है। हमे स्वय को इस बात का अनुभव होने लगा है कि मनुष्य की अपेक्षा यन्त्र अधिक सवेदनशील है। यन्त्र अपनी खराबियो, खामियो, और कमियो को बताने के लिए यथासमय स्पष्ट सकेत देते है, किन्तु मनुष्य ऐसा कर, या समझ पाने मे समर्थ नही है। मतलब यह है कि मनुष्य यन्त्रो के हवाले/अधीन होता जा रहा है और यन्त्र अब उसके नियन्ता/नियन्त्रक बनते जा रहे हैं इन विषमताओ के बीच हमे देखना है कि धर्म की क्या भूमिका हो सकती है, या इक्कीसवी सदी के द्वार तक पहुँचते-पहुँचते उसकी क्या स्थिति होगी? वस्तुत इस तरह की भविष्यत्-कल्पना किये बगैर कोई और मार्ग हमारे सामने नही है।

हमे इस सभावना की पूरी तत्परता मे खोजबीन करना है कि धर्म इस खतरनाक मोड पर मानव-मगल के लिए किस तरह कवच बन सकता है? वह जिस हालत मे हमारे सम्मुख है, क्या यह वह स्थिति है जिसमें वह विज्ञान द्वारा अनजाने उत्पादित खतरो से जूझ सकेगा, या हमे उसे इतना प्रखर बनाना होगा कि वह इन भयावहताओ/विषमातओ/आत्मघाती स्थितियो से हमारी रक्षा के लिए आगे आ सके? यदि हम आगामी पन्द्रह सालो मे इन सारी आशकाओ पर विचार करने से चूकते गये तो साफ है कि हम ऐसा कोई कवच नही बना पायेगे जो हमारी धार्मिक / नैतिक / चारित्रिक अस्मिता की रक्षा करने मे समर्थ हो।

गत दो-तीन दशको मे विज्ञान-कथाओ के माध्यम से विज्ञानी कथाकारो ने जो चेतावनियाँ विश्व को दी हैं, उन्हें हम दृष्टि से ओझल नही कर सकते। विज्ञान पुनरुत्पादक यन्त्रो द्वारा यन्त्र-प्रजनन/सततिकरण की जिस तरह पहल कर रहा है, वह घातक है । जिस तरह हम परिवार-नियोजन को मनुष्य-समाज पर लागू कर रहे है, ताज्जुब नही इसी तरह का कोई उपाय हमे एक-जैसी मशीनें पैदा करने की विधा/तकनीक पर भी लागु करना पडे । यदि हमने विज्ञान की प्रगति के सामानान्तर नैतिक/आचरिणक प्रगति नही की तो हमारा सामाजिक सतुलन लडखडा जाएगा और फिर हम कही के नही रहेंगे । यह निराशात्मक दृष्टिकोण नही है वरन वस्तुस्थिति को परखने का एक यथार्थवादी तरीका है । हम आने वाले खतरो से भयभीत न हो, किन्तु उन सारे उपायो की जाँच-पडताल अवश्य करे जिनके द्वारा हम उनमे जूझ सकते हो अथवा जिनके द्वारा हम इस घातकता को काट सकते हो ।

जिस तरह का हमारा रवैया है उसे देखते ऐसा लगता है कि आने वाले पन्द्रह वर्षों मे हम सपदा तो बेहिसाब खर्च करेंगे, किन्तु वहाँ नही, जहाँ उसे खरचने की ज़रूरत है बल्कि वहाँ जहाँ उसका कोई उपयोग नही है । लोग गरीबी और अभावो के शिकजे मे कराहते होंगे और हम ऐसे साधनो पर अपना धन पानी की तरह बहा रहे होंगे जहाँ किसी भी हालत मे नही बहाना चाहिये। वास्तव मे हमे अपने धन-विनियोग को इस तरह कुछ नियन्त्रित/समानुपातिक बनाना चाहिये ताकि हम आने वाले खतरो के लिए कोई स्पष्ट वैचारिक कवच तैयार कर सकें और 'मनुष्य' को बचाने की कोई कारगर कोशिश कर सकें । जब तक हम धर्म-की-आध्यात्मिकता की रक्षा करने के लिए पूरा यत्न नही करेंगे,तब तक प्रभावशाली कुछ हमारे द्वारा हो पायेगा, इसमे हमे भरपूर सदेह है ।

लगता है धर्म – यहाँ जैनधर्म – को ले कर सामाजिक निरक्षरता अनवरत बढती जाएगी । हम समारोहो के प्रति जागरूक रहेंगे, उनमे अधिक रुचि लेंगे, किन्तु जिस विवेक/जागरूकता को हमे समाज मे लाना/जगाना चाहिये उसके प्रति हम ग़ाफिल रहेंगे नतीजतन हम जैनधर्म की मौलिकताओ के प्रति अपनी समझ लगातार खोते जाएँगे और आश्चर्य नही कि हम इक्कीसवी सदी के दरवाजे तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें बिलकुल ही गँवा बैठें । यदि ऐसा हुआ तो हम कहने को जैन होंगे, होंगे कतई नही । आप क्या सोचते हैं कि यह कोई छोटी-मोटी बदकिस्मती होगी ।

इसलिए हमे चाहिये कि इन डेढ दशको के दौरान हम प्राप्त तकनीको और वैज्ञानिक दक्षताओ का भरपूर/सविवेक इस्तेमाल करें और जैनधर्म की मौलिकताओ को, उनके वैज्ञानिक और तर्कसगत स्वरूप को दुनिया के सामने लायें ताकि उन सभावनाओ को परिपुष्ट किया जा सके जिन्हें हम विश्वशान्ति दिश

धर्म और विश्ववन्धुत्व जैसे नामो से जानते है । जो भी अभिव्यक्ति के माध्यम हमारे सामने हो उनका हमे पूरे विवेक, पूरी होशियारी और भरपूर समझदारी के साथ उपयोग करने की कोशिश करनी चाहिये ।

आगे चल कर हम जैनाचार की उन सभावनाओ पर विचार करेंगे जो इक्कीसवी सदी के आरभ होने पर हमारे सामने होगी। असल मे हमारे कदम – विज्ञान के कदम – इतनी गति से उठ रहे है कि धर्म और अध्यात्म उसके साथ हमकदम होने मे हॉफने लगे है, क्या हमे धर्म/अध्यात्म को नयी स्फूर्ति दे कर विज्ञान मे आगे नही ले जाना होगा ?

(४)

पिछले तीन लेखो मे हमने जैनधर्म के ढॉचे मे सभावित परिवर्तनो पर विचार किया है, सोचा है कि जव चारो ओर इमारतो के बियावॉं जगल खड़े हो रहे है, तव यदि इमरत (अमृत) हमारी मुट्ठी मे-से खिसक जाए, अजुलि मे-से रिस जाए तो कोई ताज्जुब नही है । अनुमान है कि आने वाली सदी मे हमारे चरित्र की इमारत वेहद कमज़ोर हो जाएगी और हमारे इर्द-गिर्द ईंट, पत्थर, लोहे, सीमेट की इमारतो की आबादी बढ जाएगी । वस्तुत होगा यह कि बौद्धो की हालत किसी जमाने मे जो हुई थी, इक्कीसवी शताब्दी मे जैनो की भी वही/वैसी हो जाएगी । जैनधर्म के समृद्ध अवशेष यत्रतत्र मौजूद होगे, जैन नही होगे, यदि होगे भी तो जैनत्व-रहित । बौद्धो की भव्य/विशाल इमारतें आज हैं, किन्तु बौद्ध नही है, ठीक इसी तरह जैन होगे, जैनाचार नही होगा, वह नाम-शेष होगा। जब इस तरह की आशका हमे लगातार दीख पड रही है, तब सवाल है हम चौकस/खबरदार क्यो नही होते ? क्यो ऐसा नही है कि हम आने वाले खतरो के प्रति सावधान हो जाएँ ? क्या यह उचित नही होगा कि हम इमारतो की जगह जीवन के असली अमृत को खोज़ आरभ कर दे ? क्या हम क्रिया-काण्डो मे लौटने की जगह अपने मूलाचार मे वापसी का सफर शुरू नही कर सकते ?

यह उपयुक्त क्षण है जब हमे श्रमणाचार और श्रावकाचार से सबन्धित जो ग्रन्थ हमारे पास है, उनके परिवर्द्धित/पुनरीक्षित सस्करणो पर विचार करना चाहिये। यह बहस सर्वथा निराधार और सारहीन होगी कि "दशवैकालिक", "मूलाचार", "अनगार धर्मामृत" "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" जैसे ग्रन्थो पर पुनर्विचार करें या नही ? क्या इन/ऐसे मुद्दो पर व्यापक बहस की ज़रूरत है ? क्या हाथ कगन को आरसी चाहिये ? क्या उपस्थित सन्दर्भो मे हमे श्रमणाचार/श्रावकाचार पर विवेकपूर्वक विचार नही करना चाहिये? अपेक्षया इसके कि सपूर्ण आचार वक्त की चोट खा कर खत्म हो, हमे ऐसे आचरणीयो को चुन-छॉंट लेना चाहिये जिनसे जैनधर्म की मौलिकताओ की रक्षा हो सके और उसकी अस्मिता के इर्द-गिर्द एक अमोघ

रक्षा-कवच बनाया जा सके। हमे बहुत साहस के साथ वर्तमान साधुता और श्रावकता की वस्तुनिष्ठ जाँच-परख करनी चाहिये। इस सिलसिले मे इस बात की चिन्ता हमे कतई नही करनी है कि कौन बुरा मानेगा, कौन भला, बल्कि हमे यह देखना होगा कि हमारे आचारधर्म की भावी/प्रासगिक/सार्थक/जैनधर्म की मौलिकताओ से जुडी शक्ल क्या होगी ? मूल से छिन्न होने पर तो डाल-पात सब सूख-मुरझ जाएँगे इसलिए मूल से टूटने-हटने का तो कोई प्रश्न ही नही है, प्रश्न है उस खरपतवार की सफाई का जिसने हमारी आचारगत उपयोगिताओ और सार्थकताओ को नष्ट या विकृत कर दिया है और वात इस हद तक आ पहुँची है कि अव हमारी मूल पूंजी ही खतरे मे आ गयी है।

ऐसे मे हमे जैनाचार के मूलभूत सिद्धान्तो को निर्देशक सिद्धान्तो के रूप मे मशाल की तरह प्रतिपल आँखो के सामने रखना चाहिये। तय है, हमे यह देखना होगा कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी (प्रौद्योगिकी) ने कौन-कौन-सी सुविधाएँ और असुविधाएँ हमारे सामने ला खडी की हैं ? यातायात के साधन विकसित हुए है, मीडिया का वेइन्तहा और तीव्रगामी विकास हुआ है, लोभ-लालच बढ गये हैं, अत हमारे भीतर वासना का जो सूक्ष्म वीज जन्मान्तर से वना हुआ है वह अँकुराने लगा है। परिग्रह की अन्तहीन सभावनाएँ – भयावह – सामने आ खडी हुई है। "दशवैकालिक" मे जिन वावन अनाचीर्णों की चर्चा की गयी है, उनमे-से कई आज आचीर्ण हो गये हैं। ऐसे मे क्या यह सभव है कि प्रबुद्ध/सहिष्णु श्रावको का कोई सम्प्रदायातीत दल सारे देश का दौरा करे और यह देखे कि "दशवैकालिक" और "मूलाचार" की स्थिति आज क्या है ? यदि "मूलाचार" की गाथाएँ और "दशवैकालिक" के अध्ययनो को चोट लगी है, तो क्या हमारा यह फर्ज नही है कि हम इन आचार-ग्रन्थो के आधार पर जैनधर्म की मौलिकताओ को दृष्टि मे रखते हुए "नवमूलाचार" और "नवदशवैकालिक" का आविर्भाव करें ? हमे लगता है दम सायकाल इस अनिवार्यता के खाते मे अवश्य डाले जा सकते हैं। इसमे किसी के भयभीत/आतकित होने की आवश्यकता नही है, जो भी है वह वदली हुई परिस्थितियो का स्पष्ट जायजा लेने के लिए और एक सामयिक/सार्थक सर्वेक्षण के निमित्त है।

इधर-उधर भारतीय विश्वविद्यालयो मे जैनपीठें स्थापित करने और भारी-भरकम/खर्चीले सम्मेलन करने, वडे-वडे तीर्थ और सग्रहालयो की स्थापना करने, अभिनन्दन-ग्रन्थो/स्मारिकाओ/स्मृति-ग्रन्थो आदि के प्रकाशन की अपेक्षा यदि हम जैनाचार पर विस्तृत-गहन अध्ययन के साथ उसकी शब्दश समीक्षा करते है और कोई सर्वसम्मत निर्णय लेते हैं तो यह एक वहुत वडा कार्य होगा। क्या यह अच्छा नही होगा कि हम उक्त ग्रन्थो का गहन अध्ययन करें और फिर उनकी विषय-वस्तु की प्रासगिकता पर ग्रुप-डिस्कसन करें तथा उसकी मैदानी स्थिति की जाँच

करे ? बड़े-बडे आयोजनो की अपेक्षा अब हमे विनम्र और छोटे कद के बौद्धिक आयोजनो की आवश्यकता है, ऐसे आयोजनो की जो साधुओ और श्रावको के आचार-धर्म की समकालीन सन्दर्भो मे बेलाग समीक्षा करते हो और नवाचार के लिए प्रयत्नवान हो । क्या हम/इन/ऐसी सभावनाओ पर अपने सारे जरूरी काम छोड कर बिना किसी दहशत के विचार नही करना चाहेगे ?

इस मुद्दे पर हमे दो तरह से विचार करना होगा एक – ऐसी स्थितियो को जो तत्कालीन समाज के लिए सार्थक थी और अब निरर्थक है, खारिज कर दे । दो – ऐसी स्थितियो को जो जैन धर्म/दर्शन के चिरन्तन मूल्यो से सबन्धित है और आज भी प्रासगिक है, पूरे बल के साथ आधुनिकतम भाषाशैली मे व्याख्यायित करें। मानिये, यदि हमने ऐसा नही किया तो हमे पूरी तीव्रता से अनुभव करना चाहिये कि आने वाली सदी मे 'जैन तो होगे जैनत्व नही होगा' जैसा कि आज हम भारतीय है, किन्तु हममे से अधिकाश भारतीयता से रिक्त है, इसी तरह यदि हमने किसी रिनेसाँ के दबाव को इस क्षण महसूस नही किया तो हम जैन तो होगे, किन्तु जैनत्व से खाली होगे । यह स्थिति काफी दयनीय होगी ।

कई दृष्टियो से जैन समाज को आज एक व्यापक पुनर्जागरण (रिनेसाँ) की आवश्यकता है। धार्मिक दृष्टि से ही यदि हम ले तो हमे प्रतीत होगा कि हम धर्मान्ध तो है, किन्तु आध्यात्मिक नही है । जैनाध्यात्म और जैनधर्म को जबकि समानान्तर चलना था मुश्किल यह हुई है कि जैनाध्यात्म निस्तेज हो गया है या मात्र चर्चा/स्वाध्याय का विषय रह गया है और धर्म सिर्फ शब्द रह गया है । वस्तुत अध्यात्म धर्म की अन्तर्मुखता का नाम है । आज यह अन्तर्मुखता अनुभव की जगह मात्र वहम और सघर्ष की चीज़ रह गयी है, या फिर उसने किताबी शक्ल ग्रहण कर ली है । ऐसे मे क्या हम उस पुनर्जागरण की प्रक्रिया मे नही आ सकेंगे जिसमे जैनाध्यात्म की निर्मल वापसी होगी और साधु/श्रावक दोनो जैनधर्म की प्राणधारा के पोषण मे तत्पर हो जाएंगे इमारतो और कम्युनिटी हॉलो के निर्माण का स्वप्न छोड कर ?

आज नैतिक रिनेसां का दबाव भी हममे से हर एक महसूस करता है । हम जानते हैं कि बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जैन नीतिशास्त्र की काफी धज्जियां उडी है । जैनो को जिस नीतिशास्त्र/आचारधर्म का जीवन्त प्रतीक माना जाता था उन्ही का अपने हाथो आज अध पतन हुआ है ? क्या नही हुआ है जैनो के हाथो विगत बीस-तीस सालो मे ? । तस्करी, करापवचन, प्रदूषण, हिंसा, कत्ल, मिलावट, आपसी खून-खराबा इत्यादि सारी चारित्रिक गिरावटें तो एक-के-बाद-एक दुनिया के सामने आयी है । ऐसी कौन-सी आपराधिकता शेष है, जिसके साथ जैनो का नाम नही जुडा है ? खान-पान को ले कर भी हम गिरे है । हिंसा, झूठ, चोरी,

परिग्रह, असयम – आज ऐसी चुनौतियाँ हैं, जिन्हें हमे पूरे विवेक के साथ झेलना था और जन-जीवन के सामने उत्कृप्ट उदाहरण बन कर जीना था, किन्तु हम "जैन" नही रहे, हमारा इस कदर सामान्यीकरण हुआ और हम इस तरह बुराइयो/व्यसनो के शिकार हुए कि लोक पूरे समाज को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे । सस्कारवश पूरी फसल चौपट नही हुई, किन्तु जो धक्का हमे लगा है उसमे उवर पाने मे काफी समय लगेगा । इन सारे हालातो को देखते क्या हम नैतिक रिनेसाँ की दिशा मे इस सदी के अस्त होने से पूर्व कोई ठोस कदम नही उठा पायेंगे ? क्या हम इतिहास मे इस सब को दर्ज होने देंगे ? क्या हम कालचक्र को रोक नही पायेंगे ? हमे चाहिये कि दीपक की लौ कम हो इससे पहले अपने चरित्र के दीये मे निष्ठा और अप्रमत्तता की स्नेहधार छोडे और अपनी खोयी जाती अस्मिता को नव-जीवन दें ।

इस बीच हमारा सामाजिक ढाँचा भी चरमराया है । धन-सपदा ने हम पर वेतरह छाना शुरू किया है । विवाह-सस्था की स्थिति काफी विगडी है। कई उदाहरण ऐसे सामने आये हैं, जिनमे हमारा सिर शर्म मे झुक गया है। धन के लालच मे हमने ऐसे कुछ कार्य किये हैं, जो जैनाचारोचित नही है । असल मे स्त्री-शक्ति को जगाने की जगह हमने दवाने का प्रयत्न किया है। इस शक्ति का विशिप्ट उपयोग करने की जगह हमने इसे अन्य समाजो की ओर मोड दिया है। कई जैन महिलाएँ अन्यत्र काम कर रही हैं और जैन समाज उनकी प्रतिभा से वचित है। इस तरह जैन समाज की पारिवारिक रमणीयता भी समाप्त होने को है । हम देख ही रहे हैं कि जैन गृहस्थ की जो छवि थी 'इमेज' थी वह लगभग ध्वस्त हो गयी है। जिस सादगी, समर्पण और त्याग के वलवते हम दुनिया के सामने अपना मस्तक ऊँचा किये हुए थे, वे पता नही कहाँ लुप्त हो गये हैं? हमे यत्न करना होगा कि जैन स्त्री-शक्ति मैदान मे आये और रिनेसाँ की रीढ वने, आने वाली पीढी की वागडोर वह अपने हाथ मे ले, वह आगे आये और हमारी लुप्त होती अस्मिता को सहारा दे ।

शाकाहार की ओर भी हमे पूरा ध्यान देना होगा ताकि जनजीवन के तल पर हम अहिसा की रक्षा कर सकें । आश्चर्य है आज जब कि पश्चिम के मुल्क शाकाहार की महत्ता/उपयोगिता को पहचान रहे हैं, हमारी किशोर और युवा-पीढी उसे गौरव के साथ महत्त्वहीन कर रही है । शाकाहार के मूल्यो को हमे सामाजिक पटल/स्तर पर जगाना चाहिये और ऐसा वातावरण वनाना चाहिये कि करुणा का शासन फिर एक वार लौट सके । इससे पारिस्थितिकी (ईकॉलॉजी) को पुन-रुज्जीवन मिलेगा और प्रकृति का स्खलित सन्तुलन सँभाला जा सकेगा ।

सास्कृतिक दृष्टि मे भी इस सदी के साँझ तक पहुँचने से पूर्व हमे कुछ काम कर लेने चाहिये । सास्कृतिक पुनर्जागरण (कल्चरल रिनेसाँ) की दृष्टि से हमे

सबसे पहले अपने इतिहास की परिशुद्धि करनी चाहिये । देखना चाहिये कि जैन धर्म/दर्शन को ले कर इतिहासवेत्ताओ ने कहाँ-कहाँ भूलें की हैं तदनन्तर जैन इतिहास के पुनर्लेखन की दिशा मे कोई पुख्ता कदम उठाना चाहिये । अधिकाश कोशो, विश्वकोशो और इतिहास-ग्रन्थो मे जैन धर्म की प्राचीनता को ले कर काफी कुछ भ्रामक छपा हुआ है, इसे हम हटायें/हटवायें । इतिहासवेत्ताओ के हाथ मे उन सारी प्रामाणिकताओ को पहुँचाये जो उक्त तथ्यो को अकाटय बनाती हैं । इस सदर्भ मे हमारा ध्यान मोहन-जो-दडो की खुदाई मे मिले अवशेषो की ओर जाता है । इन अवशेषो मे जैनत्व के प्रामाणिक/परिपक्व सकेत मिले है । इन सारे प्रागैतिहासिक/पुरातात्त्विक तथ्यो का आकलन और व्याख्यान होना चाहिये ताकि इतिहासिक विवरणो को अधिक प्रामाणिक बनाया जा सके तथा चली आ रही भ्रान्तियो का उन्मलन हो सके । इसके अलावा भी नयी खोजो से जो तथ्य प्राप्त हुए हैं, उन्हें भी पूरी सावधानी से आकलित करना चाहिये ताकि सम्पूर्ण जैन इतिहास का पुनर्लेखन सभव हो सके ।

एक और क्षेत्र ऐसा है जिसकी ओर हमारा ध्यान बिलकुल नही है । जैन धर्म की शिक्षा की ओर हमारी कोई तवज्जह नही है । हमारे पुरखो ने तत्कालीन सन्दर्भो मे जिस तरह जैन शिक्षा को मन्दिरो/स्थानको/उपाश्रयो मे जमाया था, उसे हम अपनी आँखो के सामने लगातार उखड़ता देख रहे हैं । न तो हमारे पास अच्छे अध्यापक है और न ही अध्ययन के वैज्ञानिक/सुविकसित साधन/उपकरण जिनके माध्यम से हम सभी वय-समुदायो के लिए जैनधर्म-की-शिक्षा को मुहैया कर सकें । हम बुनियादी धार्मिक और आचरणिक मूल्यो पर कोई ध्यान नही दे रहे है, देखादेखी हमारा ध्यान विश्वविद्यालयीन स्तर की शिक्षा की ओर बार-बार गया है, किन्तु वहाँ भी न तो हमारे पास अच्छे साधन है, न पाठ्यग्रन्थ, ऐसी कोई समृद्ध लायब्रेरी भी नही है, जहाँ बैठ कर देश-विदेश के जिज्ञासु जैन धर्म/दर्शन का अध्ययन कर सकें । इस क्षेत्र मे जो भी छिटपुट प्रयत्न हुए हैं वे इतने महत्त्वाकांक्षी और दीर्घावधिक हैं कि जल्दी ही उनका कोई फल सामने आयेगा इसकी सभावना नही है, अत यह एक ऐसा मैदान है जिसमे हमे विज्ञान के आविष्कारो का भरपूर उपयोग करना चाहिये ।

एक इलाका जैनाचार्यो द्वारा प्रतिपादित उन तथ्यो का है जो वैज्ञानिक तो हैं, किन्तु जिन्हें प्रयोगशाला मे पुष्ट नही किया जा सका है । यह नही कि जैन समाज के पास अच्छे चिकित्सक, औषध-विज्ञानी, गणितज्ञ, भौतिकी-वेत्ता, रसायन-शास्त्रज्ञ, जीव-विज्ञानी और वनस्पति-शास्त्री नही हैं, है, किन्तु सब रूठ कर या तो विदेश चले गये हैं या भारतीय विश्वविद्यालयो मे रोटी-रोजी से जा लगे है—समाज से उन्हें वह प्रतिष्ठा नही मिल सकी जिसके पात्र वे थे । क्या यह सभव नही है कि हम देश मे एक ऐसी सर्वसाधन-सपन्न केन्द्रीय प्रयोगशाला स्थापित करें

जिसमें जैन समाज के शीर्षस्थ वैज्ञानिको को पूरे सुविधा-साधन उपलब्ध कराये जाएँ और फिर उन सारे तथ्यो को जो 'तत्त्वार्थसूत्र'-जैसे ग्रन्थो तथा उसकी टीकाओ मे भरे पड़े हैं, पुष्ट किया जाए ? आहार और पेड़-पौधो/जीव-जन्तुओ को ले कर भी कई तथ्यो को पुष्ट करना ज़रूरी है। वनस्पति-जगत् को ले कर जो जानकारियाँ सामने आयी हैं, अभी तो जैनो के पास उनका व्यापक और परिपूर्ण सकलन ही नही है, पुष्टिकरण की पहल तो दूर की बात है। क्या हम वर्तमान शताब्दी के खत्म होने और इक्कीसवी सदी के आरभ होने से पहले ऐसा उल्लेखनीय कुछ कर पायेंगे जो हमारी अस्मिता की रक्षा कर सके।

(५)

आज जबकि हम इक्कीसवी शताब्दी के प्रवेश-द्वार पर खड़े हैं, हमे चाहिये कि धर्मतन्त्र की स्पष्ट और बेलाग समीक्षा करें। धर्मतन्त्र के निर्मापक तत्त्व हैं— दर्शन, अध्यात्म, नीतिशास्त्र, चतु सघ (समाज), व्यक्ति। हमे चाहिये कि हम इनमे-से हर एक पर विचार करें और देखें कि विगत के सदर्भ मे इन सब के अनागत क्या हो सकते हैं— अन्य शब्दो मे हम इस तथ्य की खोज-बीन करें कि इनका 'कल' क्या था और 'आगामी कल' क्या होगा ?

दर्शन किसी भी धर्म का बुनियादी ढाँचा बनाता है। धर्म और दर्शन का सदा से बहुत घनिष्ठ सबन्ध रहा है। इस दृष्टि से हमे दर्शन और धर्म के लगातार टूटते रिश्तो की फिक्र करनी चाहिये। दर्शन स्वय मे अत्यन्त शुष्क, उबाऊ, और नीरस अस्तित्व है, देखा जाए तो आम आदमी की उसमे कतई/कोई दिलचस्पी नही है, किन्तु निर्विवाद है कि यदि वह न हो तो धर्म का समग्र तन्त्र तार-तार बिखर जाएगा। दर्शन, हम जानते हैं, हमे वस्तु-स्वरूप के निकट ले जाता है, वस्तुत उसी की पृष्ठभूमि पर हम पुख्ता, तर्कसगत, और सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय धर्मों का विकास दार्शनिक ज़मीन पर ही हुआ है। जैनदर्शन के बिना, इसीलिए, हम जैनधर्म तक अपनी तर्कसगत पहुँच नही बना सकते। दर्शन का दायित्व है कि वह वस्तु-स्वरूप को जानने मे धर्म की पूरी-पूरी मदद करे।

धर्म के जिस इलाके मे आम आदमी की रुचि है, वह है क्रियाकाण्ड, तन्त्र मन्त्र, पूजा-पाठ इत्यादि। इन सबकी पृष्ठभूमि पर हृदयतत्त्व काम करता है। दर्शन का आधार बुद्धि और तर्क है, क्रियाकाण्ड का भय, भक्ति, भावना, और मर्यादा है। ज़रूरी है कि इस क्षण जबकि हम अन्तरिक्ष मे नगर डालने (स्पेस कॉलोनीज) पर विचार कर रहे हैं, क्रियाकाण्ड के सपूर्ण ढाँचे का सावधान विश्लेषण किया जाए और उसकी उपयोगिता की निष्पक्ष छानबीन की जाए। प्रश्न उठेगा कि जोखिम के इस काम को करे कौन ? बिल्ली के गले मे कौन चूहा-नेता घटी बाँधे ? यह अपरिहार्य है और यदि हमने समय के इस बिन्दु पर इसे नही किया तो

स्वय सारे सूत्र अपने हाथ मे ले लेगा और उभर आये/उभरते आ रहे तमाम अन्तर्विरोधो को समायोजित कर देगा । समय का काम ही यह है कि वह व्यर्थताओ को उनकी पराकाष्ठा तक ले जाए और किसी क्षण शिखर-पर से नीचे की ओर धकेल दे, अत क्रियाकाण्ड से सबद्ध सारी व्यर्थताओ की हमे कडो/सूक्ष्म जाँच-परख करनी चाहिये और उसके निर्मल/अध्यात्म-सगत रूप को प्रकट करना चाहिये ।

इसी तरह चतु सघ (अनुयायिवर्ग) के स्वरूप और उसके कर्तव्यो, उनके दायित्वो पर भी हमे समय-रहते गहराई से विचार कर लेना चाहिये । चतु.सघ सब जानते है चार इकाइयो का एक सुसगत समूह है, ये है श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका । साधु कैसा हो, साध्वी कैसी हो, श्रावक कैसा हो, श्राविका कैसी हो – इत्यादि पर जैनागम मे तफसीलवार विचार हुआ है, तथापि इनके स्वरूप और इनसे सबन्धित वर्णनो का अध्ययन करते समय हमे तत्कालीन सदर्भों की अनदेखी नही करनी चाहिये । विश्लेषण की प्रक्रिया मे हमे देख लेना होगा कि कल, आज, और आने वाले कल के सदर्भ क्या थे/क्या है/क्या होगे ? इन तीनो पर ध्यान दिये बगैर यदि आँख मूंद कर हमने कोई काम किया, या फैसला लिया तो वक्त हमारी इस भूल को कभी मुआफ नही करेगा ।

साधु-साध्वी/श्रावक-श्राविका के नवागत सदर्भों की सजग छानवीन/समीक्षा करते हुए हमे उनकी भूमिकाओ के निर्धारण का काम भी पूरी तात्कालिकता मे कर डालना चाहिये । यह एक ऐसी चुनौती है, जिसे समुचित उत्तर देने के लिए हमे अविलम्ब अपनी कमर कस लेनी चाहिये ।

समाज और धर्म को अलग-अलग देखना सभव नही है । ये दोनो काफी घनिष्ठता मे सबद्ध रहे हैं । इतिहास गवाही है कि धर्म ने समाज और समाज ने धर्म के मैदानी रूप को सदैव नियन्त्रित और प्रभावित किया है, किन्तु आज स्थिति यह है कि धर्म ने नियन्त्रकता खो दी है और समाज के बहुत सारे ऐसे तत्त्व जो अनैतिक/अनचाहे हैं धर्म को नियन्त्रण मे लिये हुए हैं – लेते जा रहे है । एक समाजशास्त्री की दृष्टि से हमे बीसवी सदी मे हुए इस बदलाव की सावधान समीक्षा करनी चाहिये और देखना चाहिये – तय भी करना चाहिये – कि आने वाली सदी मे धर्म और समाज के क्या रिश्ते होगे ?

धर्म को, फिर चाहे वह जो हो, इस क्षण कई चुनौतियो का सामना करना पड़ रहा है । सब मे पहली चुनौती भौतिकताओ की बढत से उत्पन्न निर्जीव/सवेदनशून्य यान्त्रिकता की है । व्यक्ति का जीवन क्रमश यन्त्रो के नियन्त्रण मे चला जा रहा है । वैज्ञानिको का अनुमान है (काम शुरू भी हो गया है) कि इक्कीसवी सदी का समाज कागज़-स्याही-विहीन समाज (पेपरलेस सोसायटी) होगा । मनुष्य को कागज़ की ज़रूरत नही होगी । सगणको की मेमरी और टीवी के पर्दे उसकी

तमाम जरूरतों को पूरा कर देंगे । हमारे वेष्टन मे लिपटे शास्त्र और मजिल्द/खूबसूरत ग्रन्थ व्यर्थ हो जाएंगे । हम सब जानते हैं कि मुद्रण की दृष्टि मे पश्चिम के मुल्क लेटरप्रेस-के-ढांचे को छोड फोटो-टाइप-सेटिंग की प्रक्रिया और मानसिकता मे आ चुके हैं । वहां मुद्रण-प्रविधि का बहुत गतिपूर्ण विकास हुआ है । इस तरह मैकेनाइजेशन शास्त्रों की शक्ल ही बदल देगा । हमारा दैनंदिन धार्मिक जीवन भी लगातार मशीनीकरण की ओर झुकता जाएगा ।

यन्त्रीकरण जहाँ एक ओर समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है, वहीं दूसरी ओर वह हानिकर भी साबित हुआ है। मनुष्य के सुविधाभोगी हो जाने के कारण उसमे प्रमाद बढे है, निरन्तर बढते जा रहे हैं। जिसे हम साधना, या तप कहते हैं, संभव है मशीनो के कारण उसके स्वरूप मे भी कोई बदलाव आये । यह तो निश्चित ही है कि हमारे सरस्वती-भाण्डारो का परम्परित ढांचा अब बदल जाएगा, हमे उसे बदल डालने की मानसिकता भी अब बना लेनी होगी (बना लेनी चाहिये) । जिस तरह आज से कुछ दशक पहले हस्तलिखित शास्त्रों की प्रामाणिकता और पावनता बनी हुई थी, कुछ वर्षों बाद छपी हुई किताबें भी उसी स्थिति मे आ जाएँगी । इक्कीसवी सदी में इस स्थिति मे और-और अप्रत्याशित परिवर्तन भी हो सकते हैं । लोग अखबार भी अब टीवी के पर्दे पर पढने लगे हैं । टीवी-अखबार अस्तित्व मे आ गया है। हमे टीवी-शास्त्र के लिए तैयार हो जाना चाहिये ।

इस बढती हुई यान्त्रिकता का सब मे बडा कुप्रभाव होगा, बढती हुई औपचारिकता । हम देखेंगे कि आत्मीयता लगातार घटती जाएगी और मनुष्य-के-मनुष्य-से-सबन्ध सिर्फ औपचारिक रह जाएँगे (इस संदर्भ मे 'सम्यक्त्व' के 'वात्सल्य' अंग पर विचार करें) । मानवीय सबन्ध काफी बड खतरे मे पड जाएँगे, इस दृष्टि मे समाज को तमाम गार्हस्थिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक सबन्धो को पुन परिभाषित करना होगा । जैन समाज भी इस चुनौती से बच नहीं पायेगा । साधु-साध्वी/श्रावक-श्राविका के बीच के रिश्तो की इबारतें फिर से देने का दबाव निरन्तर बढेगा । आदमी की जिन्दगी बेहद औपचारिक (फॉर्मल) हो जाएगी । जीवन के ललित-नैतिक मूल्यो को कई अप्रत्याशित चुनौतियो से टकराना होगा ।

एक चुनौती बढते हुए मासाहार की होगी । जहाँ पश्चिम के देश कई कारणो से मासाहार से बचने की कोशिश करने लगे हैं, वही भारतीय समाज साम्प्रतिक उत्तेजना मे मासाहार को गले लगा रहा है । भारत मे मास-अडे-मछलियो की खेती होने लगी है । यह पश्चिम की नकल है । बढेगी । यह एक ऐसी चुनौती है जिसका तुरन्त और सावधान मुकाबला न करने पर हमारा बुनियादी ढांचा ढह जाएगा । यदि कहा जाए कि उसने ढहना शुरू

दिया है, तो यह अत्युक्ति नही होगी। विज्ञान के आहार-सबन्धी निष्कर्षों का लाभ ले कर जैन समाज को खानपान की इस घिनौनी चुनौती का जम कर मुकाबला करना चाहिये।

कहा जाता है कि मधुमेह (डायबीटीज़) का इन्सुलीन के अलावा अन्य कोई उपचार नही है, उस इन्सुलीन के अलावा जिसे एक पौंड तैयार करने मे १० हजार सूअरो की जानें जाती हैं। इन्सुलीन सूअर के अग्न्याशय (पेंक्रियाज़) मे स्थित ग्रन्थियो मे-से प्राप्त किया जाता है, किन्तु जयपुर विश्वविद्यालय की पादप-शरीर-विज्ञान और जैव रसायन-शाला की डॉ पुष्पा और उनके सहयोगियो ने करेले के अर्क से मधुमेह की औषधि तैयार की है, जिसे 'पोलिपेप्टाइड-पी' नाम दिया गया है। डॉ खन्ना का विश्वास है कि आगे चल कर करेला मधुमेह की तमाम औषधियो का अचूक स्रोत बन जाएगा।

इसी तरह राजकोट के नौतमलाल सी तेजपाल ने दावा किया है कि पान-बेली के इस्तेमाल से पेंक्रियाज सक्रिय हो जाता है और आवश्यक मात्रा मे इन्सुलीन पैदा करने लगता है। इस किस्म के प्रयोगो द्वारा कई हिंसक/मासाहारी स्थितियो से बचा जा सकता है। क्या हम इस तरह के प्रयोगो के लिए कोई केन्द्रीय प्रयोगशाला स्थापित करने की स्थिति मे नही हैं ? न सही, इतना तो कम-से-कम कर ही सकते हैं कि एक ऐसा केन्द्रीय सूचना अभिकरण बनायें जो शाकाहारी प्रयोगों की सफलताओं का प्रचार-प्रसार करे। जैनधर्म का मूल आधार है अहिंसा, अत हमे मासाहार की चुनौतियो का सामना चिकित्सा, व्यापार, खानपान, शृंगार-प्रसाधन, रोजमर्रा के काम मे आने वाली वस्तुओ, तथा सीधे मासाहार के उपयोग से होने वाली हानियो को सामने ला-रख कर करना चाहिये।

शिक्षा का इलाका भी चुनौतियो से खाली नही है। जैनधर्म की शिक्षा को तो बाला-ए-ताक रखिये, जहाँ आगामी जैन पीढी लौकिक शिक्षा प्राप्त करती है, उन सस्थानो और अभिकरणो, उन पाठ्यक्रमो और उनसे सबन्धित अध्यापन-शैलियो की भी खुली समीक्षा हमे करनी चाहिये। गृह-विज्ञान का क्षेत्र हमारी आगामी पीढी के लिए एक गम्भीर चुनौती है। मध्यप्रदेश के माध्यमिक शिक्षा-मण्डल ने इन्दौर की एक शिक्षा-सस्था को गृह-विज्ञान के लिए इस वजह से मान्य नही किया चूँकि उसने मासाहार की स्थिति को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है। शाकाहारी मानसिकता के सम्मुख इस तरह की गभीर चुनौतियाँ चारो ओर हैं, जिनका डट कर मुकाबला किया जाना चाहिये। नगर के बीचोबीच चल रहे अवैध कत्लखानो तथा मासाहार की दुकानो का चलना स्वय-मे एक बड़ी चुनौती है। अखबारो और अन्य प्रचार-माध्यमो से, जो शाकाहारियो के कर से भी चलाये जाते हैं, मासाहार की पीठ इस तरह थपथपाना शाकाहारी मानस के लिए दुस्सह है। भारत एक शाकाहार-बहुल मुल्क है, अत उसकी मानसिकता

का ध्यान रख कर ही सरकारो को और सार्वजनिक सस्थानो को कोई कदम उठाना चाहिये। जैनो का तो सारा ढांचा अहिंसा यानी शाकाहार पर खडा है, अत. सारा काम छोड कर हमे इक्कीसवी सदी के प्रवेश-द्वार पर मँडरा रहे इस खतरे का सामना करना चाहिये। देखना यह है कि इक्कीसवी सदी के आरम्भिक दशको मे शाकाहार और मासाहार के वीच होने वाली रस्सा-कशी मे विजयी कौन होता है?

मामने खडी, या आने वाली पीढी की तर्कशक्ति का मुकावला भी धर्म को करना पडेगा। अब यह मुश्किल ही होगा कि उदीयमान पीढी को आज्ञा-के-लहजे मे हम धर्म के परम्परित रूप को अगीकार कराये। हमे अब वडी मावधानी से धर्म को तर्क-की-धरती पर पूरी दृढता के साथ खडा करना होगा, धर्म के समूचे ढाँचे को तर्कसम्मत वनाना होगा ताकि हमारी समकालीन/आगामी पीढी उसे हँसते-हँसाते विना किसी विरोध के स्वीकार कर ले। विज्ञान का जिस गति मे विकास हुआ है, उसे देखते हमे धर्मशास्त्र की विगत तर्कमत्ता को पुनरुज्जीवित करना होगा, अर्थात अगले कुछ दशको मे हमारी यह कोशिश होगी (होनी चाहिये) कि जैनधर्म के तर्क-वैभव को हम नव्यतम भापाशैली मे गणित, विज्ञान और विकसित तकनीक के समर्थन के साथ प्रस्तुत करे।

एक चुनौती जैनो के प्रामाणिक और अविचल वने रहने की है। विगत दशको में हमने अपनी प्रामाणिकता को काफी क्षत-विक्षत किया है। इस दृष्टि से हम एक औसत आदमी के स्तर मे भी नीचे आ गये हैं। अपने व्यवहार-व्यवसाय और आजीविकोपार्जन मे तो हमने विवेक को लगभग तिलाजलि ही दे दी है, और मान लिया है कि घर-मदिर-दुकान तीनो अलग-अलग अस्तित्व है, अत हम घर मे कुछ, मदिर मे कुछ, दुकान-दफ्तर मे कुछ और ही है। हमे इस दुई को दूर करना होगा, क्योकि मात्र तर्कसगत हो कर ही हम धर्म-की-इमारत को टिकाये नही रख सकेगे, हमे अपने चरित्र-की-इमारत को भी एक मजवत नीव देनी होगी, यानी प्रामाणिकता, जिसे हम गँवा चुके है, को लौटाना होगा। यह काम यदि हम इक्कीसवी सदी के आरभ से पूर्व ही सपन्न कर लेते है तो फिर हमे अपने अस्तित्व की कोई खास फिक्र नही करनी चाहिये। याद रहे, अपनी प्रामाणिकता के कारण ही अव तक हम शेप रहे हैं, अन्यया कभी के मिट चुके होते। महात्मा गांधी-जैसे अत्याधुनिक व्यक्ति के शब्दो मे हमे साध्य-साधन की निर्मलता पर भरपूर तवज्जह देनी चाहिये।

खेद है हम अपने प्राचीन गौरव को दिनोदिन भूलते जा रहे है। ताज्जुब यह है कि हम खुद नही जानते कि जैनधर्म कितना पुराना है और किन-किन क्षेत्रो मे उसका क्या-क्या योगदान है? जो लोग इसे वेदकालीन कहते हैं, उनकी बात को हम सिर झुका कर मानते जा रहे हैं। विश्वकोशो और इतिहासिक दस्तावेजो मे जैनधर्म की प्राचीनता को ले कर कई भ्रान्तियाँ वनी हुई है, कदाचित् यह बहुत

कम लोग जानते हैं कि जैनधर्म ईसा से पाँच हज़ार वर्ष पुराना है । वेद ईसा-पूर्व तीन हज़ार के माने जाते हैं । मोहन-जो-दडो की खुदाई मे जो सामग्री प्राप्त हुई है उससे जैनों की प्राचीनता स्पष्टतया प्रमाणित होती है, अत ऐसे सारे तथ्यो को, जो इतिहास, पुरातत्त्व, कला, विज्ञान आदि से जुडे हुए है, हमे दुनिया के सामने लाना चाहिये, सिर्फ इन्हे लाना ही नही चाहिये अपितु इनकी गौरव-गरिमा का अहसास भी करना चाहिये। हमारे पाठ्यक्रमो मे – फिलहाल घरेलू ही – ताज़ा खोज से प्राप्त तथ्यो का समावेश होना चाहिये । इस कार्य के लिए भी एक अभि-करण को निरन्तर सक्रिय रखने की जिम्मेदारी मे हम बरी नही हो सकते ।

विज्ञान और धर्म – विशेषत जैनधर्म के, सबन्धो को निर्धारित करने का काम, आने वाले वर्षो मे हमे पूरी मुस्तैदी से कर डालना चाहिये। परमाणु-सिद्धान्त को ही हम लें । जो बात हम हज़ारो वर्षो मे कहते आ रहे हैं, वह वैज्ञानिको के ध्यान मे अब आ रही है । वैज्ञानिको ने 'समय' (टाइम) की जो इबारतें दी हैं उनकी तुलना जैन परिभाषाओ मे हम करें । खोजा गया है कि 'सीजियम-१३३ परमाणु' की आधारभूत अवस्था मे उसके अतिसूक्ष्म (हाइपर फाइन) स्तरो मे होने वाले ९,१९,२६,३१,७७० (नौ अरब उन्नीस करोड छब्बीस लाख इकतीस हज़ार सात सौ सत्तर) विकिरणो की अवधि एक सेकड के बराबर होती है। इस तरह सेकड को परिभाषित करने का यत्न किया गया है। जैनाचार्यों ने 'समय' को परिभाषित करते हुए लिखा है 'अतिशय सूक्ष्म क्रिया मे सयुक्त और सबसे जघन्य गति मे परिणत परमाणु का जो अपने अवगाहन-क्षेत्र के लाँघने का काल है उसका नाम समय है' । इसी तरह 'जिस आकाश प्रदेश मे परमाणु स्थित है उसके लाँघने मे उसे जितना काल लगता है उतने मात्र काल को समय कहते है । वह विभाग से रहित है।'

ऐसे सैकडो क्षेत्र और तथ्य हैं, जिन्हें विज्ञान-के-तल पर प्रवर्तित/प्रतिपादित करने की आवश्यकता है । वनस्पति-मे-प्राण होने के तथ्य को डॉ जगदीशचन्द्र बसु ने आज से लगभग पौन सदी पूर्व दुनिया के सामने सप्रमाण रख दिया है। जैनधर्म तो इस तथ्य को हज़ारो वर्षों से मानता चला आ रहा है। इन/ऐसे प्रमाणो द्वारा ही हम जैनधर्म के आध्यात्मिक निष्कर्षों की पुष्टि कर सकते हैं ।

इस तरह ज़रूरी हुआ है इस क्षण, कि हम आने वाली सदी के लिए अपने अस्तित्व को मात्र अस्तित्व ही न रहने दे, वरन व्यक्तित्व मे भी रूपान्तरित करें ।

□□

तर्क की कसौटी पर यह वहुत स्पष्ट है कि कोई भी वाद की स्थिति अपनी पूर्ववर्ती स्थिति का परिणाम होती है।

जो वस्तु या स्थिति किसी वस्तु या स्थिति का स्थान ग्रहण करती है, वह स्वतन्त्र कुछ नही होती वरन् अपनी पूर्वस्थितियो का महायोग होती है।

वह धर्म जो भगवान ऋषभ जिन द्वारा प्रवर्तित हुआ, इसी प्रक्रिया मे वहा चला आ रहा है।

नही कहा जा सकता यह कि जैनधर्म की जो अस्मिता/स्वरूप भगवान् ऋषभ जिन के समय था वही तीर्थकर अजित जिन के समय मे था और, वही भगवान् पार्श्व जिन के युग मे यथावत् वना रहा।

यह कहना भी कठिन ही होगा कि भगवान् पार्श्व जिन के युग का जैन धर्म भगवान् महावीर के समकालीन जैनधर्म की शत-प्रतिशत प्रतिकृति था।

वक्त तमाम चेहरे वदल देता है। मौलिकताएँ/वुनियादें वनी रहती हैं, किन्तु आच्छद वदल जाते हैं।

विकास की प्रक्रिया वहुत प्रखर और अचूक होती है, उसे चुनौती देना वहुत मुश्किल होता है।

विकास की इस निर्मम प्रक्रिया के भी दो रूप सामने आते हैं। विकास एक वह जिस पर प्रकृति का नियन्त्रण होता है, विकास एक वह जो मनुष्य की वृद्धि करती है। वह प्रकृति के रहस्यो पर से पर्दा उठाती है और मनुष्य की सुख-सुविधाओ के अनुरूप इन रहस्यपूर्ण शक्तियो का उपयोग करती है। यद्यपि कई वार इसमे प्रकृति का सतुलन गडवडाता है तथापि स्थितियाँ वदलती हैं और तदनुसार कुछ सकट, कुछ वरदान सामने आते हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जैसे-जैसे समय वीतता गया उसके समाज की वनावट जटिल होती गयी। अर्थ, राज्य, परम्परा और परस्पर-सवन्ध उलझते गये और उनकी नयी कसौटियाँ उभरती गयी। इन स्थितियो ने मनुष्य को वाहर से, भीतर से वदला, इसीलिए आज वह नही है, जो भगवान महावीर के युग मे था। उसकी चिन्तन-प्रक्रिया पर भी इन सामाजिक परिवर्तनो का प्रभाव हुआ है। उसकी फजा मे विज्ञान के नये रोशनदान भी खुले हैं। विज्ञान की सभी शाखाओ ने उसके समाज की वुनावट को प्रभावित किया है। इन शाखाओ ने उसके परम्परित चिन्तन और उसकी परम्परित

धारणाओ को चुनौती दी है, फलत उसकी सामाजिक मर्यादाएँ टूटी है और उसे नये मूल्यो की स्थापना के लिए तैयार होना पड़ा है ।

जहाँ एक ओर उसके द्वारा निर्मित सामाजिक कृत्रिमताएँ टूटने को हुई है, वही दूसरी ओर विज्ञान के प्रभाव ने उसके भीतर बैठी तृष्णाओ और वाञ्छाओ को नवतरुणाई दी है । विज्ञान ने जहाँ एक ओर सुख-सुविधाएँ प्रदान की हैं, वही दूसरी ओर उसने मनुष्य के भीतर जागरूक आध्यात्मिकता को सघन नुकसान पहुँचाया है ।

धर्म अपना चेहरा एकदम कभी नही बदलता, बदलता वह है, किन्तु आकस्मिक वहाँ कुछ नही होता। वेशक जैनधर्म की मुखछवि भी बदली है जैनधर्म का चेहरा आज वह नही है जो कभी भगवान् महावीर के ज़माने मे था। वह बदल गया है। उसके सिद्धान्त और आचार मे एक चौडी दरार पड गयी है। इस दरार के बनने से कई उलझनें खडी हो गयी है । पजर हमारे सामने पुराना है, किन्तु उसकी धड़कनो की लय बदलने लगी है ।

आचार-सहिताएँ नयी परिस्थितियो के बीच नये सिरे से परिभाषित होने के लिए गर्दन उठाये खडो हैं। स्थितियाँ बदलेंगी – बदलती है – अत हमे ऐसी मानसिक तैयारी रखनी चाहिये कि इन बदलती हुई स्थितियो मे अपने बुनियादी उसूलो को तो वनाये रखे, किन्तु जिन परिवर्तनो ने हमारे दरवाजे खटखटा दिये है उनकी अनदेखी न करें। यदि वे उपयोगी हैं, तो उनका स्वागत करें और नवागत परिवर्तनो के लिए स्वागत-द्वार बनाये ।

तय है कि आने वाली सदी के आरम्भिक सिरे पर पहुँचते-पहुँचते हमारे सम्मुख कई नयी स्थितियाँ बनेंगी ।

समाज, उसके अवयव, श्रावक, साधु, मन्दिर, उपाश्रय, शास्त्र, खान-पान, रहन-सहन, औषधियाँ, धर्म, दर्शन, भाषा, सड़कें, यातायात और सवहन के साधन, यात्राओ के तौर-तरीके, मार्ग की व्यवस्थाएँ इत्यादि काफी वदलेंगे (वदल चुके है) । यदि इस शताब्दी के आरम्भ मे कोई महावीरकालीन श्रमण/श्रावक आ खड़ा हो तो उसे काफी अटपटा लगेगा। उसे आश्चर्य होगा कि साधुओ ने अपने जीवन मे उन सव वस्तुओ को क्रमश प्रवेश दे दिया है, जिन्हें किसी वक्त अपावन और अस्पृश्य माना जाता था। हाथ लिखे शास्त्र किसी समय प्रामाणिक और पवित्र माने जाते थे, किन्तु अव उनके प्रति हमारा नज़रिया काफी बदल गया है। अव तो यह देख पाना ही कठिन हो गया है कि हम धर्म-शास्त्रो के लिए कौन-सी मुद्रण, या जिल्दवन्दी-विधि अपना रहे हैं ? विवेक का कही-कोई प्रश्न ही नही है ।

कोई इमारत यदि बन रही है तो उसमे कौन-सी सामग्री प्रयुक्त होगी/हो रही है इसकी जाँच-पड़ताल का अवकाश हमारे पास नही है (परस्पर जूझने का है)। साधु हो या श्रावक अब पवित्रता और प्रमाणिकता की उन धारणाओ को वह भुला चुका है, जिन्हें वह कभी प्राणपण से निभाया करता था।

हम जानते हैं कि एक ऐसा समाज हमारे समाने आज आ खडा हुआ है, जिसमे कागज़ का उपभोग लगातार घटता जा रहा है। आगे के दशकों मे 'लिखने' की ज़रूरत शायद नही होगी। बोला हुआ शब्द कम्प्यूटर की स्मृति में चला जाएगा और माँगने पर वह तुरन्त परोस दिया जाएगा। जिसे हम प्रमाद कहते हैं, उसे भी पुन परिभाषित करने की आवश्यकता हम महसूस करेंगे। कम्प्यूटर (सगणक) के जिम्मे श्रमण/श्रावक दोनो बहुत सारे दायित्व छोड देंगे।

'आहार' और 'गोचरी' की स्थिति क्या होगी आगामी कल, इन पर भी हमे शान्तिपूर्वक विचार कर लेना होगा। पूजा-उपासनाएँ बहुत आसानी से 'रोबोट' के जिम्मे की जा सकेंगी। पुराने पुजारी/पण्डित मे और 'रोबोट पण्डित' मे कोई खास फर्क नही दिखायी देगा वरन् 'रोबोट पण्डित' अधिक कुशलता और होशियारी से पूजा-उपासनाएँ निबटा सकेगा। निश्चय ही हम बहुत सारे धार्मिक कर्त्तव्य-कर्म रोबोट के जिम्मे कर सकेंगे।

विश्व के बडे-बडे नगरो मे जब कृत्रिम सूर्य लगाये जाएँगे तब एक नयी समस्या उत्पन्न होगी। ये सूर्य दिनकर की तरह ही समर्थ और दीप्तिमन्त होंगे तथा इन्हें आकाश मे ३-४ किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थित कर दिया जाएगा। ऐसी स्थिति मे हमारी रात्रि-भोजन की धारणा का क्या होगा? ऐसी कई उलझनें खडी होगी, जिनसे निबटने के लिए हमें तर्कसंगत होने की आवश्यकता होगी।

समाज की बुनावट काफी बदल जाएगी। अब तक हम भारतीय ढाँचे मे सोचते रहे हैं, किन्तु अब वैश्विक (ग्लोबल)/ब्रह्माण्डीय (कॉस्मिक) ढाँचे मे सोचने पर विवश होंगे। अन्तरिक्ष में जो कॉलोनियाँ बसाई जाएँगी उनमे जैन भी जाएँगे/बसेंगे।

और आने वाली सदी मे जब आकाश मे काफी फासले पर जाना/उडना, ठहरना सभव हो जाएगा तब हमारे सास्कृतिक और सामाजिक, धार्मिक और नैतिक रिश्तो का क्या होगा ?

आज जब मूल्यगत परिवर्तनो से हमारे तमाम रिश्ते प्रभावित हुए हैं, तब आने वाली सदी मे होने वाले वैज्ञानिक परिवर्तनो का प्रभाव उन पर न हो यह कैसे सभव है ? अत हमे सहज ही और तुरन्त ही इन बदलते सबन्धो पर पुनर्विचार के लिए तैयार हो जाना होगा।

इक्कीसवी शताब्दी के आरभ का श्रावक कैसा होगा, इसका अन्दाज़ हम इस तथ्य से ही लगा सकेंगे कि १९०१ मे जो श्रावक था वह १९५० मे कैसा था और जो श्रावक या श्रमण १९५१ मे था उसकी स्थिति १९८९ मे क्या है ?

बहुत स्पष्ट है कि इस बीच श्रावक/श्रमण का चेहरा काफी बदला है।

१९०१ का श्रावक अन्धविश्वासो और रूढियो मे डूबा कोई धर्मभीरु व्यक्ति था, किन्तु १९५० के उसके सस्करण को विज्ञान/समाज के परिवर्तनो ने काफी प्रभावित किया है। आज वह इतना आग्रही/भीरु नही है, जितना पहले कभी था। अनाग्रही होने के कारण उसके खान-पान और रहन-सहन मे काफी लचीलापन आ गया है; सहज ही जिसमे कुछ बुरा है, कुछ खरा है।

१९८९ तक आते-आते वह एक नववैश्विकता से जुड गया है और बदकिस्मती से वह अपनी बुनियाद से लगातार कटता गया है। जो धार्मिकता उसे विरासत मे मिली थी वह अब एक कोरमकोर औपचारिकता के रूप मे बच रही है, शेष कुछ नही है। धर्म को ले कर अब वह काफी औपचारिक और व्यवहार-कुशल हो गया है। धर्म मे वह कर्मकाण्ड (रिच्युअल्स) से इसलिए जुडता जा रहा है चूँकि उसके पास धर्म की मौलिकताओ को जानने/समझने के साधन-स्रोत कम हो गये हैं। वस्तुत यदि धर्म को मनुष्य और उसकी चिन्तन-प्रक्रिया से जुडा हम रखना चाहते हैं तो यह बहुत जरूरी है कि हम उसे नये साधनो मे सयोजित/समायोजित करें और जो पुराने साधन नितान्त जीर्ण-शीर्ण हो गये है उन्हे रद्द करे। निर्विवाद है कि 'नव-श्रावक' को आधुनिकतम 'साधन-सुविधाओ के बीच धर्म के साथ जोडने का तर्कसगत प्रयत्न हमे करना चाहिये। यह तभी सभव होगा, जब हम उपस्थित परिस्थितियो को समझने का सतुलित प्रयास करेंगे और तदनुसार अपनी दिशा स्पष्ट करेंगे।

इक्कीसवी सदी मे साधु का क्या होगा ? उसकी परम्परित चर्या का क्या होगा ? क्या हमारा यह निष्कर्ष ठीक नही है कि जैन मुनि/साधु की चर्या

मे/आचार-सहिता मे आधुनिक साधन-सुविधाओ की छाया मे अनजाने काफी परिवर्तन हो गये हैं? विजली, पखे, औषध, यातायात के साधन, कैंसेट्स, मुद्रण, वस्त्र, प्लास्टिक-निर्मित सामग्री इत्यादि ने मुनि-जीवन में घुसपैठ की और वे कामयाव हुए हैं। उनके रहन-सहन/पठन-पाठन के साधनो पर भी आधुनिकता का प्रभाव हुआ है। सुमरनी के मनके वदल गये हैं।

क्या हमारा यह निष्कर्ष गलत है कि पुराकालीन साधु और आज के साधु के चेहरे मे एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है? क्या 'नवमूलाचार' या 'नवदश-वैकालिक' की जरूरत आज हम/हमारा सुपूज्य साधुवर्ग महसूस नही कर रहा है? कई साधुओ ने तो अपने वर्ग-समूह की सुविधा के लिए आचार-सहिता मे खुद-ब-खुद परिवर्तन कर लिये हैं, फिर कोई कारण नही है कि हम सपूर्ण आचार-सहिता को मिल-बैठ कर जैनधर्म के मूल सिद्धान्तो की लय मे नये सिरे न फेंट लें।

अभी तक जो परिवर्तन हुए हैं उन्हे हम स्वयभू परिवर्तनो की सज्ञा दे सकते हैं, किन्तु क्या अब हम अपनी सहजमति का उपयोग करते हुए एक व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर ऐसे परिवर्तनो को अगीकार नही कर सकते जो हमे कालजयी वनाते हो?

तय है कि जो औद्योगिक उत्पादन हमारे सामने आ रहे हैं, हम उनका उपयोग निसकोच कर रहे हैं। कौन पूछ रहा है आज कि जिस प्लास्टिक का इस्तेमाल हम अपने शास्त्र या अन्य उपकरणो के निमित्त कर रहे हैं उसके उत्पादन मे कितनी हिंसा होती है? उसके मलवे से जमीन वजड हो जाती है और लाखो-लाख मछलियाँ तडप-तडप कर अपनी साँस तोड देती है। हजारो-हजार सूक्ष्म जीव अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।

तय है, जो सामग्री हम वडे पैमाने पर सचालित उद्योगो स प्राप्त करेंगे, उनमे प्रत्यक्ष-परोक्ष हिंसाएँ होगी। सीमेंट के उत्पादन मे हिसा-अहिसा का विवेक कौन रख पायेगा? मदिरो और स्थानको के निर्माण मे अव यह बिल्कुल आवश्यक नही रह गया है कि हिसा-अहिसा के विवेक को ध्यान मे रखा जाए। धर्मग्रन्थो के मुद्रण मे और साधु जिन वस्त्रो को धारण करते हैं उनमे भी कहाँ, कौन से विवेक को ध्यान मे रखा जाता है? आज जो वस्त्र मिलो से वन कर आते हैं क्या उन पर हिसा/शोषण के दाग नही रहते? क्या खादी का उपयोग आज सभव है? क्या साधुवर्ग अपने लिए खादी का उत्पादन नही कर सकता? दवाइयाँ – एलोपैथी की – कैसे वनती हैं, इसे अलग से वताने की आवश्यकता शायद नहीं है, हम पूछते हैं कि क्या [illegible] श्रावक-साधु वहाँ कोई विवेक [illegible]

मनुष्य अपनी उम्र के एक तिहाई भाग को नीद मे काट देता है; किन्तु यदि क्षति-ग्रस्त कोशिकाओ की मरम्मत नीद के अलावा किसी और स्थिति मे की जा सके तो उसका यह तिहाई वक्त या इसका कोई भाग बचाया जा सकता है। यदि इस हिस्से का उपयोग वह अधिक काम करने मे करता है तो निश्चय ही यह माना जाएगा कि उसकी उम्र मे वृद्धि हुई है। यदि आज कोई व्यक्ति दो सौ वर्षों का काम ७० वर्षों मे सपन्न कर लेता हो तो यद्यपि उसकी पार्थिव उम्र ७० वर्ष होगी किन्तु, विचार की दुनिया मे उसे २०० वर्ष माना जाएगा। जो आदमी ७० वर्ष जी कर आस्रव-बन्ध कर रहा था वही आदमी यदि अधिक घूमता या जागता है या काम करता है तो जो आस्रव-बन्ध दो सौ वर्षों मे करता था, उतना/सब वह ७० वर्षों मे ही कर लेगा। निर्जरा पर भी सभवतया यही स्थिति लागू होगी। वस्तुत सदर्भ जितने बढेगे, जटिलताएँ भी उतनी ही बढ जाएँगी, हमे इसी रफ्तार से अधिक प्रखर और सामयिक होने की आवश्यकता होगी।

क्या हम आने वाली शताब्दी मे इन सारी स्थितियो पर विचार करने के बाद ही पाँव रखना पसद नही करेंगे, या फिर समय जिस तरह हमे विवश करेगा लगातार वैसा करते चले जाएँगे? □□

यह किताब

यह किताब 'तीर्थकर' के नवम्बर १९८५ से अप्रैल १९८६ तक के अको मे प्रकाशित मेरे ५ अग्रलेखो तथा 'जीत अभिनन्दन ग्रन्थ' (ब्यावर १९८६) मे सम्मिलित एक लेख इस तरह कुल ६ लेखो का एक सक्षिप्त सकलन है।

प्रयत्न है कि इन लेखो मे-से अखिल जैन समाज को नवागत सामाजिक, साम्यतिक, धार्मिक, नैतिक, और वैज्ञानिक सदर्भो से परिचित कराया जाए ताकि वह दबे पाँव चले आ रहे परिवर्तनो से अपरिचित न रहे और ठीक-से-जाने कि गत शताब्दियो मे धर्माचार को परिवर्तित सदर्भो मे किस तरह समायोजित होना पडा है। यह नया कुछ नही है, विकास की सहज प्रक्रिया है, जो मदी आँच की तरह प्रतिक्षण हमे लील रही है।

आने वाली सदी मे हम क्या होगे या हमे होना चाहिये— ये दोनो गहन प्रश्न, अटल प्रश्न है। टालने पर टले हुए-से भले ही लगे, किन्तु शायद अपने पूरे बल मे बने रहेगे और समय बीतते खुद-ब-खुद उत्तरित होगे।

हम जानते है कि विज्ञान के क़दम बहुत तेज हैं। उनकी रफ्तार हमारी कल्पना से परे है। साफ है अगली सदी मे कागज़ नही होंगे (शास्त्रो का क्या होगा?), कम्प्यूटरो (सगणको) का इस्तेमाल धडल्ले से होने लगेगा, आकाश मे जगह-जगह कृत्रिम सूर्य दमकने लगेंगे (तब रात्रि-भोजन की स्थिति क्या होगी?), रासायनिक अस्त्रो के कारण युद्धो के चेहरे बदल जाएँगे, समृद्धियो की वजह से लोग लगातार ग़रीब होते जाएँगे, अन्तरिक्ष मे बस्तियाँ बस जाएँगी, पग-पग पर यन्त्र होंगे, रोबोट होंगे ('रोबोट पण्डित' हमारे कर्मकाण्ड अधिक सफलतापूर्वक सपन्न करा सकेगे), तरह-तरह के खाद्य पदार्थ होंगे, किस्म-किस्म की दवाइयाँ होगी (बीमारियाँ भी), आनुवांशिकीय अभियान्त्रिकी के कारण हमारी जीव-सबन्धी मान्यताओ को क़रारी चुनौतियो का सामना करना पडेगा, हमारी कई पुरानी धारणाएँ तेज़ाब-के-घोल मे तडपने को होगी – तो क्या इस सब से पहले हम अपने घर की साल-सँभाल की जिम्मेदारी से चूक जाएँगे और खोजना नही चाहेंगे कि कहाँ किस कोने मे कोई ऐसा दीपक जल रहा है जिसकी रोशनी मे हम इन सारी बदली हुई स्थितियो के समाधान पा सकते हैं?

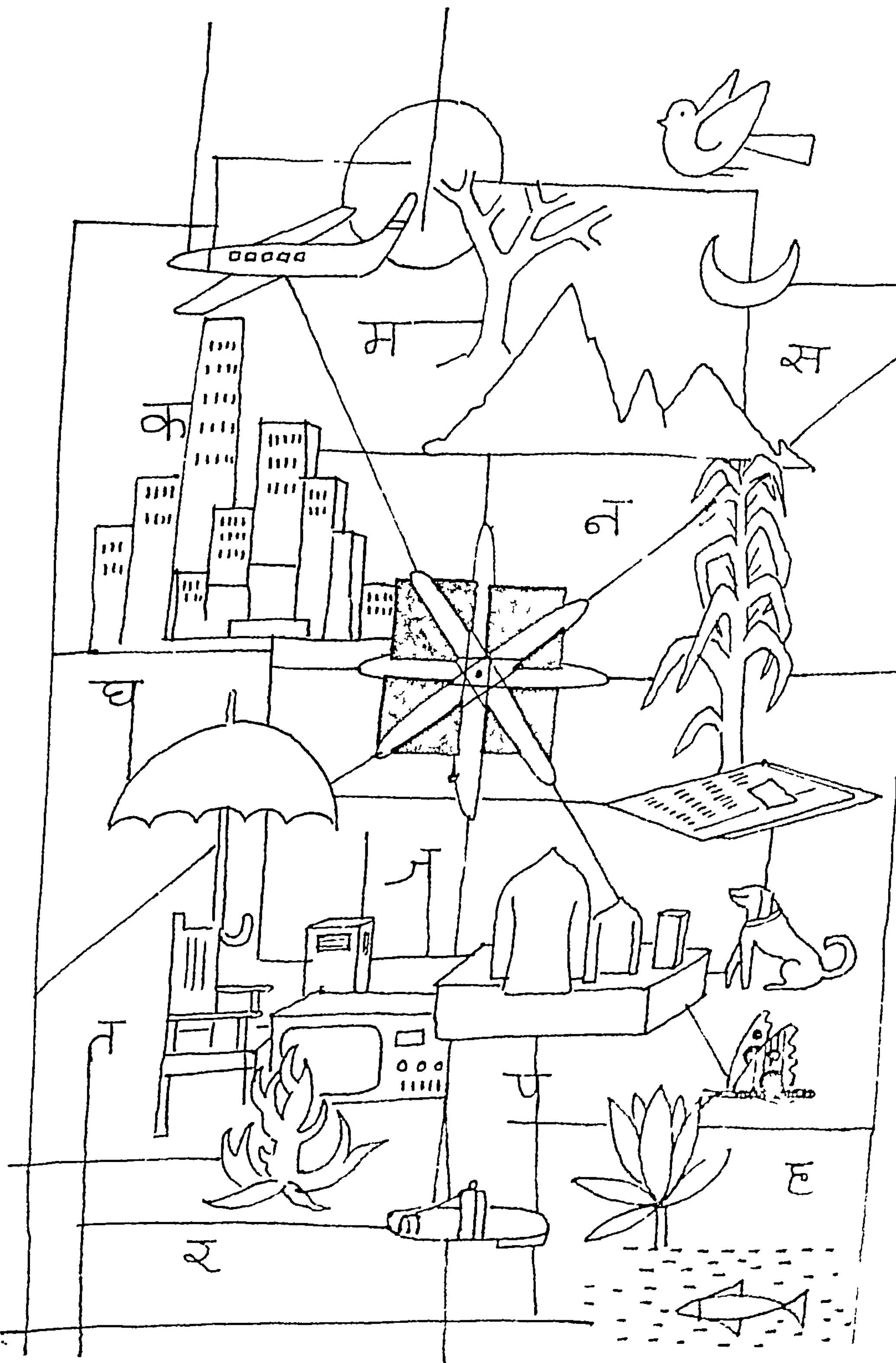
इन लेखो मे मैंने कई जटिल समस्याओ की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया है और आशा व्यक्त की है कि इन सारे सदर्भो को टाले नही बल्कि इनका साहसपूर्वक मुकाबला करे और उन बन्धु-बान्धवो को जो अकस्मात् ही इनसे आ टकरायेंगे, मुकाबले के लिए तैयार करे।

मुझे विश्वास है कि इस छोटी-सी किताब को पूरी ईमानदारी और तटस्थता से पढा जाएगा तथा हमारा धार्मिक (सामाजिक भी) नेतृत्व (साधु/श्रावक) सारे काम छोड कर इनमे गर्दन डाले खडे सवालो का समीचीन उत्तर ढूंढेगा, या जवाब तलाशेगा।

—नेमीचन्द जैन

—सपादक 'तीर्थकर' 'शाकाहार-क्रान्ति', इन्दौर

[illegible]



औषधियाँ : इक्कीसवीं शताब्दी

जीवन-पीयूष

(सामायिक पाठ हिन्दी-पद्यानुवाद)

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

जीवन-पीयूष

(सामायिक पाठ हिन्दी-पद्यानुवाद)

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

जीवन-पीयूष

(आचार्य अमितगति के सामायिक पाठ का भावानुवाद)

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

हीरा भैया प्रकाशन, [illegible]

अपनी बात

वात वहुत पुरानी है। पाँच दशक होने जा रहे है। किशोरावस्था थी, घर मे प्रात काल पाठ करने की परिपाटी। परम्परा पूज्य पिताजी और माँ ने डाल रखी थी। पाठ वहुत-से थे, लेकिन भक्तामर-स्तोत्र, मेरी भावना, आलोचना-पाठ और सामायिक-पाठ ने मुझे आकर्षित किया था।

जैनधर्म के प्रति मेरी रुचि बढ़ने लगी, मुझे सामायिक-पाठ ने विशेष आकर्षित किया। मेरी कठिनाई यह थी, मुझे सस्कृत नहीं आती थी। श्लोको का शुद्ध उच्चारण बनता नहीं था। उपलब्ध पद्यानुवाद परम्परित होने से मन को भाते नहीं थे। सगीत मे रुचि थी, लय मे गाने-गुनगुनाने मे सरसता लगती थी। पूछताछ-खोज़बीन करता रहता था, जिससे इस अभाव की पूर्ति कर सकूँ।

आदरणीय भैया (डॉ नेमीचन्दजी जैन) ने इसे भाँप लिया। उन्हे लग रहा था कि प्रेमी (प्राय घर मे बड़े मुझे इसी नाम से सम्बोधित करते थे), की इच्छा-पूर्ति के लिए कुछ करना चाहिये। पढ़ाई मे व्यस्त रहने के कारण यह एकदम सभव नहीं था। वे इन्दौर मे पढ़ते थे, मै रतलाम मे। ग्रीष्मावकाश मे दोनो को अवकाश था, यह सन् १९४८ मे सभव हो सका। उनके कवि-हृदय मे पद्यानुवाद की स्फूर्ति होने लगी। वे श्लोको का छायानुवाद/भावानुवाद करने लगे और मै प्रात काल उन्हे बड़े ही चाव से/उत्साह से गाने लगा, हर पक्ति हृदयगम/आत्मसात् होने लगी। देखते-देखते थोड़े ही दिनो मे सामायिक-पाठ का पद्यानुवाद तैयार हो गया। इस पर पूज्या माँ और काकाजी (पिताजी को हम काकाजी कहते थे) ने कहा कि नेमी (भैया को बड़े इसी नाम से सम्बोधित करते थे) ने अब प्रेमी के अभाव की पूर्ति कर दी है, उसे और सुरेन्द्र (अनुज डॉ सुरेन्द्र कुमार जैन) को यह पद्यानुवाद खूब भा रहा है।

हीरा भैया प्रकाशन,

इसे मै उनके 'कवि-हृदय' की प्रसादी मानता था। यह उनके कवित्व की बानगी थी, इसमे उनके कवित्व की झलक थी। उम्र उनकी २१, मेरी १८ और सुरेन्द्र भाई की १५ थी।

बड़नगर मे दि जैन मालवा प्रातिक सभा का अपना छोटा-सा प्रिटिग प्रेस था जिसका काम पूज्य पिताजी देखा करते थे। आदरणीय भैया ने ऐसा सयोजन किय कि 'जीवन-पीयूष' शीर्षक से नेमीचन्द जेन 'नियमी' साहित्यरत्न द्वारा सामायिक पाठ का भावानुवाद सन् १९४९ मे प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन हमारे लिए ए बड़ी उपलब्धि थी। अब यह पद्यानुवाद व्यक्ति-विशेष से समाज की ओर अग्रसर ह रहा था। जिसने भी पढ़ा, सराहा, सम्मातियाँ भी प्राप्त हुई। इससे यह भी स्पष होता गया कि इसमे जीवन-पाथेय बनने की अपार क्षमता है।

पुस्तिका के रूप मे इसका प्रथम सस्करण सन् १९४९ मे सामने आया, लेकि रचना-काल की दृष्टि से सन् १९४८ मे। मुद्रण के स्तर पर तब और अब मे बुनियाद अन्तर है, लेकिन इसमे आज भी वही सरलता, सुगमता, समरसता और सहजत है। वैसी ही ताज़गी इसके पाठ से अनुभव की जा सकती है।

इसे आवश्यक सशोधनो के साथ दूसरी बार 'जिन खोज़ा तिन पाइयाँ (पुस्तिका) मे पर्युषण, १९६३ मे और तीसरी बार 'तीर्थकर' के प्रतिक्रमण सामायिक-शेषाक जनवरी १९८५ मे छापा गया था। अब इसका यह स्वतन परिवर्द्धित सस्करण है।

इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि आदरणीय भैया की जैन दर्शन/धर्म पर आधारित रचनाओ का पुस्तिका के रूप मे यह पहला प्रकाश है। उनकी प्रारभिक कृतियो मे इसे प्रथम कृति माना जा सकता है।

१६ जुलाई, १९९६ **-प्रेमचन्द जैन**

मैं भी लिखूँ ?

यह लघुकाय पुस्तिका यदि समाज के जीवन मे तनिक भी क्रान्ति और कान्ति की प्रसूता बन सकी तो मै अपने इस छोटे-से प्रयास को सफल समझूँगा।

जन-जन के जिह्वाग्र यह 'सामायिक पाठ' बन सके ऐसी भाषा का प्रयोग मैने किया है- पर कहाँ तक सफल हूँ यह नहीं जानता। छोटा-सा कलेवर भारी-सी वस्तु, सतुलन न कर सका।

जैसा भी है- सामने है।

७ जुलाई, १९४९ -नियमी जैन

हीरा भैया प्रकाशन, ८

☐ समय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् सयम। तप के साथ समीचीन समागम - बस यही सामायिक है, इससे पृथक् यह कुछ भी नहीं है।

☐ जिस माध्यम से स्व-पर, प्रिय-अप्रिय, मगल-अमगल, इष्ट-अनिष्ट, मान-अपमान, सुख-दु ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि द्वन्द्वो से माध्यस्थ्य बनते है, वही सामायिक है। सामायिक यानी द्वन्द्वातीत मन स्थिति।

☐ सामायिक से जो दृढ़ता और एकाग्रता प्राप्त होगी
उससे न केवल हममे
एक अभूतपूर्व आत्मजागृति घटित होगी वरन् दिन-भर के
चर्यागत कार्य भी अधिक सफलता से सपन्न होगे।
सामायिक का मुख्य लक्ष्य है
स्वानुभूति की गहराइयो मे उतर कर
आत्मानन्द का रसास्वाद।

समत्व की साधना

एक निष्कलक, खालिस, साफ-सुथरे और सीधे-सादे जीवन की ओर यदि हम अपने क़दम उठाना चाहते हैं, तो हमे जीने-की-कला सीखनी होगी। सामायिक एक निष्कलक जीवन जीने की अनुभूत/सफल कला है।

वहुत सारे लोग है जो परम्परित विधि-विधान मे फँस कर बेज़ान सामायिक तो करते है, लेकिन 'वह क्या है', इसे नहीं जानते। मानते है वे कि 'सामायिक पाठ' या तत्सवन्धी कुछ बाँच-पढ़ लेना सामायिक है, किन्तु उसकी 'मूल चेतना' क्या है इससे वे अपरिचित बने रहते है। यह ठीक नहीं है। किसी एक आसन से, किसी खास स्थान पर बैठना सामायिक है, यह भी ठीक नहीं है। सामायिक की, असल मे, अपनी समग्रता और सपूर्णता (होलनेस) है, जिसे समझ लेना बहुत ज़रूरी है। वह कोई निष्प्राण/निर्जीव/जड़ प्रक्रिया नहीं है, वरन् चेतना को लक्ष्य-केन्द्रित करने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

सामायिक मूलत समत्व की साधना है। वह व्यक्ति को सम-समत्व पर/सद्विवेक पर लौटा सकती है। वह द्वन्द्वातीत और छद्मातीत होने का अचूक साधन है।

सामायिक रूढ नहीं है। वह अद्भुत रसायन/कीमिया है। वह सफल जीवन जीने का एक महत्त्वपूर्ण आधार-सूत्र है। वह आत्मानुसधान, आत्मशुद्धि और आत्मानुशासन की एक स्वस्थ प्रक्रिया है।

सामायिक एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जो विश्वमैत्री की भावना को जनमती है। सामायिक मे हम जब होते है तब न तो हमारा कोई शत्रु होता है, न कोई मित्र - सब बराबर होते है। शत्रु-मित्र एक हो पड़ते है। वहाँ शूल-फूल का फर्क मिट

हीरा भैया प्रकाशन,

वहाँ सुख-दु ख, सपत्ति-विपत्ति, महल-कुटीर जैसी तमाम विषमताएँ खत्म हो जाती है। आदमी और आदमी के बीच की कृत्रिम खाइयाँ पट जाती है, और दुनिया के समस्त प्राणियो के प्रति एक सुखद मगल कामना जन्म ले लेती है - तब हमे लगने लगता है कि यह धरती हमारी कुटुम्ब है, इसमे जहॉ भी कोई स्पन्दन है, वह परम पूज्य है, रक्षणीय है। लगने लगता है जैसे हम है, वैसे सब है, एक साफ-सुथरी वैश्विक (ग्लोबल) दृष्टि का उदय तब हममे होता है। इस तरह सामायिक व्यक्ति को तो शुद्ध करती ही है, उसके जरिये वह समाज को भी स्वच्छ बनाती है। बहु साधारण तर्क है कि यदि इकाइयाँ शुद्ध है तो सपूर्णता, या समस्तता तो शुद्ध हो ही। यह असभव ही है कि नागरिक शुद्ध हो/स्वच्छ हो और नगर मलिन/अस्वच्छ हो, इसलिए सामायिक-जैसे मनोवैज्ञानिक माध्यम से व्यक्ति को शुद्ध करने/उसे शुद्ध होने की आवश्यकता आज है। हमे यत्न करना चाहिये कि सामायिक की प्रवृत्ति दिनोदिन बढ़े और हम उसे एक व्यापक रूप प्रदान करे। चाहे जितना ज़रूरी क हो, किन्तु सामान्य सामायिक तो हर हालत मे हमारे द्वारा सपन्न होनी ही चाहिये

सामायिक की महत्ता को मात्र इतने से ही समझा जा सकता है कि श्रावक (जै गृहस्थ) के एक दर्जन व्रतो मे-से यह प्रथम शिक्षाव्रत है, प्रतिमाओ मे यह तीस प्रतिमा है, आवश्यको मे-से यह एक महत्त्व का आवश्यक है, तथा पॉच चारित्रो मे य प्रथम चारित्र है। आगम मे इसका बार-बार उल्लेख हुआ है। वस्तुत यह आध्यात्मि विकास का सर्वप्रथम सोपान या मूलाधार है। जैसे किसान बावनी (बुवाई) से पह अपना खेत तैयार करता है, वैसे ही सामायिक-के-द्वारा एक साधक अपना खे (शरीर) तैयार करता है।

सामायिक आज न सिर्फ हमारी समकालीन विपत्तियो का एक सटीक/अचू समाधान है, वरन् यह हमारे व्यक्तित्व-निर्माण का एक मूलभूत साधन भी हे।

-नेमीचन्द जैन

सपादक 'तीर्थंकर'/'शाकाहार-क्रान्ति

सामायिक पाठ

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोद,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य भावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

सब जीवो से रहे मित्रता,
गुणीजनो से प्रेम अपार।
प्राणि-मात्र पीड़ित हो जो भी,
उनके प्रति मै रहूँ उदार॥
देव ! मुझे सद्बुद्धि यही दो,
समतामय देखूँ यह विश्व।
दुर्जन, दुष्ट, विरोधीजनो पर,
साम्यभाव रक्खूँ हो नि स्व[1] ॥१॥

शरीरत. कर्तुमनन्त शक्ति,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टि,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति. ॥२॥

गुण-स्मरण से तेरे मुझमे,
अमर शान्ति का हो उन्मेष[2]।
पृथक् म्यान-खड्गवत् हो यह,
आत्मा और पुद्गल का श्लेष[3]॥
मर-से अमर भिन्न हो जाए,
टूटे जन्म-मरण का क्रम।
वीतराग, निर्दोष, शुद्ध हो,
निर्विकार मेरा आतम ॥२॥

---

(१) वीतराग। (२) उदय। (३) संयोग, साथ

दु:खे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा।
विराकृताशेष ममत्व बुद्धे:
समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ॥३॥

करके अन्त ममत्व-बुद्धि का,
रागद्वेष का कर परित्याग।
सुख-दुख मे, रिपु और मित्र मे,
समभावी हो रखूँ विराग ॥
वन-उपवन, पतझड़-वसन्त मे,
अनासक्ति का हो सचार।
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग मे,
राग-द्वेष का हो परिहार ॥३॥

मुनी ! लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निखाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा,
तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

ऋषिवर, तव अज्ञान-तिमिर-नाशक,
आलोकित युगल चरण।
स्थापित मन मे हो ऐसे,
जैसे प्रतिबिम्बित चित्रण ॥
कीलित हो ये बने अचल,
दृढ़ता इनमे सहसा उभरे।
अन्तर्लीन हृदय मे हो ये,
सतत रहे आसीन हरे ॥४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपिडितास्-
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

॥

मलन, अटन, पीड़न, खण्डन से,
जीवो का हो यदि संहार।
भगवन्, यह प्रमाद कार्य सब,
क्षम्य और मेरा उद्धार॥
पावन मानस बना रहे यह,
सत्य-प्रेममय हो ससार।
चरण-चरण पर रहे अहिसा,
शान्ति-सौख्य का हो विस्तार॥५॥

विमुक्तिमार्ग प्रतिकूलवर्तिना,
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपन,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो॥६॥

मोक्ष-मार्ग से विचलित हूँ मैं,
चार कषायो से आबद्ध।
अज्ञानी दुर्बुद्धि मूढ़मति,
दुष्कार्यो मे नित कटि-बद्ध॥
यदि चारित्रिक पावनता मे,
कहीं हुआ हो क्षीण चरण।
भगवन् बना रहे निर्मलतम,
मेरा यह मानस-दर्पण॥६॥

विनिन्दनालोचन गर्हणैरहं,
मनोवचःकाय कषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं,
भिषग् विषं मंत्रगुणैरिवाखिलम् ।।

लौकिक सुख के लिए जहाँ भी,
जो भी पाप किये मैंने ।
मन से, वाणी से, काया से,
या कषाय से दुख देने ।।
इन मेरे कृत्यो की निन्दा,
आलोचन परिहार करूँ ।
प्रवर वैद्य-सम विषहारी,
मन्त्रो से मै उपचार करूँ ।।७।।

अतिक्रमं यं विमतेर्व्यतिक्रमं,
जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः ।
व्यधामनाचारमपि प्रमादतः
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ।।८।।

मै हूँ अभिशापित, तापित
यो क्यो मै जग मे भरमाया ?
क्यो मैने प्रमाद-वश अपना,
निश्चल मानस उलझाया ?
क्यो आ गयी शिथिलता मेरे,
पावन, शुद्ध चरित्र मे अब ?
हो फिर यह विशुद्ध पावनतर,
उपजे फिर विचार नव-नव ।।८।।

क्षति मन.शुद्धिविधेरतिक्रमं,
व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलङ्घनम् ।
प्रमोऽतिचार विषयेषु वर्तनं,
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

मन की पावनता मे क्षति हो,
तो उसको कहते 'अतिक्रम' ।
सयम का उल्लंघन यदि हो,
तो कहलाता है 'व्यतिक्रम' ॥
विषयो मे प्रवृत्ति होना ही,
आगम-भाषित है 'अतिचार' ।
भोगो मे गहरी प्रगाढ़ता,
कहलाती है 'अनाचार' ॥९॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं,
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी,
सरस्वती केवल बोधलब्धिम् ॥१०॥

जो कुछ भी मात्रा-पद वाक्यो
से विहीन उच्चारित हो ।
देवि शारदे, क्षमा करो सब,
केवलज्ञान प्रकाशित हो ॥
ज्ञान-दीप जल उठे हृदय मे,
सब लोको मे हो आलोक ।
हो निर्बन्ध हर्ष-राशि सब,
दूर हटे युग-युग का शोक ॥१०॥

हीरा भैया प्रकाशन, ८

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने,
त्वां वन्द्यमानस्य ममोस्तु देवि ॥११॥

इच्छित वरदायिनि, चिन्तामणि-सम,
जिनवाणी तुझे नमन ।
तव प्रसाद से ज्ञान-लाभ हो,
ज्ञान-प्रकाशिनि अभिनन्दन ॥
निर्मलता ही [illegible] हो वर,
आत्मरूप परिणत होवे ।
राग-द्वेष के [illegible],
[illegible]-नदी [illegible] पार हो ॥११॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वमाव ,
समस्तसंसार विकारबाह्य ।
समाधिगम्य परमात्मसञ्ज·,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

दर्शन, ज्ञान, अनन्त सौख्य के,
स्वामी तुझको सतत नमन ।
निर्विकार, निर्दोष, विश्व से विरत,
देव, शत कोटि नमन ॥
ध्याता, ध्येय, ध्यान के सगम,
तेरा वन्दन, अभिवन्दन ।
हे सर्वज्ञ, भेद-विज्ञानी,
उर-सिहासन करो वरण ॥१३॥

निषूदते यो भवदु खजाल,
निरीक्षते यो जगदतन्तरालम् ।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीय·,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

दु ख-राशि के मृग-समूह पर,
सिह-सदृश तुम सतत प्रभो ।
दर्पणवत् झिल-मिल करता है,
अखिल विश्व का ज्ञान विभो ॥
अन्तरग पासाद तुम्हारा,
ऋषि-वदित हे परम प्रभो ।
मेरे उर-सिहासन पर आ,
हो जाओ आसीन विभो ॥१४॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्युव्यसनाद् व्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

मोक्ष-मार्ग तेरे द्वारा प्रतिपादित
और प्रशस्त हरे।
जन्म-मरण-निर्बन्ध,
तीन लोकों के द्रष्टा सतत हरे॥
कर्म-कलंक से मुक्त,
मोक्ष-के-निशानी उत्कृष्ट हरे।
मेरे मन-सिंहासन पर तुम,
हो जाओ प्रतिष्ठ हरे॥१५॥

क्रोडीकृताशेष शरीरिवर्गा,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषा ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपाय
स देवदेवो हृदयो ममास्ताम् ॥१६॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्ति,
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१७॥

व्यापक हो इसलिए कि दृष्टा,
अखिल विश्व के सतत हरे।
सिद्ध, बुद्ध, निर्वन्ध कर्म से,
विज्ञानी उत्कृष्ट हरे॥
अर्चित नित भव्यो के द्वारा,
ऋषि-वन्दित तुम सतत हरे।
अविनाशी, देवाधिदेव, तुमसे हो,
उर-गृह युक्त हरे॥१७॥

न स्पृश्यते कलङ्क,दोषैः,
यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जन नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

जैसे दूर रहा करता है,
अन्धकार रवि-किरणो से।
वैसे ही भयभीत कर्म हैं,
तेरी प्रतिभा-किरणो से॥
शाश्वत एक अनेक रूप तू,
किन्तु दृष्टि अपेक्षा से।
तेरी शरण ग्रहण करता हूँ,
आप्तदेव, मैं स्वेच्छा से॥१८॥

विभासते यत्र मरीचिमालि-
न्यविद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१९॥

जिसकी ज्ञान-विभा में बिम्बित,
रहता यह संसार समस्त।
भिन्न-भिन्न दिखते पदार्थ सब,
जिसकी ज्ञान-प्रभा में न्यस्त॥
सत्-चित्-आनन्द रूप मयी,
जो है केवल कल्याणमयी।
शरण ग्रहण करता हूँ तेरी,
कर्म-शत्रु के अमर जयी॥१९॥

निरीक्ष्यमाणे सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विषाद निद्रा भय शोक चिन्ता।
क्षय्योऽनलेनेव तरूप्रपञ्चस्-
त देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

भस्मसात् कर देती है ज्यो,
वृक्ष-राजि को रे दव-आग।
वैसे ही कर दिये नष्ट तुमने
हैं ईश्वर द्वेष-राग॥
काम, दम्भ, मूर्च्छा, निद्रा,
भय, चिन्ता, खेद , शोक, अभिमान।
नाश किये जिसे महाभाग ने,
शरण आज उसकी कल्याण ॥२१॥

न सस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मित ।
यतो निरस्ताक्षकषाय विद्विष ,
सुधीमिरात्मैव सुनिर्मलो मत. ॥२२॥

पाहन, तृण, पृथ्वी, सिवार पर,
या कि काठ पर हो आसन।
जिनवरो द्वारा प्रतिपादित,
किन्तु आत्म-आसन पावन॥
इन्द्रिय और कषाय शत्रुओ को,
इसने है नाश किया।
मन-मन्दिर के भीतर इसने,
ज्ञान-दीप को दीप्त किया ॥२२॥

न संस्तरो भद्र ! समाधिसाधन,
न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

भद्र ! विश्व-अर्चन, सम्मेलन,
सब नहीं समाधि-साधन ।
शल्य छोड़ अन्तर में होना,
लीन यही साधन पावन ॥
मोह-वासनाओं का त्यागूँ,
अस्मि-भाव को कर निर्मूल ।
समता का जब पवन बहेगा,
कर्म उड़ेंगे जैसे धूल ॥२३॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्-
त्व दर्शनज्ञानमयो विशुद्ध.।
एकाग्रचित्त· खलु यत्र-तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

अपने ही मे अपनेपन का,
अवलोकन-कर्ता है तू।
दर्शन-ज्ञानमयी चिन्मयता,
पावन निर्मलता है तू॥
मन को कर एकाग्र, ध्यान से
स्थिरता जो लाते है।
वही समाधि-रत प्रज्ञ, विज्ञ
ऋषिराज प्रवर कहलाते है ॥२५॥

एक सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मल. साधिगमस्वभाव·।
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वता कर्मभवा स्वकीया· ॥२६॥

अविनाशी केवलज्ञानी है,
युग-युग से मम आतम एक।
निर्मलता, सारल्य, ज्ञान का,
इसमे रहता है अतिरेक।।
आतम से जो परे वस्तु हैं,
सकल कर्म से हैं उत्पन्न।
अविनाशी वे नहीं, नहीं [illegible],
[illegible] ।२६॥

हीरा भैया प्रकाशन,

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ?
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका है सम्बन्ध पृथक्
अपनी ही इस काया से रे।
कैसे सम्बन्धित हो सकता,
पुत्र, मित्र, भार्या से रे ?
यदि शरीर पर मढ़ी हुई यह,
खाल खींच ली जाए रे।
तो शरीर में छिद्रों का,
अस्तित्व कहाँ रह पाए रे ? ॥२७॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
ससारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्व परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

इस विकीर्ण सन्देह-जाल से,
मुक्त बनो तुम अब आतम !
यह सशय ही जग-वन मे,
भटकाने वाला है आतम !
जल पकज-वत् मान भिन्न,
अपने को जग से, तू आतम !
हो तू अन्तर्लीन आज,
परमातम मे ही तू आतम ॥२९॥

स्वयं कृते कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं [illegible] ॥३०॥

वर्तमान यह है क्या ? [illegible]
कृतफल की [illegible] है
खाना पड़ता वही [illegible]
[illegible] है
कर्म किया [illegible] है [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥३०॥

[illegible] २३

[illegible] भैया प्रकाशन,

निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्य मानस.,
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् ॥३१॥

अपने ही कर्मों के फल हम,
सतत सहा करते आये ।
अन्य व्यक्तियों द्वारा ये सब,
नहीं नियत होने पाये ॥
इस विचार को पुन स्मरण से,
कर लो दृढ़ता से सुस्थिर ।
निज आत्मा सहज, सरलता से,
भाग्य फिर शिव-सुख चिर ॥३१॥

यै परमात्माऽमितगतिवन्द्य ,
सर्वविविक्तो भृशमनवद्य: ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते,
मुक्तिनिकेत विभवावर ते ॥३२॥

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
 न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्य मानस.,
 परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् ॥३१॥

अपने ही कर्मों के फल हम,
 सतत सहा करते आये।
अन्य व्यक्तियों द्वारा ये सब,
 नहीं नियत होने पाये॥
इस विचार को पुन स्मरण से,
 कर ले दृढ़ता से सुस्थिर।
मिल जाएगा सहज, सरलता से,
 अक्षय फिर शिव-सुख चिर॥३१॥

यै परमात्माऽमितगतिवन्द्य,
 सर्वविविक्तो भृशमनवद्य।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते,
 मुक्तिनिकेत विभववर ते॥३२॥

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

डॉ. नेमीचन्द जैन की बहुचर्चित / लोकप्रिय कृतियाँ

वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (परिवर्द्धित , चौथा सस्करण)	१५ ००
बहुआयामी महामन्त्र णमोकार	१५ ००
ओम् १०० तथ्य	५ ००
जहर · अमृत चुनौतियाँ	१० ००
अपरिचय	५ ००
जैनधर्म १०० तथ्य	७ ००
जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी	५ ००
प्रणाम महावीर	५ ००
मुख़ातिब ख़ुद-ब-ख़ुद (बातचीत स्वय-की, स्वय-से)	१० ००
अहिसा का अर्थशास्त्र	५ ००
अहिसा है हमारी माँ (परिवर्द्धित)	५ ००
पर्युषण उष पान जीवन का (परिवर्द्धित)	५ ००
एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका (परिवर्द्धित)	५ ००
हम अन्धे : पाँच अन्धे (परिवर्द्धित)	५ ००
जीवन-पीयूष (सामायिक पाठ का पद्यानुवाद, (विशिष्ट भूमिका-सहित)	२ ००
मेरी भावना (सचित्र, विशिष्ट भूमिका-सहित)	३ ००
भक्तामर स्तोत्र (श्लोक-चित्र, मूल,अन्वय-अर्थ, विशिष्ट भूमिका-सहित)	१० ००
जैन आहार विज्ञान और कला	५ ००
वरक़ मासाहार है	५ ००
ना बाबा ना	२ ०
बेकसूर प्राणियो के खून-मे-सने हमारे ये बर्बर शौक	२ ००
शाकाहार मानव-सभ्यता की सुबह (परिवर्द्धित , द्वितीय सस्करण)	२० ००
शाकाहार-विज्ञान	१५ ००
मासाहार सौ तथ्य	३ ००

हीरा भैया प्रकाशन

६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१ (मध्यप्रदेश)

हीरा भैया प्रकाशन, २०

डॉ. नेमीचन्द जैन की बहुचर्चित / लोकप्रिय कृतियाँ

वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (परिवर्द्धित , चौथा सस्करण)	१५ ००
बहुआयामी महामन्त्र णमोकार	१५ ००
ओम् १०० तथ्य	५ ००
जहर अमृत चुनौतियाँ	१० ००
अपरिचय	५ ००
जैनधर्म १०० तथ्य	७ ००
जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी	५ ००
प्रणाम महावीर	५ ००
मुखातिब ख़ुद-ब-ख़ुद (बातचीत स्वय-की, स्वय-से)	१० ००
अहिसा का अर्थशास्त्र	५ ००
अहिसा है हमारी माँ (परिवर्द्धित)	५ ००
पर्युषण उष पान जीवन का (परिवर्द्धित)	५ ००
एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका (परिवर्द्धित)	५ ००
हम अन्धे पॉच अन्धे (परिवर्द्धित)	५ ००
जीवन-पीयूष (सामायिक पाठ का पद्यानुवाद, (विशिष्ट भूमिका-सहित)	२ ००
मेरी भावना (सचित्र, विशिष्ट भूमिका-सहित)	३ ००
भक्तामर स्तोत्र (श्लोक-चित्र, मूल,अन्वय-अर्थ, विशिष्ट भूमिका-सहित)	१० ००
जैन आहार विज्ञान और कला	५ ००
वरक़ मासाहार है	५ ००
ना बाबा ना	२ ००
बेकसूर प्राणियो के खून-मे-सने हमारे ये बर्बर शौक	२ ००
शाकाहार मानव-सभ्यता की सुबह (परिवर्द्धित , द्वितीय सस्करण)	२० ००
शाकाहार-विज्ञान	१५ ००
मासाहार सौ तथ्य	३ ००

हीरा भैया प्रकाशन

६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२००१ (मध्यप्रदेश)



मेरी भावना

हीरा भैया प्रकाशन,

मेरी भावना

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

सपादन डॉ नेमीचन्द जैन

('जैन किसे कहा जाए ?' लेख-सहित)

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

मेरी भावना
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्रकाशन . हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कालोनी
कनाड़िया मार्ग
इन्दौर-४५२ ००१ मध्यप्रदेश

मुद्रण नईदुनिया प्रिंटरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर-४५२ ००९ मध्यप्रदेश

चित्रांकन संतोष जड़िया

चौथी बार जून १९९६

जब बहुत सारे व्यक्ति इसे 'मेरी' कहने लगते हैं तब समाज में एक समग्र क्रान्ति धडकने लगती है।

सरलता और सादगी का अपना ससार है। सरल हो कर हम सबके होते है, क्रमश होते रहते हैं, किन्तु जटिल हो कर हम या तो खुद के हो पडते हैं, या कुछ गिने-चुने लोगो के। सरल होने का सीधा मतलब है सार्वभौम होना। 'मेरी भावना' सरल शब्दो मे, अर्थों मे है, इसलिए सार्वभौम है। इसमे हम लोकहृदय की स्वस्थ धडकन सहज ही बिना किसी स्टेथस्कोप के सुन सकते है। समता-का-जो-सगीत हमे 'मेरी भावना' मे सुनायी देता है। वह अन्यत्र सुनने को नही मिलता।

इसमे 'सम्' और 'अय्' दोनो है। पहले स्थिति फिर गति। समय और सामायिक मे ये दोनो है। सामायिक स्थिति/गति दोनो है। पहले हम स्वय मे सुस्थित/अडिग होते है और फिर अपरपार वेग मे आत्मोन्मुख हो निकलते है। हमारे पग-का-वेग, उसकी रफ्तार बढ जाती है वस्तु-स्वरूप की खोजयात्रा मे। सहनशीलता प्रकट होने लगती है रोम-रोम मे। इष्ट-अनिष्ट की खाइयाँ पार कर हमारा चित्त समत्व मे गहरे उतरने लगता है। मृत्यु और जीवन के अर्थ बदल जाते है हमारी मनीषा मे। मृत्यु मृत्यु नही होती, जीवन होती है। हम उसके जर्रे-जर्रे को जानने लगते है और खोजने लगते है उस सातत्य को जो जीवन का सातत्य है और जहाँ मृत्यु की स्पष्ट मृत्यु है। रागद्वेष का तो वहाँ सवाल ही नही है। ऐसे परम तपोवन मे हम होते है सिर्फ इन ग्यारह छन्दो की निरापद गलियो से गुजर कर।

सतोष जड़िया ने जुगलकिशोर मुख्तार की वाणी को रेखाओ मे जीवन्त किया है। इसे उसने आकृति दी है। आकृतियो की कोई लिपि नही होती। वे खुद-की-जुबान मे किसी के पास भी पहुँच लेती है। गाय या भैस को गाय या भैस कहने की तब कोई जरूरत नही पडती जब वे हमारे सामने हो। वीतरागता को एक वीतराग प्रतिमा जितनी

मता से हमारे भीतर अनावृत कर सकती है, उतनी अच्छी तरह कोई
त्र नहीं कर सकता ।

पहला छन्द है । आप वीतरागता के चरण-तल मे नतशीश है । नतशीश
ही हैं बल्कि वह जहाँ कही भी जिस किसी नाम मे है उसे श्रद्धापूर्वक
म कर रहे हैं । उसे खोज और हजम कर रहे हैं । यह दूसरा छन्द है ।
। आप अपनी स्वय की स्वाधीनता मे गहरे उतरने लगे हैं ।

साम्य/समत्व ने आपके भीतर-की-तमाम-सकीर्णताओ को खत्म कर दिया
कहाँ रहा है कोई महल, या झोपडा, कहाँ है स्वर्ण, या माटी । कहाँ
ोई अपना या पराया ? इन चार पक्तियो ने तो सारी सरहदें तोड
हैं और आपको लोकपुरुष का विशाल कद दे दिया है ।

तीसरा छन्द है । इसमे आप 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की प्रक्रिया मे हैं,
न तो किसी को कोई कष्ट देना चाहते हैं और न एक पल को
बोलना चाहते हैं । दूसरे छन्द-की-सीढी-पर पाँव रखते ही इस छन्द ने
की चेतना को सत्य-के-द्वार पर ला उपस्थित किया है । यह चौथा
है । यहाँ आप अहकार को सर्वांग विसर्जित कर क्षमा-धरती पर आ
हुए हैं । क्षमा माँ है । मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग,
किचन्य, ब्रह्मचर्य की । माँ के आते ही बेटे खुद ललक आये हैं उसकी गोद
। इनके साथ खेलिये और इनकी माँ को प्रणाम कीजिये । यह पाँचवाँ
द है । यहाँ आपके भीतर करुणा-झरना सौ-सौ धाराओ मे खुल
ा है और आपको विश्वसखा बना रहा है । यह छठा छन्द है ।

। कृतज्ञ हैं उन सबके जिन्होंने आपके जीवन को सेवा और साधना का
त चखाया है । आप गुण, गुणी और गुणवत्ता के चरणो मे आराधना के
र आ बैठे हैं इस छन्द मे । यह सातवाँ छन्द है । यहाँ न भय है,
मातक, यहाँ न मरण है, न जरण, यदि कुछ है तो वह है स्वय-की-शरण ।

न्याय और अन्याय का फर्क यहाँ स्पष्ट हुआ है और आपने सकल्प कर लिया है कि अपने और अन्यो के साथ आप न्यायपूर्ण सलूक करेंगे। वह करेंगे जो सर्वसम्मत/लोकसम्मत है, विवेक की कसौटी पर खरा है। यह आठ छन्द है। इसमे आपके रोएं-रोएँ मे अभय, समत्व, और सहिष्णुता की हरी-भरी फसल थिरकने लगी है। आप स्वाधीन हुए हैं और अब आपका चित्त अविचल/अभ्रान्त है अध्यात्म-के-मार्ग मे। यह नवाँ छन्द है। यहाँ आपमे उस कल्याण-कामना का उदय हुआ है, जो वैर को शान्त करती है और मन के भीतर जनकल्याण की हज़ारो-हज़ार शीतल झिरियाँ खोलती है

यह दसवाँ छन्द है। यहाँ आप आत्मोदय-की-धरा पर खडे सर्वोदय-के-सर्ग मे झूम-झूम उठे है। आपने आनन्द को सीमित नही किया है, असीमित कर लिया है। आप सर्वहित की गोद मे एक निष्कपट शिशु की तरह भोली किलकारियाँ भर रहे है। यह है ग्यारहवाँ छन्द, जहाँ आपने वस्तु-स्वरूप को खोजने-पाने की अपनी यात्रा मे सफलता प्राप्त की है, और जीवन के उस मर्म को समझ लिया है, जो बडी मुश्किल से आदमी के पडता है।

इस तरह,
यदि 'मेरी भावना' को हम अपने भीतर पर्त-दर-पर्त खोलते है तो फिर ससार की सारी निधियाँ स्वयमेव हमारे चरणो मे आ बैठती हैं अत्यन्त कृतज्ञ भाव से। यह है कि 'मेरी भावना' की फलश्रुति, यह है 'मेरी भावना' का वरदान

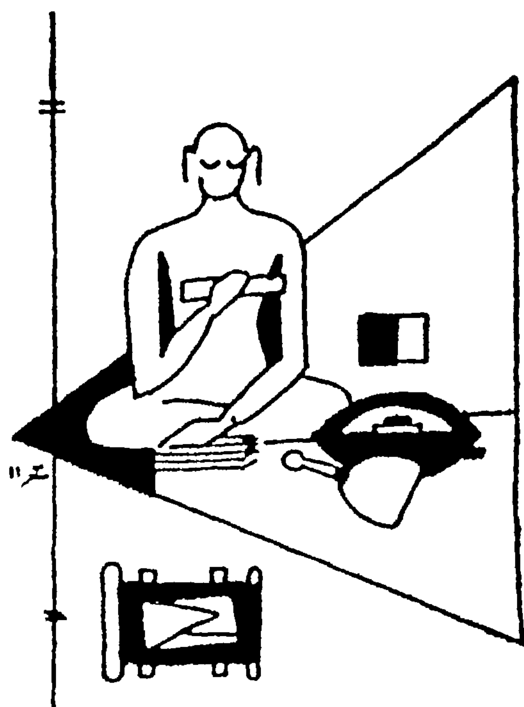
इन्दौर, १६ दिसम्बर १९८८ —डॉ. नेमीचन्द



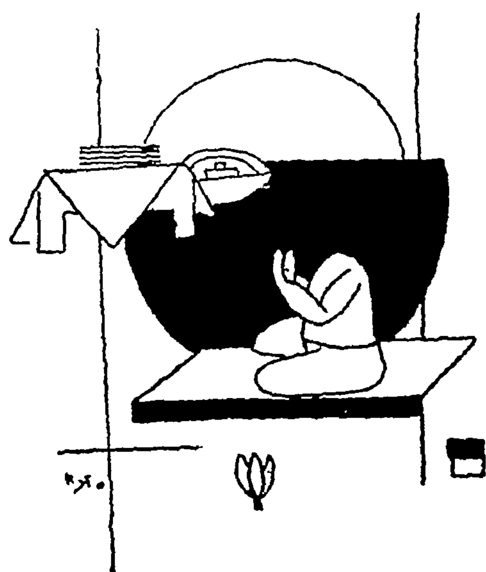
मेरी भावना

जिसने राग-द्वेष कामादिक
सब जीवों को मोक्ष-मार्ग क
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर
भक्ति-भाव से प्रेरित हो

हीरा भैया प्रका



विषयों की आशा नहिं जिनके साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-पर के हित-साधन में जो निशि-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या बिन खेद जो करते हैं
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के दुख-समूह को हरते हैं ॥२॥

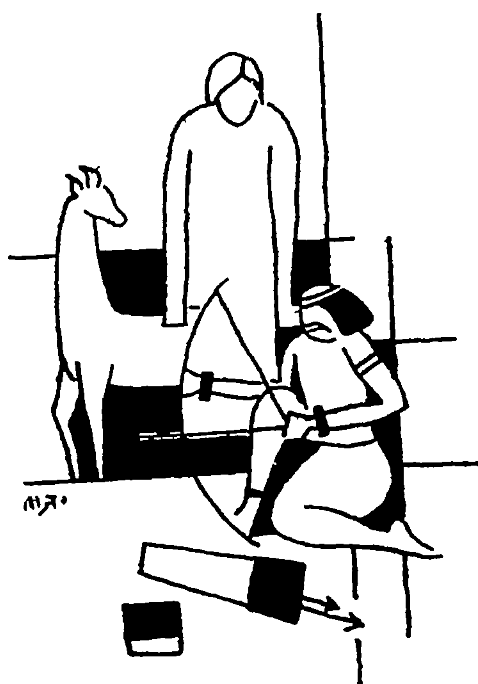


रहे सदा सत्संग उन्ही का ध्यान उन्ही का नित्य रहे,
उन ही जैसी चर्या मे यह चित्त सदा अनुरक्त रहे ।
नही सताऊँ किसी जीव को झूठ कभी नहि कहा करूँ,
परधन, वनिता पर न लुभाऊँ सन्तोपामृत पिया करूँ ।।३।।

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

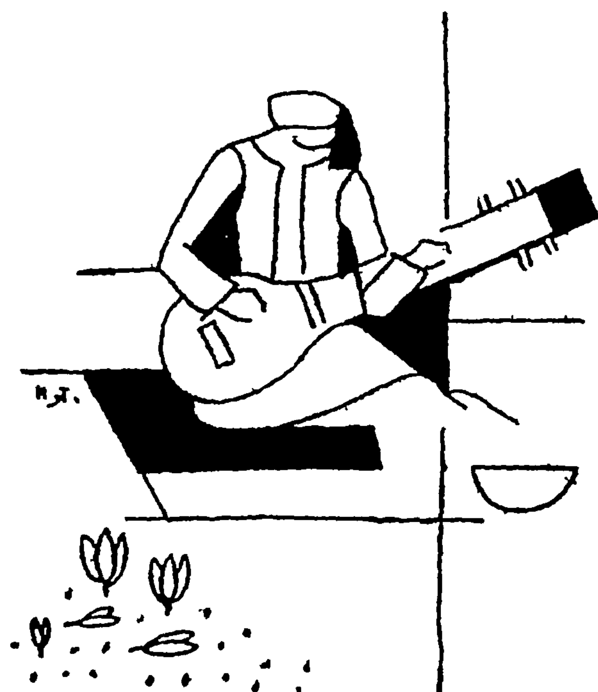


अहंकार का भाव न रक्खूं नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरों की बढ़ती को कभी न ईर्ष्या-भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी सरल-सत्य व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवन में औरों का उपकार करूँ ॥४॥

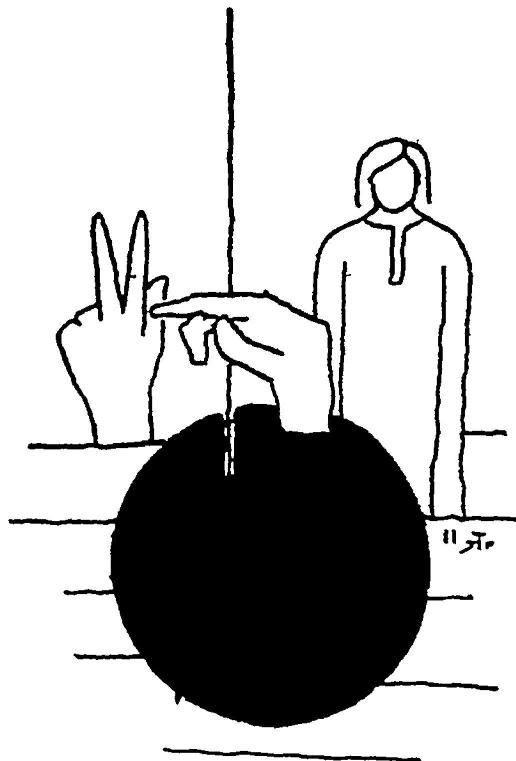


मैत्रीभाव जगत् मे मेरा सब जीवो से नित्य रहे,
दीन-दुखी जीवो पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे ।
दुर्जन, क्रूर, कुमार्ग-रतो पर क्षोभ नही मुझको आवे,
साम्यभाव रक्खूं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ।।५।।

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

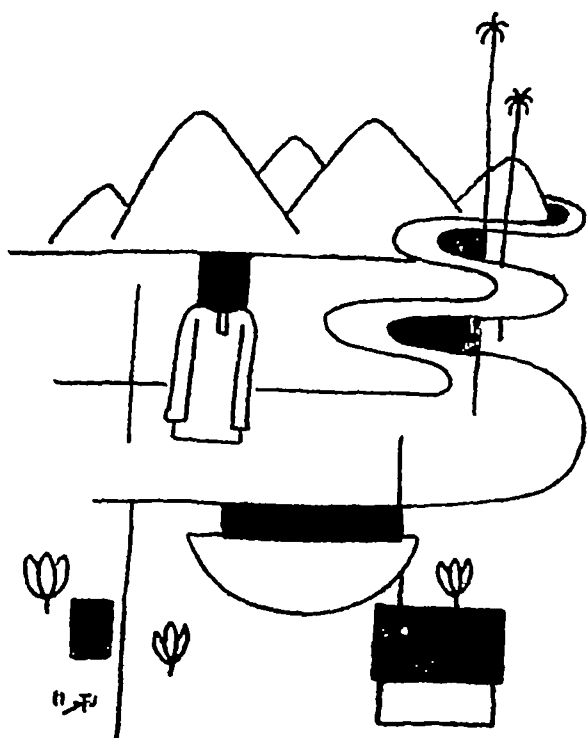


गुणी-जनो को देख हृदय मे मेरे प्रेम उमड आ
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पा
होऊँ नही कृतघ्न कभी मै, द्रोह न मेरे उर आ
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषो पर जावे ।।६

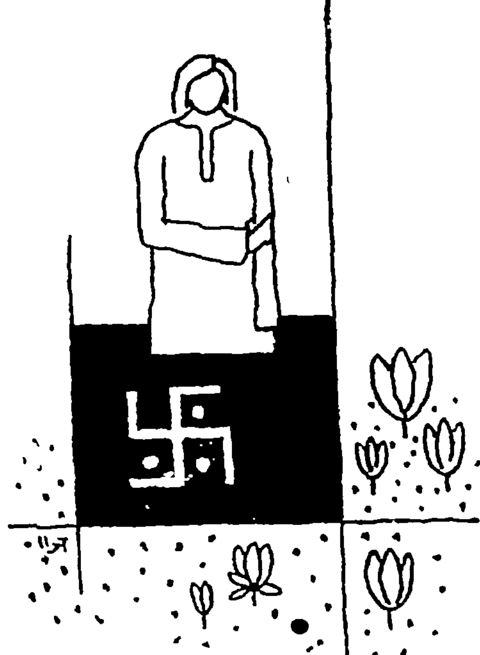


कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्याय-मार्ग से मेरा कभी न पग डिगने पावे ॥

हीरा भैया प्रकाशन,

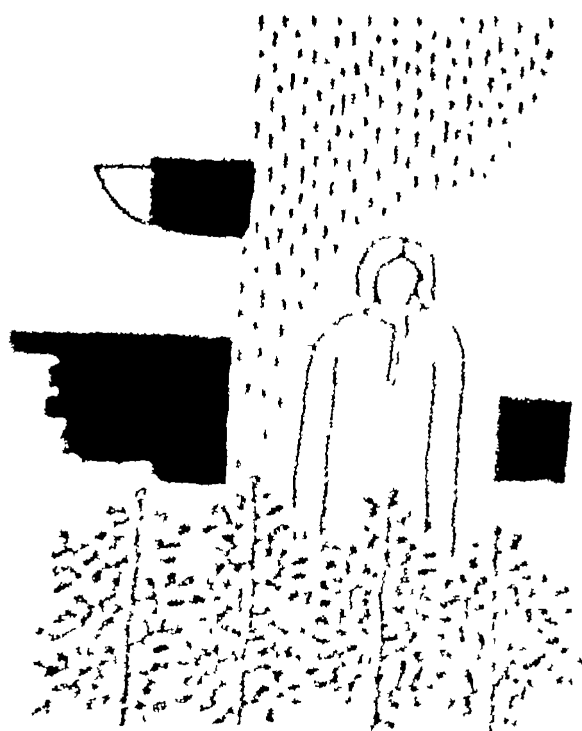


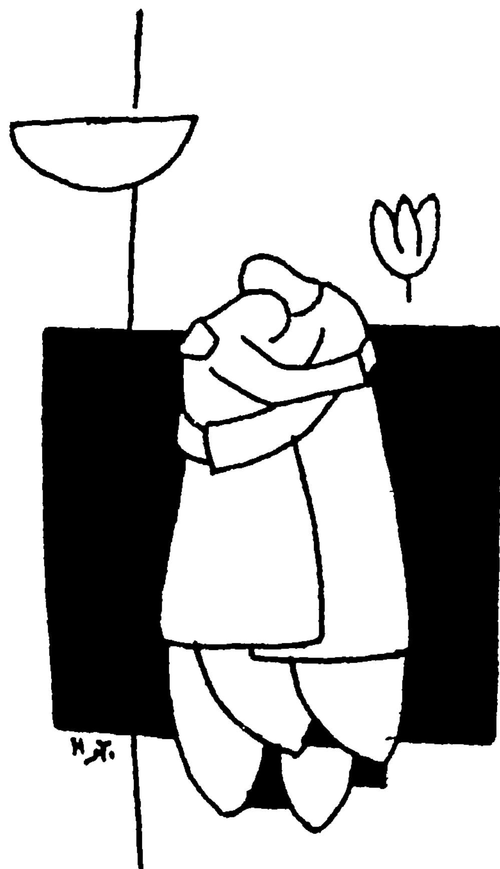
हो कर सुख मे मग्न न फूले दुख मे कभी न घबरावे
पर्वत-नदी-श्मशान-भयानक अटवी से नहि भय खावे,
रहे अडोल-अकम्प निरन्तर यह मन दृढतर बन जावे
इष्ट-वियोग, अनिष्ट-योग मे सहनशीलता दिखलावे ।।८।।



सुखी रहे सब जीव जगत् के कोई कभी न घबरावे,
बैर-पाप अभिमान छोड जग नित्य नये मगल गावे ।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुष्कर हो जावे,
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना मनुज-जन्म-फल सब पावे।।९।।

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर





फैले प्रेम परस्पर जग में मोह दूर ही रहा करे
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहिं कोई मुख से कहा करे
वन कर सब 'युगवीर' हृदय से देशोन्नति रत रहा करे
वस्तु-स्वरूप विचार खुशी से सब दुख-संकट सहा करें ॥११॥

मेरी भावना

हीरा भैया प्रकाशन,

जैन किसे कहा जाए ?

कई बार यह सवाल उठा है कि 'जैन' किसे कहा जाए ? क्या 'जैन' उ कहा जाए जो सयोगवश किसी 'जैन कुल' मे पैदा हो गया है यानी इत्तफाक जिसके माता-पिता जैन हैं, या 'जैन' होना किसी विशिष्ट जीवन-शैली अनुसरण करना है ? आखिर 'जैन' शब्द का अर्थ क्या है ? क्या यह हवा मे-से अचानक कूद कर ज़मीन पर आ पड़ा है अथवा इसके कुछ मायते हैं ?

शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'जैन' शब्द 'जिन' शब्द मे-से विकसित है 'जिन' शब्द 'जि' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है जीतना या हार किसे जीतना, किसे हराना ? स्वय-पर स्वय-की विजय, इन्द्रियों के क्षुद्र की पराजय। ऐसी जो महान् विभूतियाँ हुई हैं, उनके अनुयायी हुए जैन। का अर्थ हुआ वे लोग जो स्वय को जीत रहे हैं – स्वय को असीम कर हैं – स्वय को समत्व से अभिन्न कर रहे हैं – स्वय को इतना विस्तृत कर रहे कि सपूर्ण लोक ही जिनमे धड़कने लगा है।

क्या इस कसौटी पर आज हम खरे हे ? क्या आज हम खुद को पा रहे हैं, या उन तमाम विषमताओं के आगे घुटने टेक रहे हैं, जो हैं चारों ओर मँडरा रही है ?

इस सदर्भ मे विजयनगर-साम्राज्य के सम्राट् बुक्कराय का एक (१३६८ ई) याद आता है। यह अद्भुत है और अपने समकालीन इतिह को पूरी ईमानदारी से पेश करता है। धोखा हम देते हैं, इतिहास सच बोल है। आज से लगभग ६२१ साल पुराना, श्रवणबेलगोला-की-भडारी-बसति यह लेख हमे धोखा नहीं दे सकता। तब दक्षिण के राज्यों मे वैष्णवों (भक्त और जैनों मे बडी तीखी टकराहट थी। वे असमन्वित थे। एक-दूसरे तरक्की को देख नहीं सकते थे। जैनों ने बुक्कराय से निवेदन किया कि भक्तों से अविभक्त होना चाहते हैं, उनसे दोस्ती चाहते हैं। उनसे समन्

सामंजस्य चाहते हैं। वे चाहते हैं कि विजयनगर का एक समन्वित नैतिक और सांस्कृतिक विकास हो। उनकी इच्छा है कि वैष्णव और जैन दो न हो कर, एक हों। दोनों एक-दूसरे के दुःख-सुख आपस के दुःख-सुख मानें।

बुक्कराय के मन को जैनों का यह प्रस्ताव छू गया। उसने अठारह नाडुओं (राज्यों) के सकल आचार्य, सकल समयी, सकल सात्त्विक, सकल मौष्टिक आदि को आमंत्रित किया और यह कहते हुए कि वैष्णव दर्शन और जैन दर्शन में भेद नहीं है ऐलान किया कि यदि भक्तों (वैष्णवों) द्वारा जैन दर्शन की हानि या वृद्धि की जाएगी तो वैष्णव उसे अपने धर्म की हानि या वृद्धि समझेंगे। इस तरह उस दूरदृष्टा शासक ने एक स्वस्थ और रचनात्मक समझ को जन्म दिया और युगों से आमने-सामने टकरा रहे दो अहिंसक समूहों को एक अमोघ शक्ति में बदल दिया। उसने जैनों का हाथ पकड़ कर श्रीवैष्णवों के हाथों में रख दिया। माना जाता है कि इसी समय से विजयनगर में शाकाहार की महत्ता स्थापित हुई और चारों ओर अहिंसा का जयनाद हुआ।

ऐसे में दो बातों का स्मरण अचानक हो आता है। एक तो नरसैंयु भगत का वह पद जो गांधीजी को बहुत प्रिय था और जो उनकी प्रार्थना-सभाओं का सिरमौर था और दूसरा यह कि जब एक राजा समन्वय और ऐक्य के लिए अठारह राज्यों के समयी, सात्त्विक, मौष्टिक आदि को आमंत्रित कर इस तरह के एक स्वस्थ अभियान का सूत्रपात कर सकता है तो क्या हमारे प्रमुख जैनाचार्य अपने-अपने सम्प्रदाय में या कुल मिला कर सब, इस देश में किसी अहिंसक युग का शुभारंभ नहीं कर सकते? किन्तु मुश्किल यह है कि उनमें परस्पर मतभेद हैं और वे एक-दूसरे की पहिचान विसर्जित करने का खतरा नहीं उठाना चाहते। उनका साम्प्रदायिक या पंथगत या व्यक्तिगत अहंकार हर कदम पर आड़े आता है।

तो पहले हम विचार करते हैं उस पद पर जो नरसैंयु भगत का है। इसके कुछ अंश हम यहां अविकल उद्धृत करेंगे और चाहेंगे हरेक जैन से कि

मेरी भावना,

वह 'वैष्णव' के स्थान पर 'जैनी' रख कर यह पता लगाये कि क्या जैन और वैष्णव मे कहीं किसी फर्क की गुजाइश है या फिर कोरी जिद के कारण वह इन मानवतावादी सिद्धान्तों से मुंह मोडे हुए है ?

प्रथम पद-पक्ति है – 'वैष्णव जन तो तेने कहीये, जे पीड पराई जाणे रे परदु:खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे'। अजीब कसौटी है वैष्णव वह है जो दूसरों की पीडा को अपनी पीडा जाने और सकटग्रस्त भा के लिए यदि कुछ करे तो उसका कोई अहकार मन मे न लाये। कै अद्वितीय निष्कर्ष है ! । क्या इस कसौटी पर आज का वैष्णव या आज जैन खरा उतर सकता है ? है कोई जैन जिसके मन मे दूसरे के दर्द के लि कोई प्रशम भाव उत्पन्न हो ? करुणा – पता नहीं आज वह कहाँ लुप्त हो गा है ? इसलिए जब किसी खानदानी जैन से बात की जाती है कि कहिये आ अपने पेशे में अहिसा का कितना परिपालन कर रहे हैं ? तो वह कहता है देखिये, धन्धा बात अलग है और धर्म अलग। दोनों मे परस्पर कोई रिश शायद नहीं है। लोक-व्यवहार मे इतनी हिसा तो क्षम्य है ? जब उससे पूछ जाता है – कितनी हिसा ? तो फिर वह बगले झाँकने लगता है।

क्या उसे अनुमति है कि वह पोल्ट्री फार्म चलाये और अण्डों-का-उत्पाद बिक्री करे ? क्या उसे अनुमति है कि वह ट्रकों मे देवनार या अन्य कत्लखा तक भेंड-बकरियों को ढो कर ले जाए या भिजवाये ? क्या उसे अनुमति कि वह यह कहे कि गाय-के-दूध की अपेक्षा मुर्गी-का-अण्डा अधिक पौष्टि है ? (देखें–'नईदुनिया', इन्दौर, १८-३-१९८८, आर के बघेरवाल)। क्या कोई जैन या वैष्णव यह कहे कि अण्डा सौंदर्य को निखारता है उसका खु कर इस्तेमाल किया जाए ? (देखें–'गृहशोभा', दिल्ली, मई १९८७, नमित जैन)। क्या उसके मन मे जीव या जीवन-मात्र के लिए उतनी ही करुण नहीं होनी चाहिये जितनी अपने परिजनों के और स्वय के लिए होती है क्या उसे अपने पेशे/धन्धे मे हेय-उपादेय, ग्राह्य-अग्राह्य, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवे नहीं रखना चाहिये ?

क्या हिंसा मे रस ले कर भी कोई स्वयं को 'जैन' कहने/पुकारने का अधिकार बनाये रख सकता है ?

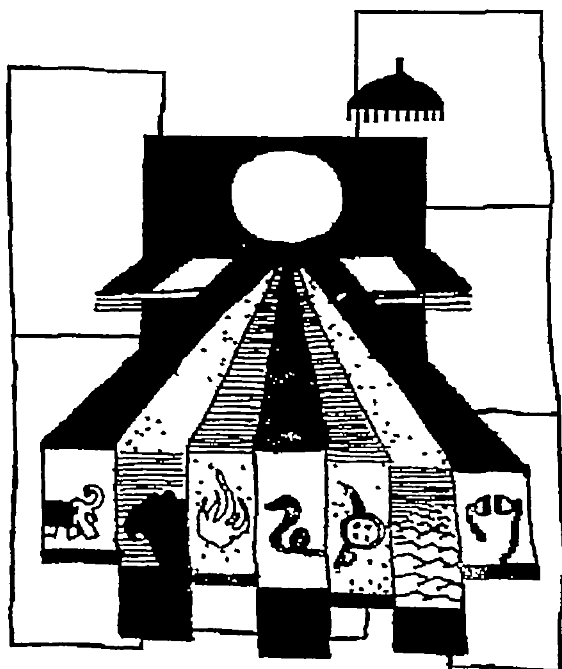
इस एक पक्ति मे अहिंसा-मे-आस्था रखने वाले हर व्यक्ति को परिभाषित कर दिया गया है। जहाँ भी कोई साँस या धड़कन है, वह प्रणम्य है, सम्मान-के-योग्य है। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी तमाम प्रणम्य हैं, रक्ष्य हैं। उनकी रक्षा की जानी चाहिये।

भक्त नरसैंयुं की यह पक्ति बहुत गहरे गयी है। इसका अर्थ पल-दो-पल मे नहीं, जनम-दो-जनम मे खुल सकता है। जब हम किसी ताँगे मे होते हैं या हमारा कोई भाई बैलगाड़ी मे जुते बैलों को बेरहमी से हाँक रहा होता है, बिना यह सोचे कि उसकी गाड़ी में कितना बोझ है – तब इस पक्ति का ध्यान आ जाता है। हम देखते हैं कि बैल बेचारे बोझ सँभाल नहीं पा रहे हैं, सांस चढ़ी हुई है, झाग बह रहा है और उन पर कोड़े बरस रहे हैं या उन्हें आर चुभोयी जा रही है – क्या तब हम कुछ कह पाते हैं ? इतना ही नहीं जहाँ कहीं कोई चिकित्सकीय प्रयोग होता है तो प्रयोगशालाओं में इनके साथ जो अमानुषिक बर्ताव होता है, वहां भी यह पंक्ति हमारा पीछा करती है।

यह पक्ति हर जगह हमारा पीछा करती है; किन्तु हम हैं कि [illegible] कारखाने और उद्योग लगातार लगाते जा रहे हैं, जो नदी की मछलियों समुद्र [illegible] के जीव-जन्तुओं के प्राण ले रहे हैं। हम [illegible] की खेती कर रहे हैं [illegible] मेंढकों की टांगें काट रहे हैं, [illegible] और [illegible] को नष्ट कर [illegible] रहे हैं। हमारी संवेदनशीलता लगभग खत्म हो चुकी है। जहाँ विदेशों में [illegible] अहिंसा और शाकाहार का [illegible] हो रहा है; [illegible] यह है कि [illegible] मे भक्त नरसैंयुं की यह पक्ति [illegible] है और [illegible] । उसे ओठों पर तो [illegible] हैं; किन्तु जीवन में वह [illegible] यहाँ तक कि गुजरात में ही [illegible] हिंसा का जो माहौल [illegible] रहा है [illegible] [illegible] तरह बौद्ध धर्म इस देश से [illegible] [illegible]

हीरा भैया प्रका

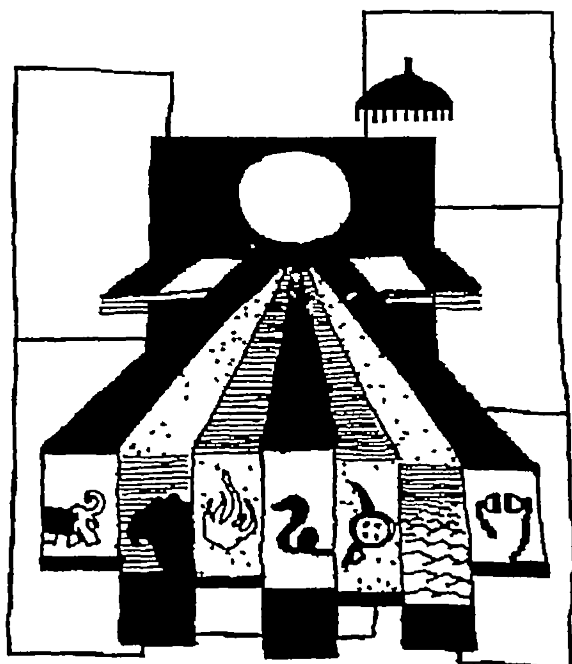
भक्तामर स्तोत्र



डॉ. नेमीचन्द जैन

भैया प्रकाशन, इन्दौर

भक्तामर स्तोत्र



डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

भक्तामर स्तोत्र

(प्रतीक चित्र, मूल, पद्यानुवाद, अन्वय + अर्थ, विशिष्ट भूमिका-सहित)

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

प्राक्कथन

'भक्तामर स्तोत्र' का यह सस्करण हमारे धार्मिक पाठक को एक नवसस्कार इस मायने मे प्रदान करेगा कि इस क्षेत्र के तमाम प्रकाशनो से यह सर्वथा भिन्न है, जिसमे प्रतीक (श्लोक-चित्र), मूल श्लोक, अनुवाद, अन्वय और अर्थ क़ा क्रमबद्ध सयोजन है। जिससे श्लोक को सरलता और सुगमता से समझा जा सकता है।

भक्तामर या 'आदिनाथ स्तोत्र' जैनधर्म, दर्शन की प्रमुख मान्यताओ और सिद्धान्तो का एक लघुरूप है, विन्दु मे सिन्धु अपनी अतल गहराइयो मे। इसमे आचार्य मानतुग ने जैनदर्शन की मूल शब्दावली का भक्ति के तल पर बड़ा तलस्पर्शी और सार्थक उपयोग किया है।

वस्तुत. 'भक्तामर स्तोत्र' को बाँचना नहीं, वल्कि गहरे मे उतर कर समझना चाहिये, घोखना नही वरन् अन्त शोध का एक सशक्त माध्यम बनाना चाहिये, चूँकि स्वयं स्तोत्रकार ने इस प्रशस्त भक्तिपथ पर चल कर मृत्यु को जीता है तो क्या हम 'त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युम्' का अर्थ भलीभाँति नहीं समझ पायेगे ? सपूर्ण स्तोत्र मृत्यु के लिए आवश्यक समझ/विवेक को जन्म देने का पग-पग पर पराक्रम कर रहा है, फिर यह बात विलकुल अलग है कि उस महिषी भैस की तरह हम हो जो सगीत की मधुर धुनो को बराबर व्यर्थ करती रहती है। रचनाकार कहते है कि 'हे प्रभो, तुम्हे पाया जाए और ऐसी प्रक्रिया और परिपूर्णता मे पाया जाए कि वह आत्मोपलब्धि ही हो'।

'भक्तामर स्तोत्र' की अन्तरात्मा मे गहरी पेठ के लिए प्रत्यूष का प्राकृतिक एकान्त चाहिये और चाहिये लौकिक कामनाओ से मुक्त अभीत/निर्द्वन्द्व/निश्चिन्त/आश्वस्त चित्त, फिर देखिये इस स्तोत्र का परम वैभव, इसकी अपूर्व अध्यात्म-छटा। जो सुख आप करोडो की सपदा मे-से नहीं पा सकते यह सब उससे कई गुना अधिक सन्निविष्ट है इन श्लोको मे वशर्ते आप उस समीक्षिका के धनी हो जो माटी मे-से सोना को अलगाती है या चीटी की उस कलामर्मज्ञता को जानते हो, जो वालुकणो मे पडी शर्करा को जुदा करती है या हँस के गले मेन लगे उस प्रज्ञछन्ने की भाँति हो जो नीर-क्षीर अलग करने मे सिद्धहस्त है।

'भक्तामर स्तोत्र' का जितना-जितना परिमन्थन हम करते है, उतना-उतना मर्मवोध हमे होता है। भक्तामर मात्र जिन-भक्ति का आधार स्तोत्र नहीं है अपितु वह जैनधर्म/दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तो को भी हमारे सम्मुख पूरे सामर्थ्य के साथ पेश करता है। स्तोत्रकार ने आरभ और मध्य मे ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है, जो समग्र स्तोत्र को जैनाध्यात्म के मूल से जोड देती है। मसलन 'सम्यक्' शब्द को हम ले। यह शब्द श्लोक मे कवि ने कहा है 'सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगम्'। प्रणाम मानतुग को असली करने है, मात्र दिखावे मे सिर नही झुकाना है। असली प्रणाम अर्थात् तन-मन दोनो की अपूर्व सयुक्तता मे-से आविर्भूत प्रणाम। जव हम जानते है कि हम किसे, क्यो और कैसे प्रणाम कर रहे हैं। हमारा झुका हुआ मस्तक किन चरणो मे है, तव कहीं प्रणाम की सार्थकता वनती है। 'सम्यक्' जैनो का एक वुनियादी विशेणता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' का प्रथम सूत्र है . 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग'। 'सम्यक्' यहाँ भी है। सम्यक् दर्शन/सम्यक् ज्ञान/सम्यक् चारित्र/सम्यक् प्रणाम, इस तरह 'भक्तामर स्तोत्र' के 'सम्यक्' शब्द को जव हम जैनदर्शन की अन्तरात्मा (सम्यक्त्व) से जोड कर देखते है तव अधिक उपलब्ध करते हैं।

यही शब्द २३ वे श्लोक मे फिर आया है, जहाँ भक्त की सम्यक् प्रणति ने मृत्यु को चुनौती दी है। वह कहता है कि तुम्हारे सम्यक् आराधन मे मृत्यु को जीतने का रहस्य छुपा हुआ है । श्लोक पक्ति है-'त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु'; यानी तुम्हे ठीक-ठीक उपलब्ध कर मृत्यु को भी जीता जा सकता है।

यह मृत्यु को जीतना क्या है ? क्या सारा काव्य इस कालजयता की ओर उत्तिष्ठमान नही है ? क्या 'भक्तामर स्तोत्र' के माध्यम से मानतुंगसूरि ने हमे मृत्यु से आगे निकल जाने का मार्ग नही बता दिया है ? क्या वे लोग ही हमे मृत्युजयता की डगर नही दिखाते रहे है, जिन्होंने स्वय मृत्यु को अतिक्रान्त कर लिया है ? इस तरह 'भक्तामर स्तोत्र' मृत्यु पर विजय-पताका फहराने के मन्त्रबो का कालजयी काव्य है। 'सम्यक्' का प्रयोग विलक्षण है और हमारे जीवन को एक नया मोड़, अभिनव उत्थान देने वाला है। दर्शन के साथ तो 'सम्यक्' पहले से ही जुडा हुआ था, भक्ति के सा उसे जोड कर आचार्यवर ने वह सब कर दिया है, जो और-और लोग करना लगातार चूकते रहे हैं

कुआ जितना ऊँडा होता है, जल उसका उतना ही मधुर, निर्मल और विश्वसनीय होता है। ज की विमलता, मिठास और शीतलता कुए की गहराई पर निर्भर करती है। स्तोत्रादि के सबन्ध में ऐसा ही है। इनमे आप जितने गहरे जाएँगे, स्वानुभूति की मिठास और वैमल्य उतने ही अधि आपकी अजलि मे सिमिट आयेंगे। 'भक्तामर' का हर श्लोक एक गहरा कुआ है । इसमे आप जि गहरे अपना चित्त-पात्र दर्शन की डोर से बाँधकर डालेगे उतना ही निर्मल/मीठा जल आप मिलेगा। मानतुग ने जिस निर्मलता से श्लोक-सृष्टि की है यदि उस/उतनी, गहरी/निष्कलुष/प पावनी/निष्काम भूमिका पर बैठ कर हम रसास्वाद लेंगे तो अनायास ही जीवन के ऐसे किसी तुग शिखर पर जा पहुँचेगे जहाँ प्रकाश के अलावा कुछ होगा ही नहीं। 'सही पहुँच, सही गन्तव्य' के सूत्र पर हमे, वस्तुत., चलना होगा ताकि हम अपनी सपूर्ण यात्रा निर्बाध सपन्न कर सके।

प्रश्न केवल पृष्ठभूमि का ही नही है, बल्कि 'भक्तामर स्तोत्र' की बनावट को समझने का भी है। लोग अक्सर इस ओर ध्यान दिये बिना ही अपने क़दम उठाते चलते हे, अत. न तो स्तोत्र की मात्ता को वे समझ पाते है और न ही इससे कोई लाभ ले पाते हे।

सहज ही मन मे उठता है कि रचयिता ने वसन्ततिलक वृत्त (सिहोन्नता उद्धर्पिणी, मधुमाधवी इस वृत्त के अन्य नाम है) को ही 'भक्तामर स्तोत्र' के लिए क्यो चुना ? इतने सारे वृत्त/छन्द (मनोरम, हरिलीला, प्रहरण कलिका, अनन्द, वासन्ती) उसके सामने थे तो फिर उसने इस वृत्त को ही क्यों चुना ? १४ अक्षर वाले इस वृत्त मे ऐसी कौन-सी खूबियाँ है, जिनकी ओर रचयिता का ध्यान उलझ गया है ?

पहली बात यह है कि वसन्ततिलक शक्वरी जाति का वृत्त है। शक्वर कहते है बलीवर्द, बैल, वृषभ को। भगवान आदिनाथ का लाँछन बैल है। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश का प्राण वृषभ है। वृषभ का सम्बन्ध शिव से भी है। वह न्याय, धर्म और सत्कर्म का पर्याय शब्द भी है। लगता है आचार्य मानतुग का ध्यान इन तथ्यों की ओर अवश्य गया है।

दूसरा चमत्कार सुनिये। इस वृत्त मे १४ अक्षर है, जिन्हे 'तगण भगण जगण जगण गुरु गुरु' के क्रम मे सयोजित किया गया है। 'ज' मोक्ष, गति, कान्ति विषय का प्रतीक है, 'त' अमृत का, 'भ' भ्रम का- इस तरह अमृत से आरभ हो कर भ्रम-विध्वसन करता हुआ दुगने वेग से मोक्ष-गौरव की ओर जाने वाला यह वृत्त है, कहीं इसीलिए तो मानतुगसूरि ने इसे नहीं चुना है ? और देखे। वसन्ततिलक मे ७ लघु और ७ गुरु अक्षर है। बेहद अच्छा सतुलन है। न छोटे को शिकायत, न बडे को। इस तरह वृत्त के हर चरण मे विष को बुहार कर अमृत इस तरह बरसाया गया है कि मोक्ष, कहे मोक्षमार्ग, अनायास सामने आ खडा हुआ है।

स्तोत्र के एक श्लोक मे १४ X ४ = ५६ अक्षर हैं अर्थात् पूरे स्तोत्र मे २८८८ अक्षर है। अब आप इस अक्षर-सख्या का चमत्कार देखिये। २ के अक से हर ८ का गुणा कर दीजिये , ४८ श्लोक आपके सामने आ खड़े होगे। छोडिये इसे भी। दूसरा श्लोक को लीजिये। इसमे 'प्रथम जिनेन्द्रम्' की स्तुति का सकल्प है। आठवे श्लोक को लीजिये, जिसमे स्तोत्रकार का प्रखर आकिचन्य-बोध तो प्रकट हुआ ही है, भक्ति की महिमा भी अपनी सर्वोत्कृष्टता मे अभिव्यक्त हुई है। सवाल आधेय का उतना नहीं है, जितना आधार का है। पानी की बूँद कमलिनी के पत्ते पर मोती बनी है, इसमे पानी की बूँद का भला क्या, प्रश्न तो कमलिनी के पात की स्निग्धता/अनुरक्तिपूर्ण विरक्ति का है। कोई भी सासारिक कमलिनी के पात की बूँद तब बन सकता है, जब वह ससार मे हो कर भी ससार मे न हो। ससार मे आप हो भी और ससार मे तब भी न हो, ऐसे मे ही आपकी क्षणभगुरता को एक विशिष्ट आभा मिल पाती है। यह सब भक्ति की महिमा तो होगी ही, जीने की एक विशिष्ट शैली भी होगी।

इसके वाद १६ वे श्लोक पर आइये। इसके प्रथम शब्दोच्चार के साथ ही आपका ध्यान उस दीप की ओर चला जाता है जो आपकी काया मे आठो याम पूरी अखण्डता मे बल रहा है। यह दीपक तीनो लोको को उजागर करने वाला है। आप है ऐसे दीपक, मैं हूँ ऐसा दीपक, वे हैं ऐसे दीपक। ध्यान उस परम आराध्य की ओर तो जाता ही है, किन्तु यह है वीतरागा भक्ति जिसमें ध्यान 'उस ओर, इस ओर, दोनो ओर' पूरी अप्रमत्तता मे जाता है। उस ओर मे प्रत्यावर्तित ध्यान जब इस ओर आता है तब फिर एक ऐसा दीया अपनी परम ज्योति मे प्रज्ज्वलित दीख पड़ता है जिसमें न तेल है, न वाती है , न काजल है। इस तरह इस श्लोक मे वर्णित दीपक उस परम ज्योति का परम प्रतीक है जो अन्तिम सत्य है।

इसके वाद ले २४ वाँ श्लोक जिसमे गागर मे सागर समा गया है। इसमें [illegible] संबोधनों/अभिधानों के माध्यम से आचार्य मानतुग ने जहाँ एक ओर अपनी पूर्ववर्ती दार्शनिक मान्यताओं का अनेकान्तात्मक शैली मे स्मरण किया है, वहीं आत्मा की अनन्त शक्ति को भाषा के तल पर समझाने का यत्न भी है। यदि ४८ वे काव्य (भक्तामर के संदर्भ में [illegible] के अर्थ में प्रयुक्त हुए है।) को हम तनिक हटा ले तो यह श्लोक स्तोत्र के बिल्कुल केन्द्र में [illegible] मुस्करा रहा है। इसमें सारे भक्तामर का हृदय इस एक श्लोक में धड़क रहा है। इस तरह २/८/८/८ के [illegible] समझने की कोशिश हमें करनी चाहिये।

'भक्तामर' मे जिन प्रतीको और रूपकोका प्रयोग हुआ है, वे महत्त्व के है। इनके माध्यम से जैनधर्म के बुनियादी सिद्धान्त तो विवेचित है ही, आत्मबोध के लिए भी राजमार्ग खुल गया है।

श्लोक ३८ से ४६ तक जिन भयों/उपसर्गों का वर्णन है, उन्हे लौकिक तल पर सोचने की अपेक्षा अलौकिक और आध्यात्मिक तल पर सोचने/जानने/परखने की आवश्यकता है। श्लोक ३८, ३९, ४०, और ४१ को ही हम ले। ३८ वे श्लोक मे जिस मत्तद्विपेन्द्र (मदोन्मत्त हाथी) का उल्लेख है उसे समझने का प्रयत्न हम करे। परम्परा में हाथी को मन का उपमान/प्रतीक माना गया है। चूँकि मन और मान दोनो अधिक फासले पर नहीं है, इसीलिए हाथी को मान का प्रतीक भी माना गया है। भगवान् बाहुबली के संदर्भ मे कथा है कि जब तक वे हाथी पर से नही उतरे, तब तक उनमे कैवल्य प्रकट नहीं हुआ। 'मत्तद्विपेन्द्र' मे उसी मन-मान का सकेत है। घाति कर्मों के अगुआ मोहनीय को कौन नही जानता ? मान, क्रोध, माया, लोभ की चौकडी का सरदार भी मान ही है। मानतुगसूरि ने मान की चोटी ही सबमे पहले पकड़ी है। मान यदि अंकुश के नीचे आ गया तो मन को आकिचन्य/विनय का बोध होगा। विनय महत्वपूर्ण है। झुका हुआ/ विनीत मन क्रोध की ओर दौड ही नहीं पायेगा। इसी क्रम मे आप आये सिह/मृगराज/मृगाधिप पर। वह क्रोध का प्रतीक है। क्रोध मे विवेक और सतुलन मुट्ठी से खिसक जाते है। अविवेकी कुछ भी कर सकता है। वह साध्य/साधन की पवित्रता-अपवित्रता नही देखता। उसे चाहिये सपदा, फिर चाहे वह खून में सनी ही क्यो न हो ? ३९ वे श्लोक मे वर्णित रक्तरंजित गजमुक्ताओं पर ध्यान दे। यहाँ आचार्य मानतुग ने हमारा ध्यान साध्य-साधन की पावनता की ओर आकर्षित किया है। यह एक सर्वोत्तम काव्य है। इस तरह के श्लोक आत्मावलोकन/आत्ममूल्याकन का अमूल्य अवसर प्रदान करते है। इस एक श्लोक को पकड कर समग्र जैन समाज पवित्रताओ की ओर मुड सकता है। आज मदिर/मूर्तियाँ है, किन्तु कई जगह वे रणस्थल बने हुए है। इस तरह हमारे साधन आज दूषित है, इस ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये।

४० वाँ श्लोक दावाग्नि से सबन्धित है। वन का रूपक योगपरक है। योग मे वन ससार का प्रतीक माना गया है। अग्नि माया के उपमान के रूप में परम्परित है। माया अग्नि की भाँति सर्वभक्षी है। इस अग्नि-कुण्ड मे भला क्या बचा रह सकता है ? किन्तु जैसे ही आराध्य ध्यान मे आते है/ उनका नामोच्चार गूँजता है, दावानल शान्त हो जाते है (त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्)। प्रभु का नाम जल उसे पूर्णत बुझा देता है। मान पर, क्रोध पर, और माया पर अकुश पा लेने के बाद लगभग तीन-चौथाई संग्राम जूझा जा सकता है; शेष पर चौथाई मैदान लोभ का है, किन्तु प्राय· हाथी निकल जाता है पूँछ अटक जाती है। मान/मन का हाथी तो निकल गया; किन्तु लोभ की पूँछ रह गयी। ४१ वें श्लोक का रक्तेक्षण (लाल-लाल आँखो वाला) नाग, लोभ का प्रतीक है। फन उठाये डसने आता लोभ किसे मुआफ कर सकता है ? इससे निवटना प्राय. मुश्किल ही होता है। बडे-बडे लोग लोभ के कर्दम मे बुरा तरह फँसते देखे गये है। यदि जीवन में निर्लोभ वृत्ति विकसित हो जाए तो फिर शायद

करने को कुछ रह नही जाता है। लोभ को परम्परा मे पाप का बाप कहा गया है, इसीलिए मानतुगसूरि ने इकतालीसवे श्लोक मे लोभ का रूपक खडा किया है और कहा है कि भगवान् आदिनाथ की भक्ति मान, क्रोध, माया और लोभ की चौकड़ी का अन्त करने वाली है। इसके वशीभूत होते ही मोहनीय कर्म अकुश तले आ जाते हैं और व्यक्ति काफी ऊँचा उठ जाता है। इससे आगे के प्रतीक वेदनीय, जो अघाति कर्मों का सरगना है, से सबन्धित हैं।

४२ और ४३ वे श्लोक मनुष्य के भीतर अनुक्षण छिडे महाभारत के दृश्यो से सबन्धित है। ये दोनों मिल कर जैन गीता की सरचना करते है। आत्मा और कर्म का युद्ध सनातन है। इन दो श्लोको मे यही सग्राम प्रतीक रूपेण चित्रित है। इन्द्रिय-समूह युद्धरत है। युद्ध घमासान है। हाथी-घोडे, मान-मन चिघाड/हिनहिना रहे है, इस युद्धान्धकार पर विजय वही पा सकता है, जिसके पास भेदविज्ञान का ब्रह्मास्त्र है। ये दोनो श्लोक संग्राम के जीवन्त प्रतीक है। सग्राम समूहवाची शब्द है। ग्राम/सग्राम दोनो की व्युत्पत्तियो पर ध्यान दे। ग्राम समूह को कहे, सग्राम से विशिष्ट समूह का अर्थ ले। मानतुगसूरि ने ४७ वे श्लोक में 'सग्राम' शब्द ही काम मे लिया है। वे चाहते तो किसी अन्य शब्द को चुन सकते थे, किन्तु तव वे अपने प्रयोजन मे हार जाते। इस विशिष्ट शब्द-सयोजन मे उनकी विजय हुई है।

सागर ससार का प्रतीक है। उसे भी हम उसके पूर्ववर्ती श्लोको की सगति और सदर्भ मे समझने का प्रयत्न करे।

सारे शरीर मे पेट का स्थान महत्त्वपूर्ण है। सारे रोगो की शुरूआत वहीं से होती है। अच्छे चिकित्सक का ध्यान सबमे पहले पेट पर की जाता है। जलोदर पेट का असाध्य रोग माना गया है। जिस तरह कायिक रोगो मे उदर का उक्त रोग असाध्य है, वैसे ही आत्मविकृतियो मे कर्म सबमे बड़ा शत्रु है। उदर पर काबू पाने के बाद किसी ओर पर अकुश पाने की आवश्यकता जिस तरह नहीं रह जाती है, ठीक वैसे ही कर्म पर नियन्त्रण पाने के उपरान्त फिर व्यक्ति निर्वन्ध/मुक्त हो जाता है/होने लगता है।

इस तरह ४६ वे श्लोक मे मुक्ति को एक जीवन्त रूपक के रूप मे सँजो दिया गया है। जिन बन्धनो का वर्णन इस श्लोक मे हुआ है, उन्हे किंचित् गहरे उतर कर समझने की आवश्यकता है। भक्ति का क्षेत्र, विशेषत जिन भक्ति का क्षेत्र, इन सारे बन्धनो को हँसते-गाते खोल सकता है। श्रेष्ठ भक्ति भक्त को ससार से विभक्त कर देती है। भक्ति का मतलब ही है कि वह व्यक्ति को ससार से काटे और उसे आत्मा की जीवन्त सत्ता से जोडे। इस तरह 'भक्तामर' के सारे प्रतीको को समझने की कोशिश की जानी चाहिये।

ऐसा नही है कि 'भक्तामर स्तोत्र' के रचयिता आचार्य मानतुग ने अपने इस अप्रतिम स्तोत्र मे सिर्फ एक ही अर्थ निनादित किया है। वस्तुत इनमे नाना अर्थध्वनियाँ युगपद् सुनी जा सकती हैं। ३८ वें और ३९ वे श्लोको मे उस स्वैराचारी सामन्त का सांगोपागा वर्णन हुआ है जो धार/वाराणसी

भोज / हर्ष· कही का/ कोई भी हो सकता है। मानतुग के इन श्लोको मे आपबीतियो की जो रामकथा कही है, वह प्रतीकात्मक होते हुए भी इतिहास मे एकमेव है।

मानतुंग जिनकल्पी मुनि नही है, किन्तु जिनकल्पी-जैसे साधु तो है ही। वे अभीत हैं। भक्ति ने उनके सारे भय नष्ट कर दिये है। मानतुग पर उपसर्ग है, किन्तु ध्यान मे उन्होंने उसे नकार दिया है। ताले टूट गये है। बन्धन कट गये है। यह है भक्ति, अनन्य वीतरागा भक्ति। वे सिह की तरह विचरण करते है, किसी के अधीन नही है, राजा का शासन लौकिको पर हो सकता है, अलौकिको पर शासन करने का उन्हें अधिकार इस देश मे कभी नही रहा है। मानतुगसूरि ने चुनौती झेल कर साधुओ के लिए उस युग में जो जमीन तैयार की थी, वह आज भी कायम है।

उस समय की राजनीति का चित्रण भी 'भक्तामर' के अन्तिम श्लोको में दृष्टव्य है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी ३८ से ४७ तक के श्लोक विश्लेषणीय है। इनमे उन दिनो के व्यापार और दण्डविधान को सक्षेप में परिभाषित कर दिया गया है। बिन्दु मे सिन्धु समेटा गया है। व्यापार का वर्णन भी हुआ है। समुद्र की यात्राएँ कितनी कठिन थी, फिर भी भारतीय उन्हे सपन्न करते थे, इस तथ्य की अभिव्यक्ति भी हुई है। युद्ध-चित्र भी प्रस्तुत हुए है। उन दिनो जो दार्शनिक बहसे थी उनका समाहार भी इस स्तोत्र में हुआ है।

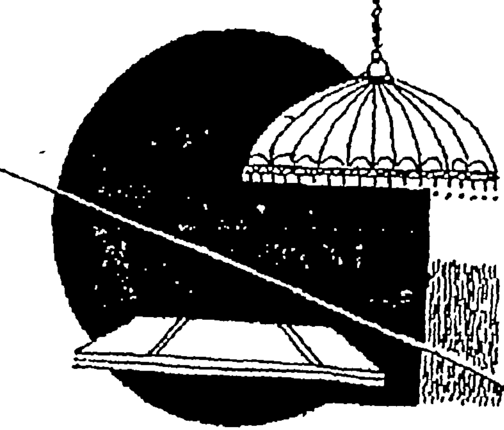
आचार्य मानतुंग न केवल एक महामनीषी कवि थे, अपितु भाषा पर भी उन्हे अपरिसीम अधिकार प्राप्त था। सहज,बोधगम्य सस्कृत का जैसा प्रयोग 'भक्तामर स्तोत्र' में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस एक स्तोत्र ने कइयों को सस्कृत सीखने पर विवश किया है। भक्तामर सुगेय है। उसका अपना निराला शब्द / नाद सौदर्य है। काव्य की दृष्टि से तो वह महत्त्वपूर्ण है ही, आत्मविद्या की दृष्टि से भी उसका काफी महत्त्व है। यदि अखण्ड पाठ के क्षणो मे हमारा ध्यान स्तोत्र मे अनुगुजित अर्थ पर जाता है तो ही हम ऐसे पाठ को अखण्ड कह सकते हैं, अन्यथा उसे खण्डित ही मानिये। क्या हम कभी प्रयत्न करेंगे कि 'भक्तामर' की सतहे भेद कर उसकी तहों मे छुपे परमार्थ को जाने और उससे कृतकृत्य हो।

मूलानुगामी पद्यानुवाद(१९८१) को मैंने मानतुग की सृजन-भूमिका पर लगभग उतने ही बावलेपन के साथ लिखा है। इसकी शैली आज की/अभी की है। इससे मूल को १९९६ के भाषातल से जोडा जा सका है। मूल से अविचलित तथापि रचनात्मकता की गोद में मुस्कराते इस अनुवाद की महत्ता से मुँह मोड़ना आसान नहीं है। माना, यह गेय नहीं है, किन्तु यह अतरग में अनुभूति की जिन निर्मल झिरियो को जन्म देता है, वे अनर्घ्य है, महत्त्व की है और जीवन को एक नया आध्यात्मिक अनुशासन प्रदान करने में पूर्णत· समर्थ है। पद्यानुवादों की अब तक की मुद्राओ में यह अनुवाद लीक से हट कर एक भिन्न मुद्रा मे प्रस्तुत/संयोजित है। श्लोको के अन्वय+ अर्थ भी मैंने तैयार किये है, जिनसे उन्हे सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है।

-डॉ. नेमीचन्द जैन

सपादक 'तीर्थंकर' / 'शाकाहार-क्रान्ति'





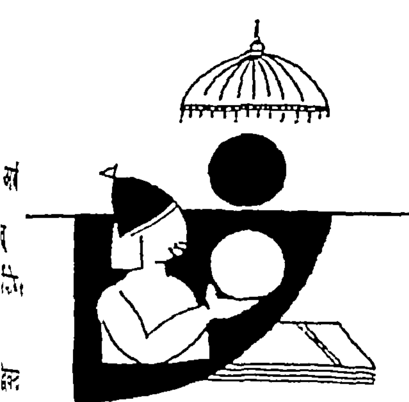
ः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
द्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

नवाणी के
रम बोध
न्थन-चिन्तन से
मल-दक्ष है जिसकी प्रज्ञा,
न लोक का मन जीते जो ।
वलोक-पति ने
तुति की
सी शुभ जिसकी ।
स आदिनाथ की
तुति-रचना
निमित्त
भी संकल्पित

अन्वय + अर्थ

सकलवाङ्मय तत्त्व बोधात्
संपूर्ण जिनवाणी के परम अर्थवोध से
उद्भूत बुद्धि पटुभिः
उत्पन्न मति से प्रवीण वने/वुद्धिवन्त
सुरलोकनाथैः
देवलोक के स्वामी इन्द्रो ने
जगत् त्रितय चित्तहरैः
तीनो लोक के चित्त का हरण करने वाले
उदारैः
विशद/गभीर अर्थगर्भित
स्तोत्रैः
स्तोत्रों से
यः संस्तुतः
जिनकी स्तुति की है
तं प्रथमं जिनेन्द्रम्
उन प्रथम तीर्थंकर प्रभु आदिनाथ का
किल
सकल्पपूर्वक
अहं अपि
मै भी
स्तोष्ये
स्तवन करूँगा ।

सपूर्ण वाङ्मय के तत्त्वबोध से जिन्हे बुद्धि-कौशल की सम्प्राप्ति हो चुकी है, ऐसे देवेन्द्रो द्वारा त्रिभुवन के चित्त को आकर्षित करने वाले उदार स्तोत्रो से स्तूयमान उन प्रथम जिनेन्द्र की मै भी स्तुति करता हूँ ।

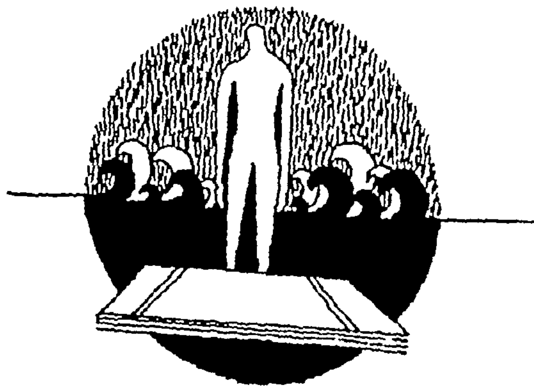


ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ !
तु समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
ल विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
य क इच्छति जन· सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

द्धि कहाँ ?
र्चित ।
र्चन करूँ तुम्हारा
र भी निलज
हीन-मति
तुति के निमित्त
मुपस्थित ।
शिशु को छोड़
कौन ऐसा जो
ल में पड़ती
चन्द्र-छाँव को
सहसा
ने की हठ ठाने ?

विबुध अर्चित पादपीठ
देवो ने जिनके पादपीठ/पीढे की पूजा/
अर्चना की है ऐसे हे जिनेन्द्र !
बुद्ध्या विना अपि
बुद्धि के बिना भी
विगत त्रपः
लज्जा-रहित/वे-झिझक रह कर
अहम्
मै
स्तोतुम्
आपकी स्तुति के निमित्त
समुद्यत मतिः
तत्पर हुआ हूँ (यह ठीक ही है, क्योकि)
बालं विहाय
बालक को छोड
अन्यः कः
और कौन
जन·
व्यक्ति
जल संस्थितम्
जल मे प्रतिबिम्बित (संस्थित)
इन्दु बिम्बम्
चन्द्रमा की परछाहीं को
सहसा ग्रहीतुम्
अकस्मात् पकडने के लिए
इच्छति
उत्कण्ठित होता है/इच्छा या कामना
करता है।

हे देवो द्वारा पादपीठार्चित ! मैं बुद्धियोग से रहित होते हुए भी आपकी स्तुति करने के लिए समुद्यतमति हो रहा हूँ (निश्चय ही) निर्लज्ज हूँ। जल की चन्द्रछाया को सहसा ग्रहण करने के लिए बालक के अतिरिक्त अन्य कौन इच्छावान् हो सकता है ?



वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशांककान्तान्,

कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।

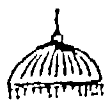
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,

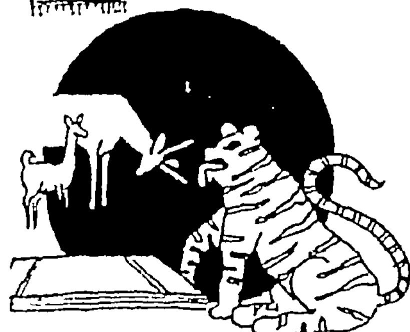
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

तुम गुण-सागर
अतल,
चन्द्रमा से भी शोभन !
इन्द्र-समान प्रबुद्ध
न कर सका गुण-संकीर्तन ॥
जो समुद्र
प्रलयंकर
उद्वेगित जिसमें जलचर
उसे भुजाएँ
तिरे,
कहो, कैसे कब संभव ?

गुण-समुद्र !
हे गुणो के समुद्र !
ते
तुम्हारे
शशाङ्क कान्तान्
चन्द्र की भाँति उज्ज्वल
गुणान्
गुणो को
वक्तुम्
कहने के लिए
बुद्ध्या
बुद्धि द्वारा
सुरगुरु प्रतिमः अपि
देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान भी
कः क्षमः
कौन समर्थ हो सकता है (क्योकि)
कल्पान्त काल पवन उद्धत नक्रचक्रम्
प्रलयकाल के तूफानी थपेडो से ऊभचूभ/
उच्छलित मगरो से युक्त
अम्बुनिधिम्
समुद्र को
भुजाभ्याम्
भुजाओ से
तरीतुम्
तैरने मे
को वा अलम्
कौन व्यक्ति समर्थ हो सकता है ?

हे गुण-समुद्र ! चन्द्रमा के समान (आह्लादक, अमृतमय, उज्वल, शीतल) कान्त आपकी गुणावली का वर्णन केवल बुद्धिविलास से क्या देवगुरु बृहस्पति की समता रखने वाला भी कर सकता है ? प्रलयकाल के ऊनचत्वारिंशत् पवन-सचार से क्षुब्ध एव भयंकर मकर-निकर से आपूर्यमाण जलधि को भुजबल से तैरने मे कौन समर्थ है ?





सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !

कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्त ।

प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रं,

नाभ्येति किं निजशिशो. परिपालनार्थम् ॥५॥

हुआ भक्ति के वशीभूत

ति

शक्तिहीन

फिर भी

स्तव करने उत्कण्ठित।

जैसे

मृगी

प्रेम में पग

बिन जाँचे-तोले

निज बल,

छौने की रक्षा में

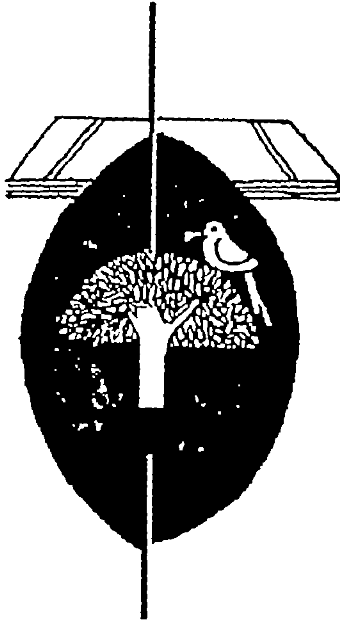
जूझे

सिंह बल से।

११ △ भक्तामर स्तोत्र

तथा अपि
तो भी
तव भक्ति वशात्
आपकी भक्ति के वशीभूत/उत्साहित
विगत शक्ति
नि शक्त/सामर्थ्य-रहित
अपि स. अहम्
भी वह मै
स्तवं कर्तुं
आपकी स्तुति के निमित्त
प्रवृत्त
तत्पर/प्रतिबद्ध हुआ हूँ (क्योकि यह उचित ही है),
मृगी
हिरणी
प्रीत्या
प्रीति-वश
आत्मवीर्यम्
अपने वल को
अविचार्य
विना विचारे ही
निज शिशो:
अपने शावक/छौने की
परिपालनार्थम्
रक्षा के लिए
किं मृगेन्द्रम् न अभ्येति
क्या सिह से जूझने के लिए खड़ी नहीं हो जाती है ?

हे मुनीश ! (आपके गुणो की अनन्तता, अ
क्षामबुद्धि तथा वालचेष्टा को जानते हुए भी) मैं अ
होते हुए भी आपकी भक्ति के वश मे होने से स्तुति के
प्रवृत्तिमान हुआ हूँ। अपने शिशु पर आक्रमण करते हुए
को देख कर प्रीति-वात्सल्य से प्रेरित हिरनी अपने छौ
रक्षा के लिए अल्पशक्ति की अवगणना कर क्या मृगरा
सामना नहीं करती ?



अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु ॥६॥

श्रुत का बौना ज्ञान
श्रुतो के बीच
अ-पण्डित
केवल
भक्ति तुम्हारी से
मै मुखरित जिनवर।
चैत्रमास मे
कोयल
कुहुक-कुहुक करती क्यो
बौराये अमराई
केवल इसीलिए न ?

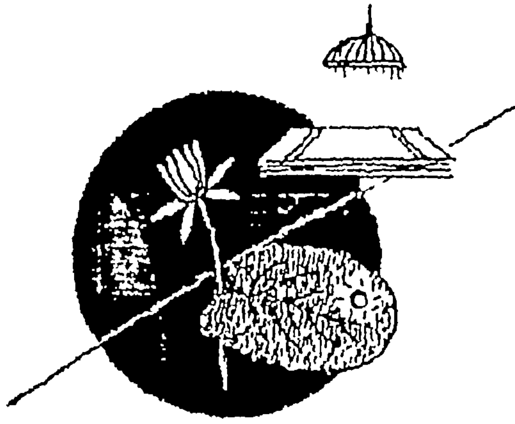
अल्प श्रुतम्
शास्त्र का अल्प ज्ञान रखने वाला
श्रुतवताम्
शास्त्र मे पारंगत व्यक्तियो के सामने
परिहासधामः
हँसी के पात्र
माम्
मुझे
मुखरी कुरुते
मुखरित करती है/बोलने को विवश करती है (क्योकि)
कोकिलः किल मधौ
कोकिल निश्चय ही वसन्त ऋतु मे
यत्
जो
मधुरं विरौति
मधुर कुहू-कुहू करता है
तत् च आम् चारु कलिका निकर एक हे
सो उसमें आम्रवृक्षो के मनोहर मौर-समूह/मंजरियाँ ही एकमात्र कारण हैं।

हे भगवन्! शास्त्रका अल्पज्ञान आगमविज्ञोंके समक्ष हास्य का स्थान बन जाता है, (किन्तु क्या करूँ) तुम्हारी भक्ति मुझे बोलने के लिए बलपूर्वक प्रेरित कर रही है। वसन्त ऋतु मे कोकिल पक्षी मौन नहीं रह सकता, पचम स्वर मे मधुर-मधुर आलापने लगता है, उस अवश मुखरता मे रमणीय आम्र-मजरी की सर्वत्र उपस्थिति ही एकमात्र कारण है।

स्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
ं क्षणात् क्षयमुपैतिशरीरभाजाम् ।
क्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
शुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

नों के मन
व तेरे अर्चन-रत होते
उनके सारे पाप
जिन के
जनता के।
भव-निशि मे
भ्रमर-सा घिरा जो अँधियारा
सूरज की
जिसे
हो
मिटे।

त्वत् संस्तेवन
आपके स्तवन से
शरीरभाजाम्
देहधारियो का
भवसन्तति सन्निबद्धम्
जन्म-जरा-मृत्यु की परम्परा मे जकडा हुआ
पापम्
पापकर्म
आक्रान्त लोकम्
ससार को ढँक लिया है जिसने ऐसे
अलि नीलम्
भ्रमर के समान काले
शार्वरम् अशेषम् अन्धकारम् इव
रात्रि के सपूर्ण/अशेप अधकार की भाँति
आशु
शीघ्रता मे
क्षणात्
क्षण-भर मे
सूर्य अंशु भिन्नम्
सूरज की किरणो से छिन्न-भिन्न होकर
क्षयम् उपैति
नाश को प्राप्त हो जाता है।

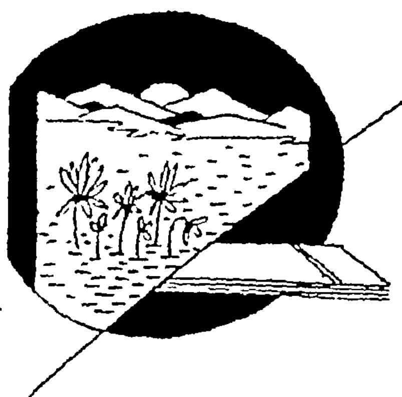


मत्त्वति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥८ ॥

मन मे
ऐसा मान
क्षीणमति मै
करता हूँ
सूत्रपात
तेरे अर्चन का।
नलिनी-दल पर
जैसे जल की बूँद
बना करती है मोती
वैसे मेरी स्तुति
सुजनो का मन मोहेगी।

इति मत्वा
इस तरह मान कर
नाथ !
प्रभो !
तनुधिया अपि मया इदम् तव
क्षीण/मदबुद्धि होने पर भी मेरे द्वारा
यह आपका
संस्तवन् आरभ्यते
स्तोत्र आरम्भ किया जा रहा है सो
तव प्रभावात्
आपके प्रभाव से
सताम् चेतः हरिष्यति
(यह) सज्जनो के चित्त हर्षित/
उल्लसित करेगा (ठीक वैसे ही जैसे)
नलिनीदलेषु
कमलिनी के पत्ते पर
उदबिन्दुः
जल की बूँद
ननु
निश्चय ही
मुक्ताफल द्युतिम् उपैति
मोती की कान्ति/आभा प्राप्त करती है।

हे नाथ ! ऐसा मान कर अल्पबुद्धि होते हुए भी मैने आपके प्रभाव से यह स्तुति आरम्भ की है। (मुझे विश्वास है) यह सस्तवन सज्जनो के हृदय को प्रिय प्रतीत होगा । कमल-पल्लवो पर स्थित ओसकण मौक्तिक-जैसी कान्ति को धारण करते हैं, अर्थात् तुहिन-बिन्दु मे यद्यपि मुक्ताफलत्व नहीं है तथापि कमल-पत्र के उत्तम आश्रय मे उसमे वैसी प्रतीति होती है, मेरी वाणी मे भी वैसे कोई विशिष्टता नही है किन्तु वह जिनेन्द्र-चरणारविन्द की मधुपी है, अत सज्जनो मे समादृत होगी।



...स्ता तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,

...त्सकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।

... सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,

...द्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

...ति,

... तो

...त दूर की बात

...नो जी ।

...म-कथा

... कट जाते पातक सारे ।

... सूरज ज्यों

... दूर पड़े

... हो पाते हैं

... के पदम खिलते हैं ।

दूरे

दूर ही रहता है तथापि

प्रभा एव

उसकी कान्ति ही

पद्माकरेषु

तालावो/जलाशयो मे

जलजानि

कमलो को

विकासभाञ्जि

प्रफुल्लित/विकसित

कुरुते

कर देती है (उसी तरह)

अस्त समस्त दोषम्

समस्त दोषो से रहित

तव

तुम्हारा

स्तवनं दूरे आस्ताम्

स्तवन/स्तोत्र दूर की बात है

तत्वत् संकथा अपि

तुम्हारी चर्चा/सद्वार्ता भी

जगताम्

सारे संसारी जीवो के

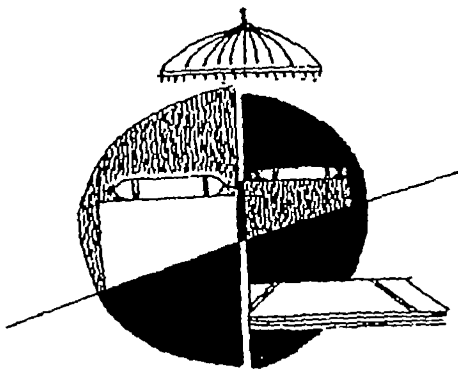
दुरितानि

पापो को

हन्ति

नष्ट कर देती है।

हे परमात्मन् ! आपके स्तोत्र की महिमा के सबन्ध में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता, वह तो सपूर्ण भव-दोषो को समाप्त करने वाला है। आपकी तो पवित्र कथा भी दुरितहर है, जैसे साक्षात् सूर्य तो दूर ही रहता है, किन्तु उसके प्रभास्पर्श से जलाशयो मे कमल सहज ही खिल उठते हैं।

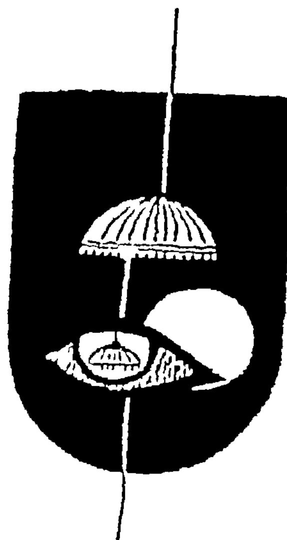


नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ? ॥१०॥

इसमे नवीनता क्या
कैसी अद्‌भुतता, बोले !
भक्त बने भगवान्
भक्ति करते प्रभुवर की ।
जो मनुष्य
सेवा करते
सामान्य धनिक की
वे बनते
खुद धनिक
समय की
पा कर मीढी ।

भुवन भूषण !
हे विश्व-श्रृंगार !
भूतनाथ
हे जगन्नाथ !!
भुवि
संसार में
भूतैः गुणैः
विपुल/समीचीन गुणो के द्वारा
भवन्तम्
आपका
अभिष्टुवन्तः
स्तवन करने वाले व्यक्ति
भवतः तुल्यः भवन्ति
आपके समान हो जाते हैं
अति अद्‌भुत् न
यह अधिक आश्चर्यजनक नही है
ननु
निश्चय से (क्योंकि)
नाथ यः इह आश्रितम्
हे जगत्पते ! जो कोई स्वामी इस लोक मे अपने आश्रित को
भूत्या आत्मसमम् न करोति
विभूति से अपने समान नही करता है
तेन किं वा?
उस स्वामी/मालिक से क्या लाभ ?

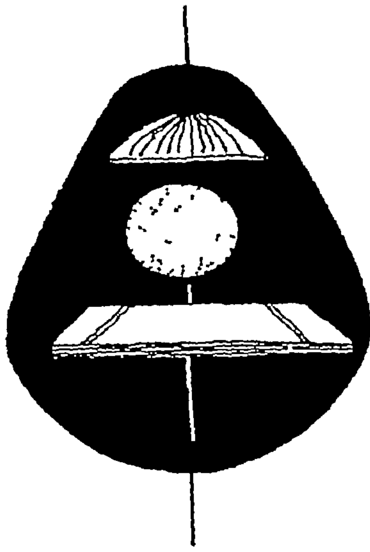
हे भुवनभूषण ! ससार द्वारा वरणीय अलकार; हे प्राणिमात्र के स्वामिन् ! आप मे विद्यमान गुणो का वर्णन करते हुए जो आपकी समीचीन स्तुति करते हैं, वे आपके सदृश ही हो जाते है तो इसमे कोई आश्चर्य नही है, क्योकि जो अपने वैभव का आश्रयेप्सु हो, उसे यदि वह अपने समान न बनाये तो उस विभूतिधर से भला क्या लाभ ?



श भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
त्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
ा पय शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धो·
जल जलनिधे रसितुं क इच्छेत् ? ॥११॥

अनिमेष विलोकनीयम्
अपलक दर्शन करने योग्य
भवन्तम्
आपको
दृष्ट्वा
देख कर
जनस्य चक्षु· अन्यत्र तोषं न उपयाति
भक्त/साधक की आँखे और कही सतृप्त/सतुष्ट नही होतीं (यह ठीक ही है, क्योकि)
शशिकर द्युति दुग्धसिन्धोः पयः पीत्वा
चन्द्र-किरणो के समान शुभ्र/उज्ज्वल क्षीर-समुद्र का जल पी कर
क.
कौन
जलनिधे· क्षारं जलम्
समुद्र के खारा पानी
असितुम्
पीने की
इच्छेत्
इच्छा करेगा ।।।

हे प्रभो ! अपलक नेत्रो से (निरन्तर) दर्शनीय आपको दृष्टिगोचर करने के अनन्तर लोकनेत्र अन्यत्र कहीं दर्शन-सतोष को प्राप्त नहीं होते । (ऐसा स्वाभाविक ही है क्योंकि) इन्दु-किरणों के समान शुभ्र क्षीरसागर का पय पी कर कौन ऐसा जन होगा जो लवणाकर का क्षारवारि पीने की इच्छा करेगा ?



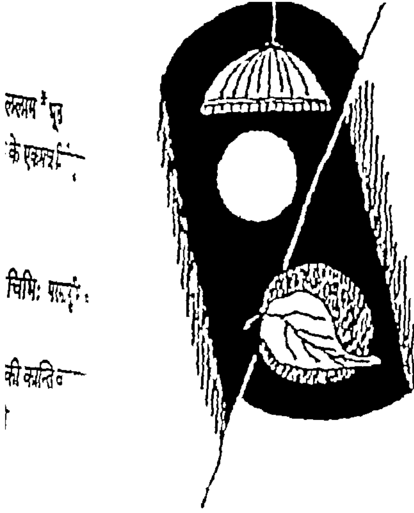
यै: शान्तरागरुचिभि: परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणव:पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

शान्तराग-रुचि वाले
जितने थे
परमाणु
तीन लोक मे,
उन सबका
आकलन
देह यह तेरी अनुपम।
ये
सब-सारे
बस इतने ही थे
वसुधा पर
इसीलिए
तुम-जैसा सुघर-सुरूप
नहीं कोई
धरती पर।

त्रिभुवनैक ललाम * भूत
हे तीन लोक के एकमात्र शिरोभूषण।
यै:
जिन
शान्त राग रुचिभि: परमाणुभि: त्वम्
निर्मापित:
शान्त परिणामो की कान्ति वाले परमाणुअ
तुम बनाये गये हो
खलु
निश्चय ही
ते
वे
अणव: अपि
परमाणु भी
तावन्त एव
उतने ही थे
यत्
क्योकि
ते समानम् पृथिव्यां अपरं रूपम् न हि अ
तुम्हारी तरह का कोई और रूप इस धरती
नही है।

*माथे पर धारण किये जाने वाले आभूपण, यथ
झूमर, कटियाँ आदि।

हे त्रिभुवन के एकमात्र सौन्दर्यसार! जिन शान्त
तेजोधर परमाणुओ से आपका विग्रह निर्मित है, वे परम
तावन्मात्र ही इस पृथ्वी पर विद्यमान थे; अत. आपके स
कोई और रूप नही है। यदि उन वीतराग-परमाणुओं
कोई अश इस धरित्री पर बचा होता तो कदाचित् अ
सदृश अन्य निर्माण सभव था, किन्तु पृथ्वी के समस्त अ
परमाणु तो आपके निर्माण मे ही परिसमाप्त हो गये
आपकी तुलना करने योग्य अन्य कोई कैसे अस्तित्वमा
सकता है? अर्थात् आप सर्वोत्कृष्ट हैं, अतुल्य हैं।



त्र क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
शेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
म्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य,
वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

सुर नर उरग नेत्रहारि

देव, मनुष्य और भवनवासी देवो के नेत्रो को लुब्ध करने वाले अर्थात् अद्वितीय-अनुपम-अप्रतिम

निःशेष निर्जित जगत् त्रितय उपमानम्

त्रिलोकवर्ती सारे उपमानो को जीतने वाला

क्व ते वक्त्रम्

कहाँ तुम्हारा मुख और

क्व

कहाँ

निशाकरस्य कलङ्क मलिनम् विम्बम्

चन्द्रमा का कलंक से मलिन रहने वाला विम्ब

यत्

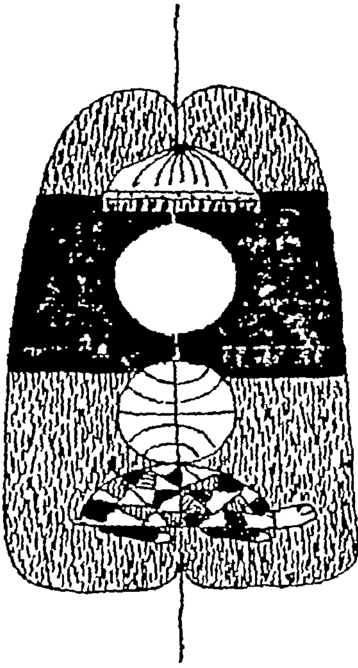
जो कि

वासरे

दिन मे

पाण्डु पलाश कल्पम्

पलाश (टेसू, ढाक) के पत्ते के समान
फीका/निस्तेज पड़ जाता है।



सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप-

शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।

ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेकं,

कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

जैसे
लिये कलाएँ
सोलह
चन्द्र सुशोभित,
वैसे
तीन भुवन मे व्याप रहे
तेरे गुण।
तारे-जैसे
आश्रित तो तेरे है
लेकिन
फिर भी वे स्वाधीन
रहे सो
शासन 'पर' का ?

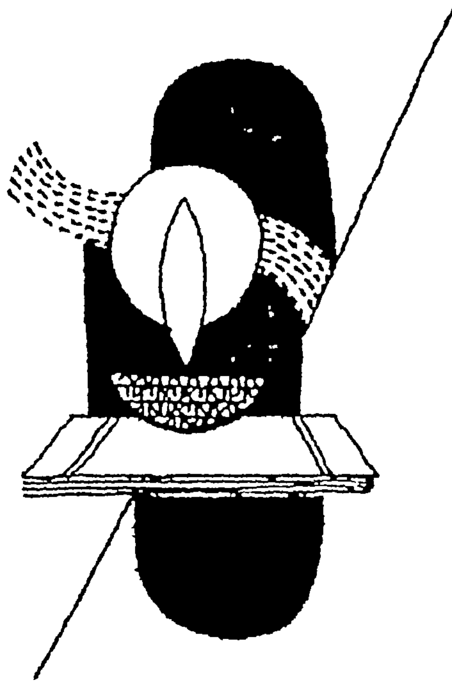
त्रि जगत् ईश्वर !
तीनो लोको के नाथ!
तव
तुम्हारे
संपूर्ण मण्डल शशाङ्क कला कलाप
शुभ्रा गुणाः
पूर्णिमा के चन्द्रबिम्ब की कलाओ की भाँति
उज्ज्वल गुण
त्रिभुवनम्
तीनो लोकों को
लङ्घयन्ति
लांघते है अर्थात् तीनो लोको मे व्याप्त है।
ये
जो
एकम्
अद्वितीय
नाथम्
(तीनो लोको के) नाथ
संश्रिताः
तुम्हारे आश्रय मे रहे है
तान्
उन्हे
यथेष्टम्
स्वेच्छानुसार
संचरतः कः निवारयति ?
सकल लोको में अबाध घूमने से कौन
रोक सकता है ?

हे भगवन्! शुभ्रता में आपकी गुणवत्ता चन्द्रमा के समग्र मण्डल के कला-प्रभावो-सा समुज्वला है, उसने तीनो भुवनो की सीमा को अतिक्रान्त किया है, वह अपरिसीम है, कहीं कोई तट नही है उस गुणवत्ता का। जिसके जीवन की एकमेव शरण जगदीश्वर आप ही हो तो फिर उसके स्वतन्त्र विचरण पर अंकुश किसका/कैसा ?



त्र किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
। मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
ान्तकालमरुता चलिताचलेन,
मन्दराद्रिशिखरं चलित कदाचित् ? ॥१५॥

यदि
अगर
त्रिदशाङ्गनाभिः ते मन
देवागनाओ से तुम्हारा मन
मनाक् अपि
तनिक भी
विकार मार्गम्
विकृति के मार्ग को
न नीतम्
खींच कर नही लाया जा सका
अत्र किं चित्रम् ?
तो इसमे आश्चर्य की क्या है ?
किम् कदाचित्
क्या कभी
चलित अचलेन
प्रकम्पित किये है पर्वत जिसने ऐसे
कल्पान्त काल मरुता
प्रालेय पवन से
मन्दर अद्रि शिखरम्
सुमेरु पर्वत का शिखर
चलितम्
विचलित हो सकता है / हिल सकता है ?

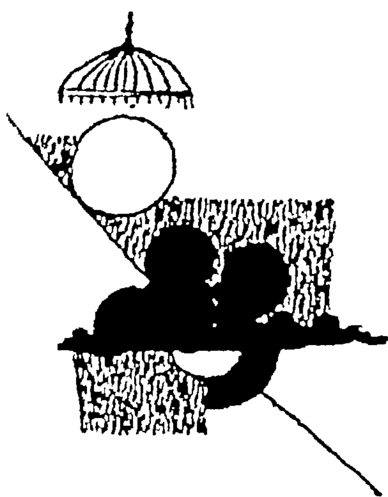


निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

आप दीप है ऐसे
जो निर्धूम
न जिसमे कोई बाती
तेल बिना जलता
करता
आलोकित
तीनों लोक।
पर्वत कम्पित करने वाले
मरुत् न इसको छू पाते है
यह अकम्प-निष्कम्प
जगद्विख्यात
प्रकाशक
'अपने-पर' का।

नाथ !
हे भगवन् !
त्वम्
तुम
निर्धूम वर्तिः
धुएं तथा बाती से रहित
अपवर्जित तैल पूरः
तेल के पूर से भी रहित
चलित अचलानाम्
पर्वतो को चलायमान करने वाले
मरुताम्
पवन (ों) के लिए भी अगम्य/उनकी
पहुँच से परे
जगत् प्रकाशः
जगत् को रोशनी से भर देने वाले
अपरः दीपः
अद्वितीय दीपक
असि
हो (क्योकि तुम)
इदम्
इस
कृत्स्नम्
समस्त
जगत् त्रयम् प्रकटीकरोषि।
त्रिलोक को प्रकट करते हो।

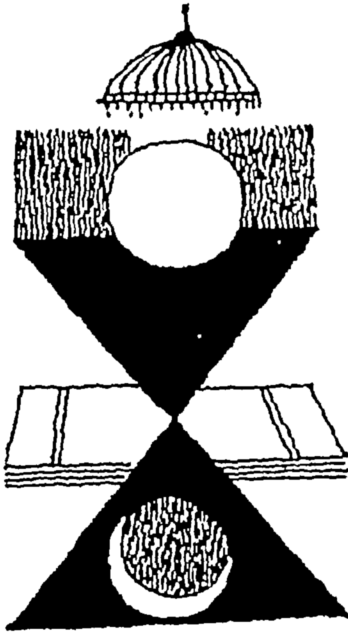
हे प्रभो ! तुम ऐसे अद्वितीय दीपक हो-जहाँ न धुआँ है, न बाती, और न तैलपूर, आप वस्तुत ऐसे दीप हैं जो तीनो लोको को सागोपाग उद्घाटित करता है और जो पर्वतो को झकझोरे देने वाले प्रचण्ड तूफानो की पहुँच से परे है।



ा कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
ीक्रोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
म्भोधरोदरनिरुद्ध महाप्रभाव:,
ातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥१७॥

ाप सूरज है
ी जो अस्त होता
ाहु जिसको ग्रस नहीं पा- कभी भी
ात् को युगपत् प्रकाशित
ार

मुनीन्द्र!
हे मुनीश! (आप)
न कदाचित्
न कभी
अस्तम्
अस्त को
उपयाति
प्राप्त होते है
न राहुगम्य:
न राहु से ग्रसे जाते है
न अम्भोधर उदर निरुद्ध महा प्रभाव:
न आपका महान् प्रताप मेघों के उदर मे
निरुद्ध होता/रुक पाता है
सहसा
सहज ही
युगपत्
एक ही समय में/समान्तर
जगन्ति स्पष्टीकरोषि
तीनों लोकों को उजागर करते हैं
लोके
लोक में
सूर्य अतिशायि महिमा असि
सूर्य के प्रताप को भी उल्लंघन करने वाला
प्रताप धारण करने वाले हैं।

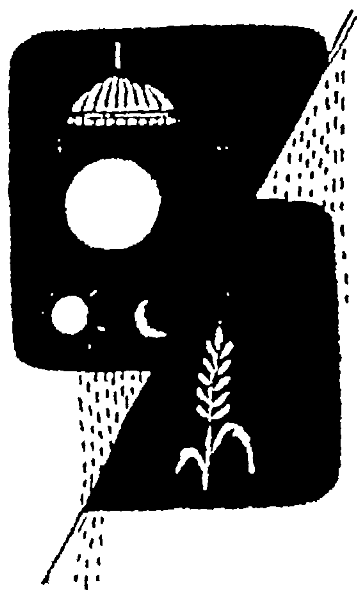


नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥१८॥

मुख-सरोज
प्रभु तेरा
अभिनव चन्दा ही है
नित्य उदित
मोहान्धकार को ग्रसने वाला
कान्तिमान
अति अद्भुत
मेघ न ढँकते जिसको
राहु-मुक्त
जग को आलोकित करने वाला।

यत्
जो
नित्य उदयम्
सदैव उदित रहता है
दलित मोह महा अन्धकारम्
मोह के सघन अन्धकार को नष्ट करता है
न राहु वदनस्य गम्यम्
जो न राहु के मुख मे जाने वाला है
न वारिदानाम्
न जिसे बादल ही ढँक सकते है और जो
जगत् विद्योतयत्
जगत् को प्रकाशित करता है (हे प्रभो, ऐस
तव
तुम्हारा
अन् अल्प कान्ति
अतिशय कान्तिमान
मुख अब्जम्
मुख कमल
अपूर्व शशाङ्क बिम्बम्
विलक्षण चन्द्रमा के बिम्ब की भाँति
विभ्राजते
शोभित है।

हे प्रभो ! तुम्हारा मनोज्ञ मुख-कमल विश्व आलोकित करने वाला ऐसा अपूर्व चन्द्रमा है, जो नि उदित है, जिसने मोहान्धकार को ध्वस्त कर दिया है, और जिसे काले बादल तथा राहु ढँक सकने मे सर्वथा असमर्थ है।

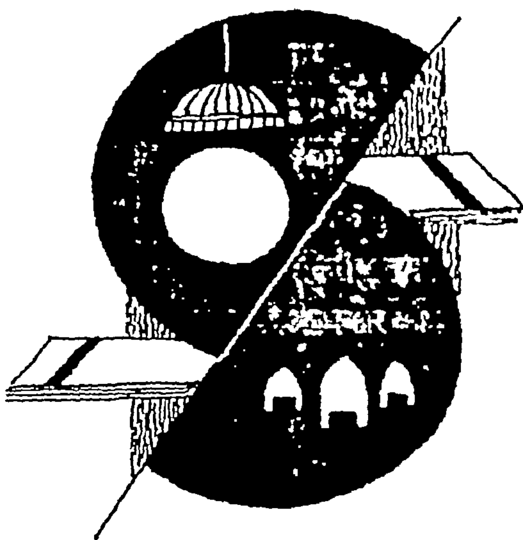


...शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा ?
...न्मुखेन्दुदलितेषु तमस्सु नाथ !
...निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,
...कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

[illegible]
[illegible] मुख द्युति से खोना,
[illegible] दिन में सूरज का
[illegible]
[illegible] प्रयोजन ?
[illegible] धान पक अपने यौवन पर
[illegible]
[illegible]
[illegible]

नाथ !
हे प्रभो !
युष्मत् मुखेन्दु
आपके मुख-चन्द्र से
दलितेषु तमस्सु
अन्धकार को नष्ट किये जाने पर
शर्वरीषु
रात्रि मे
शशिना किम्
चन्द्रमा से क्या सरोकार ?
वा
अथवा
अह्नि
दिन मे
विवस्वता किम्
सूर्य से क्या प्रयोजन ?
जीवलोके
ससार मे
निष्पन्न शालिवन शालिनि
शोभाशाली धान्य के खेतो के पक चुकने पर
जलभार नम्रैः जलधरैः
जल के भार से झुके हुए बादलो का
कियत् कार्य
कितना काम रह जाता है ? कदाचित्
बिलकुल नहीं।

हे नाथ ! जब तुम्हारा मुख-चन्द्र ही अन्धकार का अस्तित्व-लोप कर चुका हो, तब क्या प्रयोजन है सूरज से, चन्द्र से, उनसे होने वाले दिन से, [illegible] ज्योत्स्ना से। जब धान की फसलें पक चुकी हों तब जल-भार से झुकी मेघमालाओं का क्या [illegible]

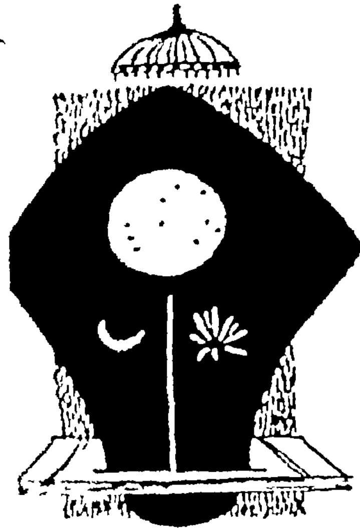


ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

तुममें
जैसी ज्ञान-ज्योति
जलती जगमग है
वैसी
अन्य देवताओ मे सहसा
नही सुलभ है,
सच है
जैसी द्युति मणि मे होती स्वाभाविक,
वैसी
टुकडे में कहाँ दीखती
कभी काँच के।

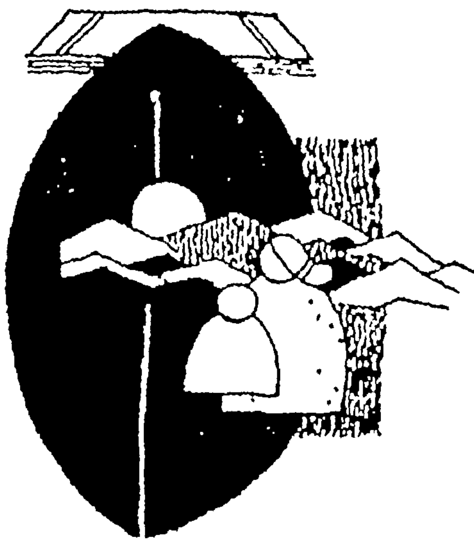
कृत अवकाशम् *
अनन्त पर्याय वाले पदार्थो को प्रकाशि
करने वाला
ज्ञानम्
केवलज्ञान
यथा
जैसा/जिस तरह
त्वयि
आपमे
विभाति
सुशोभित है
तथा
वैसा
हरि हर आदिषु नायकेषु न एवम्
विष्णु, शंकर आदि लौकिक देवताओ मे नहीं
है। (कहे, वहाँ उसका सर्वथा अभाव है)
यथा
जिस तरह
तेजः स्फुरत् मणिषु महत्त्वम् याति
प्रकाश दमकती मणियो मे गौरव को प्राप्त
होता है।
एवं तु
वैसा/उस तरह
किरणा कुले अपि
किरणो की दमक लिये हुए भी
काच शकले
कॉंच के टुकड़े मे नही होता।
* प्रकाश

द्रव्य/पदार्थ की अनन्त पर्यायो को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान जैसा आप मे शोभायमान है, वैसा अन्य देवों मे नही। जो सहज दमक मणि मे गौरव को प्राप्त करती है, वह किरणों से आलोकित काँच के टुकड़े मे भला कैसे सभव है ?



वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
येषु हृदयं त्वयि तोषमेति
वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य ,
श्चिन्मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि ॥२१॥

नाथ !
हे भगवन् !
हरि हर आदय. दृष्टा
हरि हर आदि देवताओ का देखना (मै)
वरं मन्ये
शुभ मानता हूँ
येषु दृष्टेषु
जिनके देख लेने पर
हृदयम्
हृदय/मन
त्वयि एवं तोषम् एति
तुममे ही सतोष पाता है
भवता वीक्षितेन किम् ?
(किन्तु) आपके देखने से क्या फायदा
येन
जिससे
भुवि
धरती पर
अन्य कश्चित्
अन्य कोई देव
भव अन्तरे अपि
अन्य जन्म मे भी
मन न हरति
मन को आकर्षित नही कर सकता।

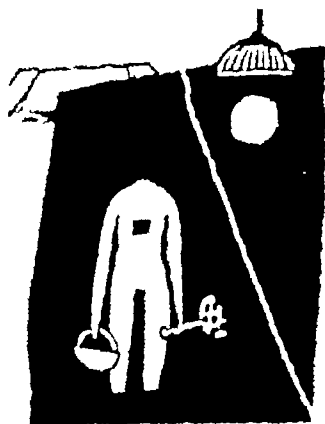


स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

स्त्रियाँ सौ-सौ
जनमती
पुत्र सौ-सौ
किन्तु
सुत
तुम-सा
न कोई
जनम पायी।
नखत
नाना धारती
सारी दिशाएँ;
किन्तु
प्राची ही जनमती
सूर्य को तो।

स्त्रीणां शतानि
सेकड़ो स्त्रियाँ
शतशः
सैकड़ो
पुत्रान् जनयन्ति
पुत्रो को जनमती है (किन्तु)
अन्या जननी
दूसरी कोई माता
त्वत् उपमम् सुतं न प्रसूता
तुम-जैसे पुत्र को जन्म नही दे सकी (यह है, क्योकि)
सर्वाः दिशः भानि दधति
सारी दिशाएँ नक्षत्रो को धारण करती है।
स्फुरत् अंशुजालम्
दैदीप्यमान किरण-समूह वाले
सहस्र रश्मिम्
सूर्य को
प्राची दिक् एव जनयति
पूर्व दिशा ही जन्म देती है।

सौ-सौ माताएँ सौ-सौ पुत्रो को जन्म देती है, किन्तु क्या कोई जननी तुम जैसा पुत्र अब तक जनम पायी है ? सच है, नक्षत्रो को तो सारी दिशाएँ धारण करती हैं, किन्तु दैदीप्यमान किरण-सपन्न सूर्य की प्रसविनी तो पूर्व दिशा ही है।



)

…मनन्ति मुनय परमं पुमांस-

…त्यवर्णममल तमस पुरस्तात्।

… मेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,

…य शिव शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्था ॥२३॥

[illegible]

… [illegible] के पार

… [illegible]-सा शोभन

… [illegible]

… [illegible]

… [illegible]

… [illegible]

मुनीन्द्र!

हे मुनीश्वर!

मुनय त्वाम्

मुनि तुम्हे

परमं पुमांसम्

श्रेष्ठ पुरुष

तमस· पुरस्तात्

अन्धकार से आगे

आदित्य वर्णम्

सूर्य के समान तेजोमय

अमलम्

निर्मल

आमनन्ति

मानते है

त्वाम् एव सम्यक् उपलभ्य

तुम्हे ही भलाभाँति पा कर

मृत्यु जयन्ति

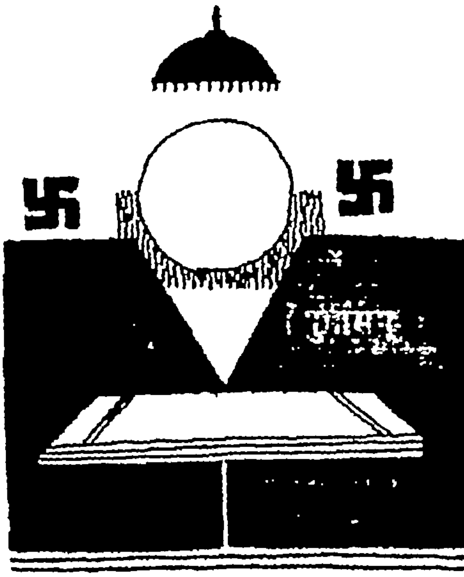
मृत्यु पर विजय पाते है (अत तुम्हें [illegible])

अन्य शिव शिवपदस्य

दूसरा कोई [illegible]

पन्था न

[illegible] नहीं है।



त्वामव्ययं भिुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,

ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।

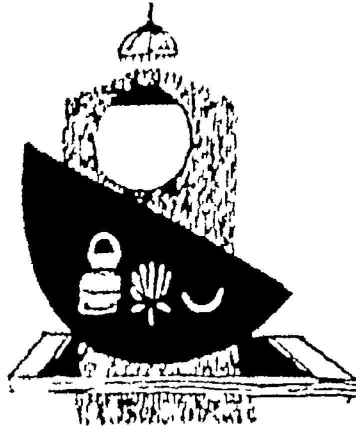
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,

ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्ता ॥२४॥

तुमको
अव्यय-विभु-आद्य
ब्रह्म-ईश्वर-अनन्त
योगी-अचिन्त्य
ज्ञानस्वरूप-योगज्ञ एक
निर्मल-अनेक
मकरध्वज-केतु-असंख्य
संत
कहते है सारे।

संत:
सत्पुरुष/संतजन
त्वाम्
तुम्हे
अव्ययम्
अक्षय
विभुम्
व्यापक
अचिन्त्यम्
चिन्तनातीत/अद्भुत
असंख्यं आद्यं ब्रह्माणम्
असंख्य/संख्यातीत, आदि पुरुष, ब्रह्मा/
सकल कर्म-रहित
ईश्वरम्
कृतकृत्य
अनन्तं अनङ्गकेतुं योगीश्वरम्
अन्त रहित, कामदेव को नाश करने के
निमित्त केतु, योगेश,
विदितयोगं अनेकं एकं
योगज्ञ, गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक,
जीवद्रव्य की अपेक्षा एक/अद्वितीय
ज्ञानस्वरूपं अमलमं प्रवदन्ति।
केवलज्ञान-स्वरूप, कर्म-मल-मुक्त कहते हैं।

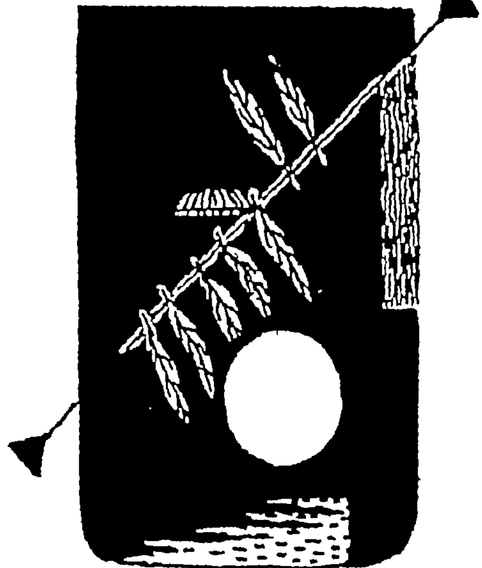
सतजन तुम्हे अक्षय, व्यापक, अचिन्त्य, अद्भुत सख्यातीत, आदिपुरुष, सकल कर्म-रहित, कृतकृत्य अन्त-रहित, कामदेव को अस्तित्वशेष करने के निमित्त केतु, योगेश, योगज्ञ, गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक, जीव-द्रव्य की अपेक्षा एक/अद्वितीय, केवलज्ञान-स्वरूप, कर्म-मल मुक्त कहते है। तुम्हारे इस अनामी, बहुनामी, नामी, बहु-आयामी व्यक्तित्व को शत-सहस्र प्रणाम ॥



...त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्-
...शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
...ति धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानाद्,
... त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

[illegible]

विबुध अर्चित बुद्धि बोधात्
देवों/गणधरों/विद्वज्जनों ने तुम्हारे कैवल्य-
गौरव की अर्चना की है (इस कारण)
त्वम् एव बुद्ध·
तुम्ही बुद्ध हो
भुवनत्रय शंकरत्वात्
तीनों लोकों के प्राणियों के निमित्त 'शं'
अर्थात् सुख एवं कल्याण करने वाले हो
(अत)
त्वम् शंकर असि
तुम शंकर हो
धीर ! शिवमार्ग विधे. विधानात्
हे धीर पुरुष ! रत्नत्रय-रूप मोक्षमार्ग
के विधि-विधान के कारण
धाता असि
तुम विधाता हो
भगवन् !
प्रभो !
त्वम् एव व्यक्तं पुरुषोत्तम
तुम स्पष्टतः पुरुषोत्तम/पुरुषों में उत्तम
होने से नारायण
असि
हो ।



तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमोजिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

तीन लोक के
संकट भंजक
नमन तुम्हे है।

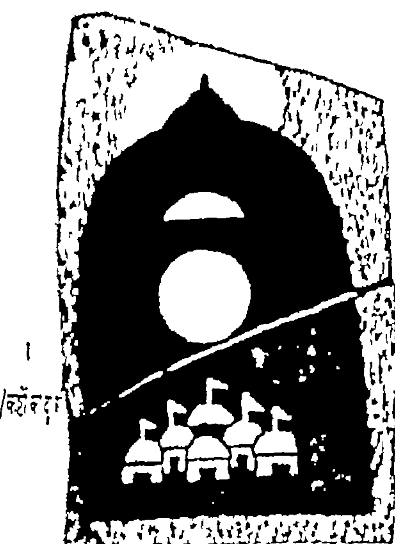
तुम्हे नमन
तुम वसुधा के
निर्मल आभूषण ।।

तुम्हें नमन
तुम तीन लोक के
परमेश्वर हो !!

तुम्हे नमन
तुम हो
शोषक इस भव-समुद्र के !!!

त्रिभुवन आर्तिहराय नाथ !
तीनो लोको की पीडा/कष्टो को दूर करने वाले हे नाथ।
तुभ्यं नमः
तुम्हे नमस्कार है
क्षिति तल अमल भूषणाय
पृथ्वितल के निर्मल/विमल भूषण
तुभ्यं नमः
तुम्हें नमस्कार है
त्रिजगतः परमेश्वराय
तीनो लोको के परम पद पर संस्थित
तुभ्यं नमः
तुम्हे नमन
भव उदधि शोषणाय जिन !
हे जिन। संसार-समुद्र को सोखने/समाप्त करने वाले
तुभ्यं नमः
तुम्हे नमस्कार है।

तीनो लोको को सन्त्रास, सताप और कुण्ठा से निवृत्त करने मे समर्थ, तुम्हे प्रणाम, इस धरती के पूत, पवित्र, परम पावन श्रृगार, तुम्हे नमन, तीनो लोको के प्रभु, परमेश्वर, तुम्हे वन्दन, इस भव-सागर के अगस्त्य-शिल्पी, तुम्हे भक्ति-विह्वल अर्चन !!!



...विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-

...श्रितो निरवकाशतया मुनीश !

...पात्तविविधाश्रयजातगर्वै

...न्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

[illegible]

मुनीश !

हे मुनि-पुंगव !

यदि नाम

हम लगता है कि

अशेषै. गुणै

समस्त गुण

त्वम्

आप में

निरवकाशतया

अपने स्वरूप सम्बन्ध में

संश्रित

भलीभांति [illegible] है

अत्र को विस्मय.

तो इसमें आश्चर्य [illegible] है

दोषै·

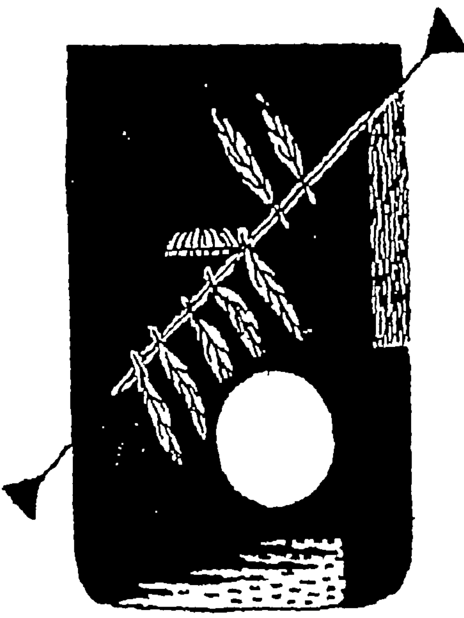
(और) [illegible]

स्वप्न अन्तरे अपि न ईक्षित असि

[illegible]

(अत्र अपि को विस्मय)

[illegible]



तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमोजिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

तीन लोक के
संकट भजक
नमन तुम्हें है ।

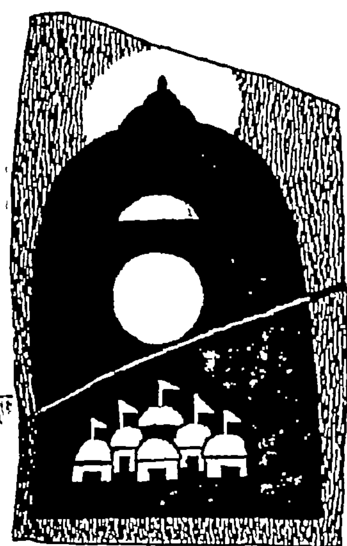
तुम्हे नमन
तुम वसुधा के
निर्मल आभूषण ।।

तुम्हे नमन
तुम तीन लोक के
परमेश्वर हो ।।

तुम्हे नमन
तुम हो
शोषक इस भव-समुद्र के ।।।

त्रिभुवन आर्तिहराय नाथ !
तीनो लोको की पीडा/कष्टो को दूर करने
वाले हे नाथ !
तुभ्यं नमः
तुम्हे नमस्कार है
क्षिति तल अमल भूषणाय
पृथ्वितल के निर्मल/विमल भूषण
तुभ्यं नमः
तुम्हे नमस्कार है
त्रिजगतः परमेश्वराय
तीनो लोको के परम पद पर संस्थित
तुभ्यं नमः
तुम्हे नमन
भव उदधि शोषणाय जिन !
हे जिन ! संसार-समुद्र को सोखने/समाप्त
करने वाले
तुभ्यं नमः
तुम्हे नमस्कार है ।

तीनो लोको को सत्रास, संताप और कुण्ठा से निवृत्त करने मे समर्थ, तुम्हे प्रणाम, इस धरती के पूत, पवित्र, परम पावन श्रृगार, तुम्हे नमन, तीनो लोको के प्रभु, परमेश्वर, तुम्हे वन्दन, इस भव-सागर के अगस्त्य-शिल्पी, तुम्हे भक्ति-विह्वल अर्चन ।।।



स्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-

सश्रितो निरवकाशतया मुनीश !

पात्तविविधाश्रयजातगर्वै·

ान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

ा है मुनिनाथ

ल गुण इस भूतल के

मे आश्रित हुए

न, आपस मे मिलजुल

मे क्या आश्चर्य ?

ो ने

यहाँ-वहाँ

शरण

हुतविधि

विध

र्व मे फूले इतने

हीं देखते

वे पल-भर भी

इधर स्वप्न मे ।

मुनीश !

हे मुनि-पुगव !

यदि नाम

हमे लगता है कि

अशेषै. गुणै·

समस्त गुण

त्वम्

आप मे

निरवकाशतया

अपने सपूर्ण घनत्व मे

संश्रित.

भलीभाँति शरण-स्थित है

अत्र को विस्मय.

तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

दोषै:

(और) दोषो से

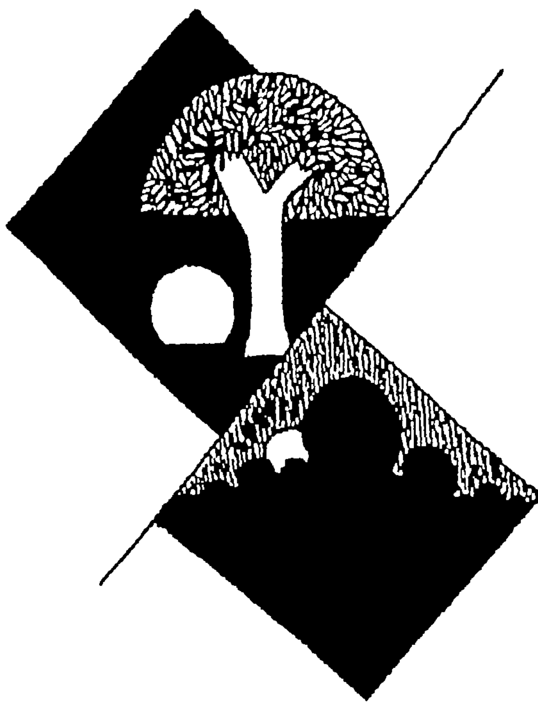
स्वप्न अन्तरे अपि न ईक्षित· असि

(यदि आप) स्वप्न मे भी नही देखे गये है

(अत्र अपि को विस्मय)

(तो इसमे भी कौन आश्चर्य है ?)

हे मुनियो के मुनि ! इसमे कौन आश्चर्य है कि जगत् के अशेष गुणो ने कही शरण न पा कर तुम मे ही शरण ग्रहण की है, और दोषो ने, जिन्हे अन्यजनाश्रय के कारण मिथ्या दभ हो गया है, स्वप्न मे भी तुम्हारी ओर नहीं देखा है ?

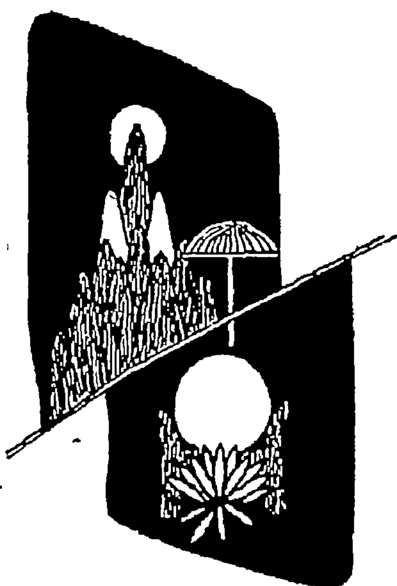


उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥२८॥

हरे-भरे
ऊँचे अशोक तरु की छाया मे
किरणीला निर्मल स्वरूप तव
शोभा पाता।
जैसे कोई
रश्मिवन्त रवि
सघन साँवरी
मेघ घटा के
मध्य विराजित।

उच्चैः
अतीव उन्नत/खूब ऊँचे
अशोक तरु संश्रितम्
अशोक वृक्ष के तले विराजमान
उत् मयूखम्
ऊपर की ओर निकलती किरणो वाला
भवतः
आपका
नितान्तं अमलं रूपम्
अत्यन्त निर्मल रूप
पयोधर पार्श्ववर्ति
बादलों के पास रहे
स्पष्ट उल्लसत् किरणम्
फैली दमकती/द्युतिमन्त किरणों वाले
(और)
अस्ततमो वितानम्
अन्धकार के जमाव को ध्वस्त करने वाले
रवैः
सूर्य के
बिम्बं इव आभाति
बिम्ब के समान शोभित होता है।

हे विभो ! उन्नत अशोक तरु-तले, ऊपर की ओर स्फूर्त किरणो वाला आपका अत्यन्त निर्मल रूप बादलो के निकटवर्ती अन्धकार के जमाव को ध्वस्त करने वाले सूर्य-बिम्ब के समान शोभा पाता है।



हासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
भ्राजते तव वपु· कनकावदातम् ।
म्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
ङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मे ॥२९॥

गबिरगी
मणि-किरणो के
सिहासन पर
प्रखर स्वर्ण-सी देह
तुम्हारी आभायित है
उदयाचल के
तुग शिखर पर
सूर्य-बिम्ब ज्यो
रश्मिजाल फैलाये
तान रहा हो मण्डप।

मणि मयूख शिखा विचित्रे
मणि-किरणो की अनी से विविध रगो मे चित्रित
सिंहासने
सिहासन पर
तव कनक अवदातं वपु:
तुम्हारी स्वर्ण के समान शुभ्र देह
तुङ्ग उदय अद्रि शिरसि
उन्नत उदयाचल के शिखर पर
वियत् विलसत् अंशुलता वितानम्
आकाश मे शोभित किरणो के लता-मण्डप से घिरे
सहस्ररश्मे: बिम्बं इव विभ्राजते
सूर्य-बिम्ब की भाँति अतीव शोभित है।

मणि-किरणो की बहुविध दीप्ति-अनियो विभूषित सिहासन पर आपकी कनकवर्णी काया ऐ ऐश्वर्यशालिनी लगती है जैसे गगन-चूमती उदया की चोटी पर आकाश मे किरणो में लता-मण्डप से सूर्य-बिम्ब।

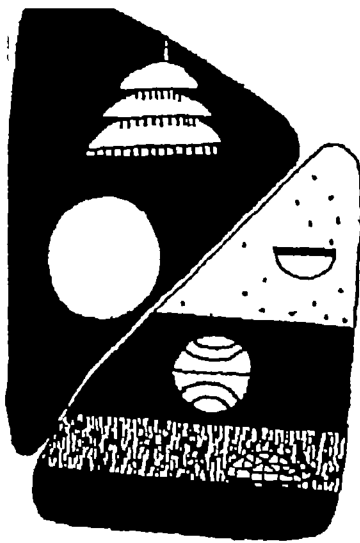


कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

जैसे
स्वर्ण शिखर वाले
सुमेरु पर्वत पर
चंदा-से धोले
झरने की हो
जलधारा
वैसे
तेरी
स्वर्णदेह पर
कुन्दपुष्प-से
शुभ्र-श्वेत
शोभन-मनोज्ञ
चामर ढुरते है ।

कुन्द अवदात चल चामर चारु शोभम्
कुन्द पुष्पो की भाँति शुभ्र/उज्जवल ढुरते
सुन्दर चँवरो की शोभा से युक्त
कलधौत कान्तम्
स्वर्ण-जैसी दमक-दीप्ति लिये
तव वपुः
तुम्हारी काया
उद्यत शशाङ्क शुचि निर्झर वारिधारम्
उदय होते चन्द्रमा के समान शुभ्र-धवल
झरनो से युक्त
शातकौम्भम्
स्वर्णिम
सुर गिरैः उच्चैः तटं इव
सुमेरु पर्वत के उन्नत तटो-जैसा
विभ्राजते
सुशोभित होता है ।

आपकी स्वर्णाभ देह, जिस पर कुन्द-पुष्पो से शुभ्र चौंर ढुर रहे है, अप्रतिम शोभाओ से अभिमण्डित ऐसी लगती है मानो स्वर्ण-सुमेरु के उन्नत तट उदीयमान चन्द्रमा की किरण-प्रपात-धाराओ मे प्रतिष्ठित हो ।

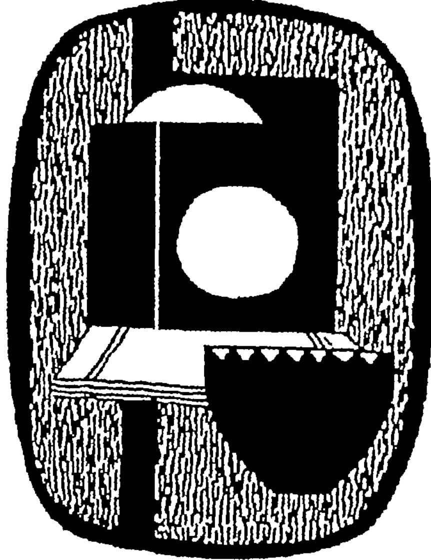


यं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
·स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
फलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
ापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

छत्र
द्रा-सी शीतल
भा वाले
नकी शोभाएँ
णि-झालर
ढ़ा रही है।
रोक रहे
दिनकर-आतप को
घोषित करते
तीन लोक की
तेरी
अभिनव परमेश्वरता।

उच्चै स्थित
ऊपर ठहरे हुए
शशाङ्क कान्तम्
चन्द्रमा की तरह सौम्य-शुभ्र
स्थगित भानुकर प्रतापम्
सूर्य-किरणों की प्रखरता को रोक दिया है जिन्होंने (और)
मुक्ताफल प्रकर जाल विवृद्ध शोभम्
मोतियो की झालर से जिनकी शोभा समृद्ध हुई है (ऐसे)
छत्र त्रयम्
तीन छत्र
तव
तुम्हारे
त्रिजगत परमेश्वरत्वम्:
तीन जगत् के परमेश्वरत्व को
प्रख्यापयत् विभाति
घोषित/प्रकट करते हुए सुशोभित हैं।

आपके शिरोपरि प्रदेश को अलंकृत करने वाले तीन छत्र आपकी त्रिलोक परमेश्वरता के उद्घोषक हैं। चन्द्रमा की भाँति सौम्य-शुभ्र, मोतियो की झालर से द्युति-समृद्ध इन छत्रों ने सूर्य-रश्मियो की प्रचण्डता को रोक लिया है। वस्तुत ये तीनों आपकी त्रिलोकव्यापी प्रभुता के जीवन्त प्रतीक हैं।



गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-

स्त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः ।

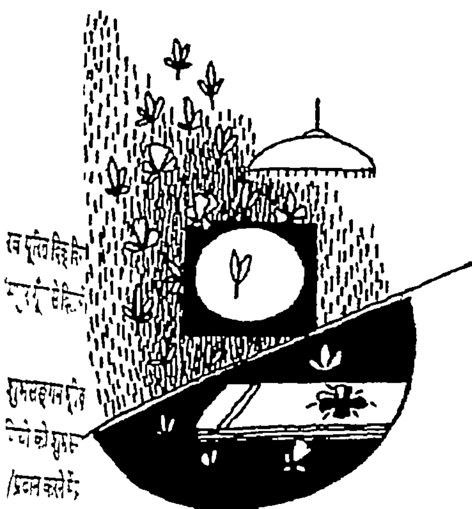
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,

खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

सकल दिशाएँ
ऊँचे स्वर मे
क्वणित-निनादित
तीन लोक को
शुभ सुख-संगम
सौंप रही है
सत्यधर्म की
विजय-घोषणा
करती अनुक्षण
ये दुन्दुभियाँ
नभ को
यश से
तेरे भरती ।

गम्भीर तार रव पूरित दिक् विभागः
गहन/उदात्त/मधुर गूँज से दिशाओ को गुँजाने वाला
त्रैलोक्य लोक शुभसङ्गम भूति दक्षः
तीन लोक के प्राणियो को शुभ समागम की विभूति लुटाने/प्रदान करने मे प्रवीण उदार
ते
तुम्हारे
यशसः प्रवादी
यश को उजागर करने वाला
दुंदुभिः
नगाडा/धौसा/दमामा
खे
आकाश में
सत् धर्म राज जय घोषण घोषकः सन्
समीचीन जैनधर्म तथा उसके प्रवर्तको का जयघोष करता हुआ
ध्वनित
बजता है ।

सारा आकाश आपके कीर्ति-घोषो से अनुगुँजित यह दुन्दुभिघोष सद्धर्म/समीचीन जैनधर्म का जयज है। अगजग व्यापी यह गंभीर-अनवरत रव समस्त दिश मे समा गया है। यह तीन लोक के प्राणियो को शुभ सम की विभूति लुटाने वाला है।

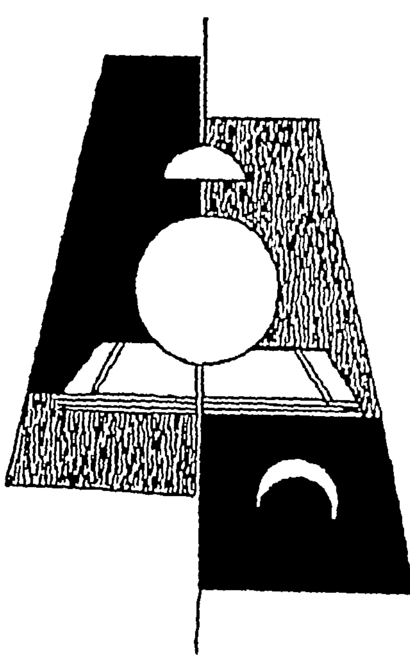


ारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-
ानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा।
ोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता,
्या दिव पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

पिक पारिजात
मेरु सुन्दर
ुष्प सन्तानक
बरसते सतत्
भू पर।
जल सुगंधित
वायु
जिनवाणी स्वयं
वन
बरसाती अविरल
धरा पर।

गन्ध उदबिन्दु शुभ मन्द मरुत् प्रपाता
जल की सुरभित बूँदो से युक्त
और स्वस्तिकर/सुखद मन्द-मन्द
हवा के झोको के साथ गिरने वाली
उद्धा
ऊर्ध्वमुख
दिव्या
अलौकिक/मनोहारी
मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, सन्तानक आदि
मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, सन्तानक इत्यादि
कुसुम उत्कर वृष्टि·
कल्पवृक्षो की पुष्प-वर्षा
दिव पतति
आकाश से होती है
वा ते वचसां
या तुम्हारे वचनो की
तति·
पक्ति ही
(पतति)
(फैलती है)।

उल्लास-पूरित देववृन्द आकाश में मन्दार, नमे पारिजात और सन्तानक नामक कल्पवृक्ष-पुष्पों क गन्धोदक की, सुख-स्पर्शी फुहारयुक्त वृष्टि कर रहे हैं, जि देख ऐसा प्रतीत होता है मानो आपके दिव्य वचन पक्ति उतर रहे हैं।

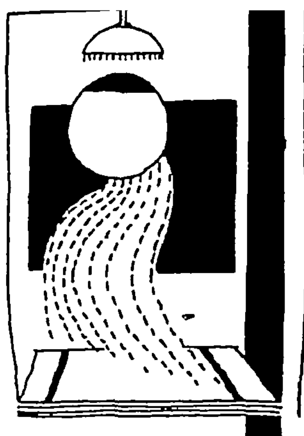


शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या-
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥ ३४ ॥

भामण्डल की विभा-रश्मियाँ
विभो ! हितंकर
तीन लोक के
द्युतिमन्तो को
करती लज्जित।
अनगिन प्रखर
सूर्य-पंक्ति
अविरल ज्योतिर्मय
सौम्य स्निग्ध
शीतल चन्दा-सी
रात जीतती।

ते विभोः
तुम्हारे/प्रभु के
प्रोद्यत् दिवाकर निरन्तर भूरि संख्य
संपूर्ण प्रकर्ष से उदीयमान सघन/सटे असख्य
सूर्यों की तरह
शुम्भत् प्रभा वलय भूरि विभा
खूब सुहावने भा-मण्डल की अतिशय आभा
लोकत्रय द्युतिमताम्
तीनो लोको के समस्त दीप्तिमान पदार्थों की
द्युतिम्
कान्ति को
आक्षिपन्ति
तिरस्कृत/लज्जित करती हुई
सोम सौम्यां अपि
चन्द्रमा के समान सौम्य होने पर भी
निशां अपि
रात्रि को भी
जयति
जीतती है।

तुम्हारे, संपूर्ण प्रकर्ष से उदीयमान परस्पर सटे असख्य सूर्यों की तरह खूब शोभन भा-मण्डल की अतिशय आभा तीनो लोको के समस्त दीप्तिमान पदार्थों की कान्ति को तिरस्कृत/लज्जित/अथवा बौना करती है; और चन्द्रमा के समान सौम्य होने पर भी रात्रि को जीतती है।



मूर्तिरह
सत्,तें

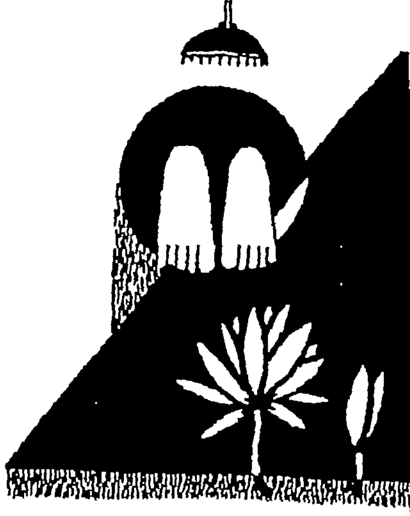
रेमा

अ॑ र्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः,
र्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्या. ।
दि
व्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
षास्वभावपरिणामगुणै प्रयोज्य· ॥३५॥

त्य धर्म के
त्व-कथन मे
ाति समर्थ जो
वर्ग-मोक्ष
का पथ बतलाती
तीन लोक को
विशद अर्थ
द्रव्यो के
उनकी पर्यायो के
सब को
उनकी ही वाणी मे
वितरित करती।

स्वर्ग अपवर्ग गममार्ग विमार्गणेष्ट
स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग का
अनुसधान करने वाले मुमुक्षुओ को अभिप्रेत
त्रिलोक्याः
तीनो लोको को
सद्धर्म तत्त्व कथनैक पटुः
सम्यक्/समीचीन धर्म के कथन मे एकमात्र
निपुण
विशदार्थ सर्व भाषा
स्वभाव परिणाम गुणै प्रयोज्य
पदार्थों को विस्तार से/असदिग्ध प्रतिपादित/
निरूपित करने मे समर्थ तथा समस्त
भाषाओ/बोलियो/उपबोलियो की प्रकृति
के अनुरूप परिणत होने के गुणो की
योजनाओ से सुनियोजित
ते
तुम्हारी
दिव्यध्वनि
दिव्यवाणी
भवति
होती है।

स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का अनुसधान करने वाले मुमुक्षुओ को अभिप्रेत तथा तीनो लोको को समीचीन धर्म का उपदेश देन मे खूब निपुण, विशदार्थ, सर्वगम्य भाषा, पदार्थों के विस्तृत/असदिग्ध निरूपण मे समर्थ, लोक-प्रयुक्त समस्त भाषाओं/बोलियों/उपबोलियो की प्रकृति के अनुरूप परिणत होने की क्षमताओ से सपन्न तुम्हारी दिव्य-ध्वनि होती है।

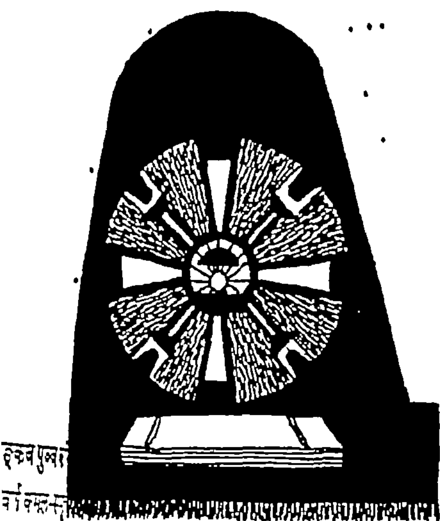


उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

उभय चरण
स्वर्णाम्बुज-जैसे
कान्तिपुंज है
नख जिनके
नयनाभिराम
किरणे बिखेरते
वहाँ-वहाँ
कमलो की रचना
करते सुरगण
जहाँ-जहाँ
तत्र चरण
प्रवर्तित होते
प्रभुवर!

जिनेन्द्र!
हे जिनवर!
उन्निद्र हेम नव पङ्कज पुञ्ज कान्ति
ताजा खिले हुए सुवर्ण कमल-समूह के स
कान्ति को धारण करने वाले
परि उल्लसत् नख मयूख शिखा अभिरामै
चारों ओर तरंगायित नख-आभा की
किरणों की अनी-श्री से सुन्दर/मनोहारी
तव पादौ यत्र
तुम्हारे चरण जहाँ भी
पदानि धत्तः
चिह्नित होते है/संस्थित होते हैं
तत्र विबुधा
वहाँ देवगण
पद्मानि
सुवर्ण कमलो की
परिकल्पयन्ति
संरचना करते जाते हैं

हे जिनेन्द्र! सद्य विकसित स्वर्ण-कमल-स समान कान्ति को धारण करने वाले, चारो ओर नख-द्युति की किरणो की अनीश्री से सुशोभित तुम्हा जहाँ भी सस्थित होते हैं वहाँ देववृन्द सुवर्ण कम खिलाते जाते है।



तथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
देशनविधौ न तथा परस्य।
क् प्रभा दिनकृत. प्रहतान्धकारा,
क् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥३७॥

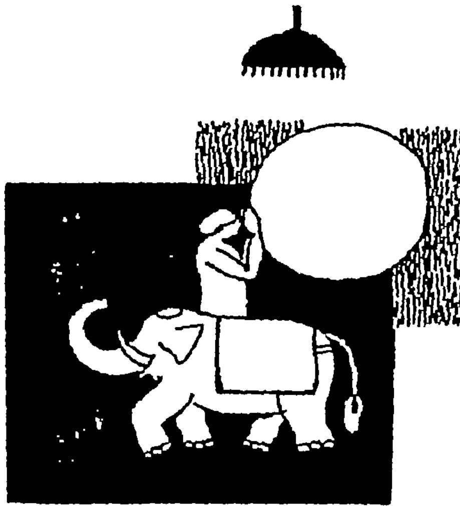
होते हैं

-देशना
ी अनुपम
ो है प्रभु
सी ही औरो की
।
कैसे सभव है ?

अन्धकार को
ध्वस्त कर सके
ऐसी आभा
सूरज मे ही होगी
अन्य ग्रहो मे कैसे ?

जिनेन्द्र !
हे जिनेश !
इत्थम्
इस प्रकार
तव धर्म उपदेशन विधौ
तुम्हारी धर्म-देशना की विधि/पद्धति
यथा
जैसी
विभूति
अतिशय वैभवशालिनी
अभूत्
हुई थी
तथा
वैसी
परस्य न
अन्य धर्मप्रवर्तको की नही हुई। (यह ठीक ही है , क्योकि)
दिनकृतः यादृक्
सूर्य की जैसी
प्रहतान्धकारा प्रभा
अन्धकार को नष्ट करने वाली रोशनी
होती है
तादृक्
वैसी रोशनी
विकासिन अपि ग्रहगणस्य कुतः ?
उदय प्राप्त करते हुए भी ग्रहगण मे कहाँ हो सकती है ?

हे प्रभो ! धर्म-देशना के क्षणो मे आपकी जो मनोज्ञ विभूति होती है, क्या वैसी किसी और को प्राप्य है ? सही है, अन्धकार को विच्छिन्न करने की जो क्षमता, जो ऊर्जस्विता सूरज में होती है, स्वभावतया नक्षत्रो में वैसी नहीं देखी जाती।

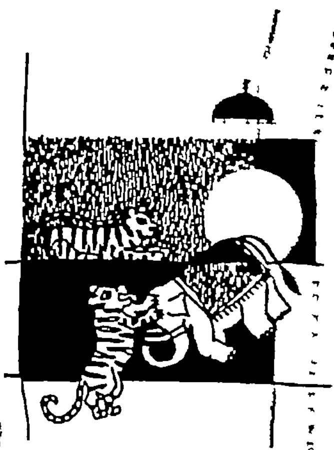


श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८॥

जिस गज के
कुम्भस्थल
मद मे भीगे चंचल
भौंर गुजन करते
क्रोध बढा है
जिसका
ऐरावत-सा
भीम-भयकर गज उच्छृंखल
शरणागत भक्तों का
क्या कुछ कर सकता है ?

श्च्योतत् मद आविल लोल
झरते हुए मद से मलिन तथा चचल
कपोल मूल मत्त भ्रमद् भ्रमर नाद
गण्डस्थल/कनपटी पर मतवाले होकर
मँडराते भौरो की गूँज से
विवृद्ध कोपम्
बढ गया है क्रोध जिसका
ऐरावताभम् उद्धतम् आपतन्तम् इभम्
ऐरावत के समान आकार वाले निरकुश
ऊपर आते हुए हाथी को
दृष्ट्वा
देख कर
भवत् आश्रितानाम्
आपके आश्रय में रहने वाले पुरुषो को
भयम्
भय
नो भवति
नही होता है।

झरते हुए मद से मलिन और चचल, कनप
मतवाले हुए मँडराते भौंरों की गूँज से कोप-विवृद्ध
की भाँति भीमकाय, निरकुश हाथी को सम्मुख अ
आपका शरणागत पुरुष भयभीत नही होता (स्थित
रहता है)।



भकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
फलप्रकरभूषितभूमिभाग ।
ाम: क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
ामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥३९॥

केहरि ने
काय
डूबे गज के
स्थल
डाले विक्षत
र धराको
न-सने गजमुक्ताओ से
या अलकृत
सा
नख पर शाण दिये
दहाड़ता नाहर
उभय चरण-गिरि-आश्रित
जनगण के
सम्मुख नत।

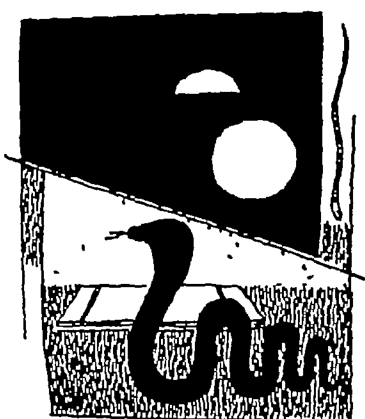


कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

प्रलय-पवन के
झोको से
दहाडते पावक-जैसी
धकधकती
फुसकारे भरती
निगलेगी जग सारा
इतनी आतुर ऐसी
जंगल की अगन विभीषण
कदम उठाये आती
किन्तु नाम के जल से तेरे
शान्त-शमित
होती पल-भर मे ।

कल्प अन्त काल पवन उद्धत
प्रलय की झझावात से उत्तेजित
वह्नि न कल्पम्
अग्नि के समान
ज्वलितम्
जलती हुई/धधकती हुई
उज्ज्वलम्
निर्धूम/लपलपाती
उत् स्फुलिंगम्
चिनगारियाँ फेंकती हुई
विश्वं जिघत्सुं इव
विश्व को निगल जाने की वासना लिये
सम्मुखं आपतन्तं दावानलम्
सामने आती हुई दावाग्नि भी
त्वत् नाम कीर्तन जलम्
तुम्हारे नाम-संकीर्तन-रूपी जल से
शमयति अशेषम्
पूरी तरह शान्त हो जाती है ।

प्रलय के उनचास पवन से उत्तेजित अग्नि के स धधकती, लपलपाती, चिनगारियाँ फेकती/उगल विश्व को निगल जाने की अदम्य वासना लिये, स आती दावाग्नि भी तुम्हारे नाम-सकीर्तन-रूपी जल पूर्णत शान्त हो जाती है।



ण समदकोकिलकण्ठनीलं,
द्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
मति क्रमयुगेण निरस्तशंक-
ामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

उठाये
ोद्धत
बे लाल
ह-काला
यल में समद कण्ठ-सा
ने को तैयार
ग को
मन आशका लाँघ
निकलता पार
भक्त तेरा
वह,
नाम-नागदमनी
जिसके मन।

यस्य पुंस. हृदि
जिस भक्त पुरुष के हृदय मे
त्वत् नाम नागदमनी
तुम्हारे नाम की नागदमनी है
(स)
(वह)
रक्तेक्षणम्
लाल-लाल आँखो वाले
स मद कोकिल कण्ठ
मतवाले कोकिल के
क्रोध उद्धतम्
क्रोध में
उत्फणम्

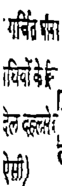


वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

खुँदी करते अश्व
चिघाडे हाथी भरते
सुन पड़ते चीत्कार
दिशाओं मे
सुदूर तक।
रणथल मे
सेनाएँ जब
दहाडती भीषण
तब
एकाकी शरणहीन नृप
लेकर तेरा नाम
शीघ्र ध्वज फहराता है;
ऐसे
जैसे सूर्य-रश्मियाँ
अन्धकार पर।

आजौ
लड़ाई के मैदान मे
त्वत् कीर्तनात्
आपके नाम-सकीर्तन से
बलवताम्
शक्तिशाली
भूपतीनाम
राजाओ की
वल्गत् तुरङ्ग गज गर्जित भीम नादम्
युद्धरत घोडो और हाथियो के हिनहिनाने
चिघाडने से जिसमे दिल दहलाने वाला
हाहाकार हो रहा है (ऐसी)
बलं अपि
सेना भी
उद्यत् दिवाकर मयूख शिखा अपविद्ध
उदीयमान सूर्य की किरणो की अनियो से
नष्ट/ध्वस्त
तमः इव
अन्धकार के समान
आशु
शीघ्र ही
भिदाम्
नाश को
उपैति
प्राप्त होती है।

रणभूमि मे, तुम्हारे नाम-सकीर्तन के प्रभाव से बलशाली राजाओ की युद्ध जूझते घोड़ो और हाथियो के हिनहिनाते चिघाड़ने से जिसने दिल दहलाने वाला रौरव हो रहा है, ऐसी सेना भी उदीयमान सूर्य की किरणो से नष्ट अन्धकार के समान शीघ्र ही नाश को प्राप्त होती है।

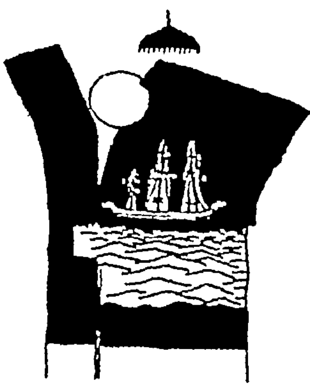


ग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
तारतरणातुरयोधभीमे ।
य विजितदुर्जयजेयपक्षा-
ादपंकजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

की नोको से विक्षत
हो से
के फव्वारे
य वेग से उठते
ो जिनसे
नदी मे,
ा
किये
ने की।

कुन्त अग्र भिन्न गज
बरछी की नोको से क्षत-विक्षत हाथियो के
शोणित वारिवाह
रक्त-रूपी जल-प्रवाह मे
वेग अवतार तरण आतुर
वेग से उतरने और उसे तैर जाने मे उतावले
योध भीमे
रणबाँकुरो से युक्त भयकर
युद्धे
युद्ध मे
विजित दुर्जय जेय पक्षाः
कठिनता से जीता जा सकता है ऐसे
शत्रुपक्ष पर
त्वत् पाद पङ्कज
आपके चरण-कमल-रूपी
वन आश्रयिणः
वन का आश्रय लेने वाले पुरुष
जयम् लभन्ते
विजय को प्राप्त करते हैं।

बरछी की नोकों से आहत हाथियों के रक्त-जल-प्रवाह मे वेग से उतरने और उसे तैर जाने के लिए उतावले योद्धाओं से युक्त भीषण रण मे कठिनता से जीता जा सके ऐसे शत्रुपक्ष को आपके चरण-कमल-रूपी वन में आश्रित पुरुष सहज ही जीत लेता है।

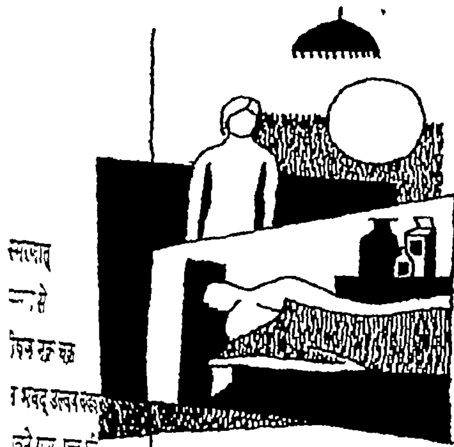


अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्ग शिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

सागर-जल
विक्षुब्ध
लहर-पर-लहर हहरती ।
बड़वानल धधका है
लपटे जिसकी भीषण ।
मगर,
मच्छ,
घडियाल
सिधु करते आलोडित ।
पोत
भँवर मे घिरा
डूबने की तैयारी
यदि
तेरा ही ध्यान
त्रास
पल मे
नममस्तक ।

भवतः स्मरणात्
आपके स्मरण से
क्षुभित भीषण नक्र चक्र
पाठीन पीठ भयद् उल्वण वाडव
अत्यन्त भयावने मगर, मच्छ, घडियाल
आदि के क्रुद्ध होने तथा भीमकाय पाठीन
मत्स्य की पीठ के जलपोतो से टकराने के
फलस्वरूप उत्पन्न विलक्षण धधकती
वाडवाग्नि से क्षुब्ध
अम्भोनिधौ
समुद्र मे
रंगत् तरङ्ग शिखर स्थित यान पात्राः
तीव्रता मे उछलती हुई तरंगों की चोटियो
डगमगा रहे है जिनके जहाज ऐसे भक्त
पुरुष
त्रासं विहाय
आकस्मिक संकट से उबर कर
व्रजन्ति
पार निकल जाते है ।

आपके नाम-स्मरण से अत्यन्त भयावने मगर, म
घड़ियाल आदि के क्रुद्ध होने तथा भीमाकार पाठीन ना
मत्स्य की पीठ के जहाजो से टकराने के परिणाम-स्व
उत्पन्न विलक्षण रूप मे धधकती वाडवाग्नि से क्षुब्ध स
तीव्र वेग मे उछलती तरग-शिखरो पर डगमगा रहे ब
लिये भक्त पुरुष अप्रत्याशित सकट से उबर कर पार नि
जाते हैं/तट पर पहुँच जाते है ।

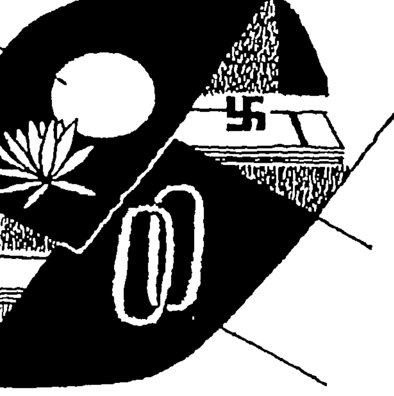


तभीषणजलोदरभारभुग्नाः
यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः।
ादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा,
भवन्ति कमरध्वजतुल्यरूपा : ॥४५॥

की आशा
ने
कुल छोड़ी है
ा जलोदर जिसे
काया
रूपा।
ता
नव भी
ादि
पद-पकज-रज तेरी
धारण करता तन पर
तो
पाता मकरध्वज-तुल्य रूप
अभिनव
पल-भर मे।

उद्भुत भीषण जलोदर
उत्पन्न असाध्य जलोदर वे
भार भग्ना·
भार से जो कुबडा गये है
शोच्यां दशां उपगता:
(और) जो शोचनीय अवस्था को प्राप्त हुए है
च्युत जीवित आशा·
(तथा) जिनके जीने की कोई आशा शेष नही रही है
मर्त्या
ऐसे मनुष्य भी
त्वत् पाद पङ्कज रजस् अमृत
तुम्हारे चरण-कमलो के धूलि-रूपी अमृत से
दिग्ध देहा:
शरीर को लिप्त कर के
मकरध्वज तुल्य रूपा·
कामदेव के समान रूपवान्
भवन्ति
हो जाते है।

उत्पन्न जलोदर-व्याधि के भार से जो कुबडा गये हैं जिनकी अवस्था शोचनीय है, जिनके जीने की कोई संभावना शेष नहीं है, ऐसे मनुष्य भी तुम्हारे चरण-कमल के धूलि-अमृत से शरीर को लिप्त कर कामदेव के समान रूपवान् हो जाते हैं।



तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निवद्धां,
ा रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
य इह कण्ठगतामजस्रं,
मवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

शीभूत
माला

र्णी सुमनो से ।
ो
मे

ी

ी
रा हो ।

इह
इस जगत् में
मया भक्त्या गुणैः[१] निबद्धाम्
मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक अनन्त ज्ञानादि गुणो
गूँथी गयी
रुचिर वर्ण [२] विचित्र पुष्पाम्
मनोज्ञ/मनोहारी वर्णों के बहुरंगी पुष्पो
वाली
तव
तुम्हारी
स्तोत्र स्रजम्
स्तोत्र-रूपी इस माला को
यः
जो पुरुष
अजस्रं कण्ठगताम्
सदा कण्ठ मे
धत्ते [३]
धारण करता है
तं मातुङ्गं [४] लक्ष्मीः
उस प्रतिष्ठा-प्राप्त पुरुष को
राज्य/स्वर्ग/मुक्ति/काव्य-रूपी लक्ष्मी
अवशा समुपैति
विवश हो कर प्राप्त कर लेती है ।

१ गुण, धागा, २ वर्णमाला के वर्ण रग, ३ धा करता है, कण्ठस्थ करता है, ४ ऊँची प्रतिष्ठा/सम्मा आचार्य मानतुङ्ग।

हे जिनेश्वर ! इस जगत् मे मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक अनन्त ज्ञानादि गुणो से गूँथी गयी मनोज्ञ वर्णों/मनोहारी रगो के वहुविध पुष्पो वाली तुम्हारी इस स्तोत्र-रूपा माला को जो पुरुष सदैव कण्ठ मे धारण करते है अथवा इसे कण्ठाग्र करते हैं उस प्रतिष्ठित पुरुष को अथवा इस स्तोत्र के शिल्पी मानतुग को राज्य/स्वर्ग/मोक्ष/काव्य-रूपा लक्ष्मी विवश हो कर वरण करती है ।

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

डॉ. नेमीचन्द जैन

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

एकान्त अपना-अपना; अनेकान्त सबका

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका
डॉ नेमीचन्द जैन

प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन,
६५, पत्रकार कॉलोनी,
कनाडिया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००९, मध्यप्रदेश

सपादन प्रेमचन्द जैन

प्रथम आवृत्ति अगस्त १९९३

मूल्य तीन रुपये

ISBN 81-85760-12-8
अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक सख्या
८१-८५७६०-१२-८

क्रम

पूर्वकथन

आज हम सकट के ऐसे भयावह क्षणो से गुजर रहे हैं, जब चारो ओर मे जीवन की उलझनें वढ गयी हैं और इस सघन अन्धकार मे हमे स्पष्ट/निर्द्वन्द्व कुछ सूझ नही पड रहा है। चारो ओर हिंसा का खौफ है। मारकाट, रक्तपात, आतक, लूटखसोट, वम-विस्फोट, युद्ध, मन-मुटाव, शोषण, धोखाधडी, वेईमानी, भ्रष्टाचार, गुडागिर्दी, तस्करी आदि ने मानव-समाज के स्वाभाविक ताने-वाने को छिन्न-भिन्न कर दिया है। चतुर्दिक् गलतफहमियो, गैरयकीनियो, प्रतिद्वन्द्विताओ, और सदेहो-शकाओ का जाल विछा हुआ है। सव एक-दूसरे को शक-शुबह की नजर से देखने लगे हैं। कोई पूरी तरह आश्वस्त नही है। सव जानते हैं किसी भी उलझन, विकृति या रोग को टालने से वह वढता जाता है, और जव असाध्य हो पडता है तव हम उसके समाधान के लिए भागमभाग-दौड़धूप करते हैं। चिडियाँ जव खेत चुग चुकती है, तव हमारी आँखें खुलती हैं।

मुश्किल यह है कि समाधान हमारे पास ही है। हमारी पलको-तले है, किन्तु हम उसे देख नही पा रहे हैं। लोग प्राय. निकटवर्ती वस्तुएँ देख नही पाते हैं, और सुदूरवर्ती किसी पदार्थ पर अपनी पकड कायम करने की झूठी कोशिश करते हैं। ऐसे मे न तो माया ही मिलती है और न राम। मुट्ठियाँ रीती रह जाती हैं।

हमारा जो साम्यतिक उत्थान हुआ है उसे देखते जीवन-की-कठिनाइयाँ और पेचीदगियाँ भी काफी वढ गयी हैं। हम समझ नही पा रहे हैं कि हमारे सम्मुख जो घटित है, उसकी किस्म और कोटि, स्वभाव और शक्ल कैसी है? हम अटकलो मे किसी अन्तहीनता मे चल रहे हैं। औद्योगिक प्रगति और विज्ञान की उपलव्धियो ने हमारे उजालो को वढाने की वजाय हमारे अँधेरो को वढाया है। नयी तकनीको और वैज्ञानिक उपलव्धियो का दोप इसमे नही है, दोप है असल मे हमारे सोच का। हम वहुमुखीन और सहिष्णु नही हैं। शायद हम यह भी नही सोच पा रहे हैं कि किसी भी समस्या अथवा अस्तित्व का एक ही पहलू नही होता। उसके कई पक्ष होते हैं। हम अक्सर किसी एक पहलू, पक्ष, या कोण से चिपक पडते हैं और उस पर इतने अविचल-अडिग हो पडते हैं कि दूसरे पसोपेश मे पड जाते हैं। हम खुद को सर्वोपरि मान कर अन्यो को, जो हम-जैसे ही प्रभुसत्तात्मक ही होते हैं, अपने से छोटा समझ वैठते हैं। हमारे इस प्रदूषित और एकागी सोच के कारण वात उलझती जाती है। असहिष्णुताएँ और झुंझलाहटे हमे वुरी तरह जकड लेती हैं। हम स्वय से और सत्य से रूठ जाते हैं। मानने लगते हैं कि जो हमारे इर्दगिर्द है, वह वैसा ही है जैसा हम सोच रहे हैं। हम उसके प्रभु हैं, उस पर हमारा नियन्त्रण है, किन्तु वास्तविकता यह नही है, इससे काफी भिन्न है।

हमारे चारो ओर अपूर्णताएँ हैं। पूर्णताओ की खोज मे आदमी लाखों-लाख वर्षों से लगा हुआ है, किन्तु वह पूर्णता को — ऐसी पूर्णता को — जिसे हथेली पर परोस कर दिखाया जा सके, या जिसे शब्दो मे कहा जा सके — पता वह नही लगा पाया है। अनुभूति-की-पूर्णता उसने पायी है, किन्तु इसकी स्थूल अभिव्यक्ति शब्दातीत है। असल मे पूर्णता को अनुभूति-की-आँखे ही देख सकती हैं।

जैनदर्शन का एक शब्द है 'अनेकान्त', जो यह मानता है कि विश्व का कोई अस्तित्व एकल नही है। पूरा लोक अन्त-सबन्धो का एक विराट स्तूप है। सब-सारे सत् एक-दूसरे मे बुने हुए है। एक की पकड में सब पर पकड सभव है। आधा-अधूरा पूरा हो पडने के लिए बेकरार है। यह तडप हर अस्तित्व मे है। सब कुछ बहुआयामी/बहुमुखीन है। इस बहुमुखीनता को पकडने और समझने के लिए बहुमुखीन आँख की जरूरत है। एकल आँख सीमित कुछ जान सकती है, किन्तु यहाँ सबकुछ सापेक्ष है – एक-दूसरे से निबद्ध।

'अनेकान्त' का अर्थ ही यह है कि विश्व का सबकुछ बहुमुखीन है। एक समय मे किसी भी वस्तु के एक ही पहलू को हम जान पाते हैं, दूसरे पहलू उपस्थित रह कर भी हमारी पकड मे नही होते, और हम मान लेते है कि, जो हमारी पकड मे नही है, वह अनुपस्थित है। सारा जाल-जजाल यही से शुरू होता है।

चाहे व्यक्ति हो, चाहे समाज, चाहे और कुछ, है वह बहुआयामी/बहुधर्मी। यहाँ 'धर्म' शब्द को समझने की आवश्यकता है। यह धर्म वह नही है जिसे ले कर ससद् मे विधेयक लाये जा रहे हैं, यह धर्म वह है जिस पर न तो कोई विधेयक लाया जा सकता है, और न ही जिसे प्रतिबन्धित किया जा सकता है। वस्तुत. यह धर्म किसी के आडे भी कभी नही आता।

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। आग गर्म होती है। उष्णता उसका स्वभाव है। वह उसका धर्म है। जल का स्वभाव शीतलता है। ठण्डक उसका धर्म है। अब आप ही बताये इस धर्म को कानून अपनी गिरफ्त मे कैसे लेगा? कानून का स्वय का अपना धर्म है। उसका धर्म है कि वह जिस उद्देश्य से बने, उसे सपन्न करे। समझना होगा कि भारत मे शब्दार्थ को उसकी गहराई मे जानने की प्यास और परम्परा रही है। अनेकान्त वस्तुत्व को उसके सपूर्ण सम्यक्त्व मे खोजने की प्रक्रिया है। क्या है, क्या नही है, कहाँ है, कहाँ नही है, कैसा है, कैसा नही है, कितना है, कितना नही है; इत्यादि अस्ति-नास्ति-बोध अनेकान्त/स्याद्वाद के जरिये ही सभव है।

ज्ञान का कोई भी इलाका हो, बहुमुखीन हुए बगैर हम उसकी गहराइयो और विस्तृतियो, ऊँचाइयो और तराई-घाटियो को जान नही पाते। आज हम सभ्यता के स्थूल आवेग मे अपनी बहुमूल्य दार्शनिक सपदा से वचित हुए हैं। हमे सतह तो दिखायी दे रही है, किन्तु तल हमारे हाथ से छूट गया है। हम तट पर हो कर भी तटस्थ नही हैं। जो भी हमारे सामने आ रहा है, हम उसे अपने रग मे रग कर ग्रहण कर रहे हैं। यह दुर्भाग्य है और खतरे से खाली नही है।

इन विकट परिस्थिति मे अनेकान्त और स्याद्वाद को जानना जरूरी है। चार लघुलेखो मे मैंने अनेकान्त और स्याद्वाद को सरल भाषा मे समझाने की कोशिश की है। मुझे विश्वास है प्रस्तुत पुस्तिका अनेकान्त और स्याद्वाद के क ख ग को समझने मे उपयोगी सिद्ध होगी और पाठक मे इन दोनो को गहराई मे पाने की एक अबुझ प्यास जगायेगी।

—नेमीचन्द जैन

सपादक 'तीर्थंकर' 'शाकाहार-क्रान्ति'

इन्दौर पन्द्रह अगस्त १९९३

हथेली की आँख

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। उसमे जानने की प्यास है, सत्य की तडप है। वह सिर्फ जीना ही नही, जानना भी चाहता है। उसका जानना केवल स्थूल तक ही सीमित नही है, बल्कि वह गहराई मे सूक्ष्मतम को जानने के भी प्रयत्न करता आ रहा है। इसमे उसे निराशाएँ हुई है, किन्तु उसने आशा का आँचल नही छोडा है। सत्यान्वेषण की यह यात्रा वह बिना थके अविराम कर रहा है। उसके भीतर बैठी सम्यक्त्व को तलाशनेवाली चिनगारी उसको ज्ञान के लिए गरमाये रखती है और इसीलिए वह सतत् इस खोज मे कुछ नये आयाम जोडता जाता है। उसकी इन्द्रियाँ सत्य को ग्रहण करना चाहती है, किन्तु उनकी अपनी सीमा है, सकोच है, अत यह उनके बूते का काम नही है, यही कारण है कि आदमी ने अपने अन्तरग शक्ति-स्रोतो को खोजा है और जहाँ जब इन्द्रियो ने आत्मसमर्पण किया है, वहाँ तब उसने उस इन्द्रियातीत ऊर्जा का उपयोग किया है। उसकी यह ज्ञान-ऊर्जा अनन्त है। वह जानी हुई नही है, दिखलायी भी नही देती, इसीलिए तत्काल भरोसा नही होता, किन्तु स्वानुभूति मे प्रवेश पर इसे जाना जा सकता है और फिर कोई बात अव्यक्त या अप्रकट नही रह जाती।

वह इस तथ्य को भलीभाँति जान गया है कि सत्य बहुकोणी है और उसे निरपेक्ष जानना असभव है। उसकी एक मुद्रा या तर्ज नही है, अनेक है, और इन समस्त मुद्राओ या रूपाकारो को एक ही समय मे युगपत् जाना या देखा नही जा सकता। इस तरह युगपत् ज्ञान और कथन सभव नही है इसीलिए वस्तु मे स्थित अन्तर्विरोधी मुद्राओ को युगपत् यानी एक ही समय मे जानने के लिए किसी विशिष्ट चिन्तन-प्रक्रिया और पद्धति की जरूरत है। या तो आत्मा को इतना

उघाड लिया जाए कि वह वस्तु या स्थिति की समस्त पर्यायो को युगपत् देख सके या फिर इनके युगपत्-बोध के लिए भाषा की किसी विलक्षण पद्धति का आविष्कार किया जाए। सत्य को केवल एक कोण से देखना-जानना-कहना असम्भव है, इस तरह उसकी समग्रता अव्यक्त रह जाती है। आम भाषा लाचार है, वह एक समय मे एक ही अभिधार्थ प्रकट कर सकती है। जब कि सत्य बहुकोणी है या वस्तु अनेक-धर्मा है, कष्टप्रद यह इसलिए भी है कि वस्तु की ये विशिष्टताएँ या गुणधर्म परस्पर-विरोधी भी है, गहरे सहअस्तित्व मे साँस ले रहे है, बने हुए है, आदमी के लिए यह सम्भव नही है। समस्त लोक परस्पर-विरोधी गुणधर्मो का एक गुलदस्ता है, इस तथ्य को चाहे कितना ही काव्यात्मक क्यो न बनाया जाए, आसानी से जानना सम्भव नही है। ज्ञान के लिए दो शर्त चाहिये १—अनाग्रह, २—पक्षातिक्रान्त हृदय। जो चित्त किसी एक छोर पर पहुँच कर रुक जाता है, उसे कुछ भी प्राप्त नही होता, और जो उस छोर को अन्तिम नही मानता, वह समग्रता तक धीमे-धीमे ही सही, पहुँच जाता है।

तत्त्वखोजी किसी भी बात को सहसा स्वीकार या अस्वीकार नही करता। वह उसे अनेक स्थितियाँ और विविध सन्दर्भो मे बिठा कर उसकी विशेषताओ का उत्खनन करता है। वह अन्तिम तल तक जाने की कोशिश करता है, निराश होना वह जानता ही नही, असफलता उसके लिए कोश के बाहर का शब्द है। वह सम्भावनाओ मे विश्वास करता है और हर सम्भावना को पकड कर उसका भावभीना आतिथ्य करता है, उसकी सम्मानजनक परख करता है। तर्क की कसौटी पर खरा उतरते ही वह उसे स्वीकार करता है। जो बात उसे तर्कसम्मत नही दिखायी देती, उसे वह अस्वीकार नही करता, बस उसे भावी सम्भावना की पेटी मे डाल रखता है। इस तरह वह आग्रह की अपेक्षा ग्रहण मे जाता है। वह हर 'भी' को टटोलता है और 'ही' तक जाने से पहले उस वस्तु को सभी ओर से तलाशने की कोशिश करता है।

तथ्य यह है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञानरूप है। वह दर्पणवत् है संसार में मोर्चा खाया हुआ दर्पण। दर्पण मे प्रतिबिम्ब आते है। ये प्रतिबिम्ब एक स्थिति के प्रतिनिधि ही होते है। ज्ञेय का आकार

दर्पण मे आता है। ज्ञेयाकार ज्ञान नही है। ज्ञान इन आकृतियो से भिन्न एक समग्र-सकल अनुभूति है। मुश्किल यह है कि ज्ञेयाकारो को ही बहुधा अन्तिम मान कर उन्हे या उनके किसी भाग को वस्तु मान लिया जाता है। सारा तमाशा ज्ञेयाकारो के द्वन्द्व का है। जो ज्ञेय है, वह पूरे दिगम्बरत्व मे अप्रकट है, जितना प्रकट है, उतना ग्राह्य है; किन्तु केवल वही नही है यह मान लेना जरूरी है। जो और जितना खुल गया है, वह और उतना ही उस वस्तु या स्थिति के सबन्ध मे अन्तिम नही है। उसके आगे सकलता है, समग्रता है, और जानने को बहुत कुछ अवशिष्ट है। इसलिए इस ज्ञेय को उसकी सकलता मे जानने की कोई ऐसी निर्दोष प्रणाली चाहिये जो विरोधो का समन्वय करती हो और वास्तविकता तक सीधी पहुँच बनाती हो।

'स्यात्' शब्द की कथा बडी विलक्षण और लम्बी है। वाकई यह एक रोचक उपन्यास से कम नही है। सही इतिहास यह है कि इस शब्द के साथ बडे जुल्म हुए है। इसे अभी तक किसी जैनेतर ने ठीक-ठीक समझने का प्रयास ही नही किया। जो इसे जान पाये है, वे चुप है, उसका उपयोग कर रहे है, अत उनके मन का कोलाहल कुछ शान्त हुआ-सा है। 'स्यात्' को अधिकाश विद्वान् 'सशय, अनिश्चय, शायद, कदाचित्' इत्यादि का पर्याय मान कर चले है। यह ठीक नहीं है। 'स्यात्' सशय नही है, निश्चय तक पहुँचने की एक स्वस्थ, वैज्ञानिक और तर्क-सम्मत प्रणाली है। यह माध्यस्थ वृत्ति है। 'स्यात्' निपात है अर्थात् इसने अपने अर्थ को इस तरह विकसित कर लिया है कि अब वह व्युत्पत्ति-विज्ञान की प्रक्रिया से आगे खिसक गया है। वह व्याकरण के अनुशासन मे-से निकल कर जीवन के अनुशासन मे आ गया है, यानी सत्य को झेलने और परखने की कसौटी बन गया है। 'स्यात्' का अर्थ है, कुछ जाना गया है, बहुत कुछ अजाना रह गया है, घबराओ मत, इसे भी खोजो, यह भी मिलेगा। किसी भी स्थिति को अन्तिम मत मानो, सम्भावना को स्वीकार करो, उसकी प्रतीक्षा करो, उसके लिए वैचारिक तपश्चर्या करो और उपलब्ध करो। जब हम कौए को काला कहते है, तो हमारा यह कथन अन्तिम नही है। वह काला है, तो निरपेक्ष काला नही है। किसी पहिचान के सन्दर्भ में काला है।

इसलिए जब हम यह कहते है कि 'स्यात्' यह काला है तो हम यह नही कहते कि वह काला नही है या शायद वह काला है, बल्कि हम यह कहते है कि वह काला भी है; किन्तु यह रग अन्तिम नही है। उसके पर काले है, रुधिर लाल है, अस्थियाँ सफेद है। यह स्थिति स्वीकार की नही है, खोज की है।, 'स्यात्' अनिश्चय का नही, खोज का शब्द है। हमारी प्यास बुझी नही है वह अभी साँस ले रही है, 'स्यात्' हमारी इस जीवन्तता का प्रतीक है।

'स्यात्'-कथा रोचक है, महत्त्व की है, ऐतिहासिक है, क्रान्तिकारी है। चिन्तन के और विज्ञान के क्षेत्र मे वह एक स्थापित प्रणाली है। उसमे विरोधो का परिहार तो है ही, इसके अतिरिक्त ज्ञान के नये क्षितिजो की पडताल भी है। सत्य का खोजी आँख मे ही नही देखता, आँख के पार भी बहुत कुछ देखता है। वह अपनी ही खोज पर अटल नही रहता, दूसरो द्वारा स्थापित खोज-परम्पराओ का ही उपयोग करता है। जो विज्ञानी ज्ञान को उस तक ले आया है, उसके आगे वह बड़ी सजगता से पाँव रखता जाता है। 'स्यात्' के वैभव को सन्देह की नजर से पाना असम्भव है, उसे पक्षातीत और सप्रदायातीत चित्त से ही पाया जा सकता है। कोई प्रणाली किसी एक सप्रदाय या धर्म की है, इसलिए जीवन मे उसका प्रवेश निषिद्ध है, तगदिली है। अब वह सब टूट गया है, और हम विज्ञान के युग मे है। जैनधर्म या स्याद्वाद का प्रहार भी इसी वैचारिक असहिष्णुता और सकीर्णता पर है।

इसलिए सबसे पहला काम यह होना चाहिये कि इस खजाने को अर्थात् 'स्यात्' के ऐश्वर्य को हम उन्मुक्त कर दे और बताये कि सत्य बहुकोणी है, और उसका हर एक कोण ज्ञातव्य है; जो हमारी झोली मे है, वह अन्तिम नही है, उसके अलावा बहुत कुछ ऐसा है जिसका एकत्रण जरूरी है। यदि यह कहा गया कि यह जो मै लाया हूँ या कह रहा हूँ, वह अन्तिम है, तो फिर ऐसे दुराग्रह से सत्य की कोई मैत्री नही है। सत्य उनके साथ जीता है जो उसके साथ उसकी पर्यायो को खोजने की कोशिश मे बडी उदाराशयता मे जीवित है। 'स्यात्' का एक वैज्ञानिक, एक सास्कृतिक और एक आध्यात्मिक

आयाम है। यह जैन तीर्थंकरो द्वारा सदियो पूर्व अपनायी गयी चिन्तन-प्रक्रिया है। इसका सबसे महत्त्व का पहलू यह है कि हर वस्तु को सापेक्षता मे ढूंढती है। सात दृष्टियो से उसे उपलब्ध करने पर इसका बल है। इसे जैन शब्दावली मे 'स्याद्वाद' के सात भग कहा जाता है। स्थिति को वहाँ तोडो जहाँ वह पूरी तरह प्रकट होने पर विवश हो जाए, तोडो किन्तु पाओ उसे पूरा। खण्डन मे समग्रता का आकलन-अन्वेपण इस प्रणाली की विलक्षणता है। बालक को यह बताना जरूरी है कि लकडी के जो चौकोर घन उनके पास हैं, उससे वह कोई महल या सिहद्वार बना सकता है; किन्तु इनमे-से कोई भी टुकडा महल नही है। इन टुकडो मे-से कई आकार घडे जा सकते है। किंडरगार्टन-प्रणाली मे-से अनेकान्त या स्याद्वाद का सहजबोध जन्म ले सकता है।

एकान्त अपना-अपना : अनेकान्त सबका

हम अनन्तताओ से घिरे हुए है, और स्वय एक अन्त है, यह बात अलग है कि हमे इन अनन्तताओ (इनफिनिटीज) का कोई अह सास या बोध नही, किन्तु यथार्थ यही है कि अनन्तताएँ हमारे इर्द गिर्द है और हम एक नगे बियावाँ मे खडे है। क्या इन अनन्तताअ के बीच दरार डालने का कोई औजार हमारे पास है? है, किन् हम जानते नही कि वह क्या है, कैसा है, और उसे किस तरह हासि किया जा सकता है।

पहले हम यह देखे कि यह अनन्तता अनन्तत है क्या? अनन्तत की सीधी इबारत है—एक अन्तहीन स्थिति, एक ऐसी अवस्था जह हमे कोई सिरा, कोई छोर, कोई तट दिखायी न दे, सक्षेपत एक तट विहीन स्थिति। मसलन, गणित का आधा ($\frac{1}{2}$), इस आधे ($\frac{1}{2}$) क आधा ($\frac{1}{2}$), फिर इस आधे का आधा, पुन शेप का आधा, फि आधा—क्या इस तरह अधाई का काम कभी समाप्त हो सकता है आधे का आधा करते जाने की इस यात्रा के अन्तिम सिरे पर पहुँ भले ही हम न पाये, किन्तु वह होता जाएगा—'होने' के द्वार सदै खुले रहेगे।

दूसरा उदाहरण आप रगविज्ञान से ले। क्या लाल रग कह है? शायद वह कही नही है। लाल रगो का एक कुटुम्ब अवश कही है; किन्तु लाल रग जैसी कोई चीज कही नही है, क्योकि किसी लाल मे यदि हम हरे रग का स्पर्श देना शुरू करे और स्पर्श-सख्या मे एक-के-बाद-एक वृद्धि करते जाएँ तो हरे की बुनियाद पर विकसित रगो की एक सुखद शोभायात्रा उठ खडी होगी। इसी तरह किसी लाल को हम काले का, नीले का, पीले का, सफेद का क्रमश बढता हुआ स्पर्श देते जाएँ तो बात बढती जाएगी। लाल रगो का समुदाय बढता

जाएगा, और उसकी एक अन्तहीनता निर्मित हो जाएगी। यह अनन्तता सभी रगो की हो सकती है।

अन्तहीनता का एक उदाहरण स्वाद मे-से लेगे। मिठास को ले। यह मीठा है, वह मीठा है, आम मीठा है, शक्कर मीठी है, गुड मीठा है, अमरुद मीठा है—एक खास दरख्त का अमरूद खास तरह से मीठा है, और दूसरे झाड का किसी और तरह से, यानी मिठास का कोई स्पष्ट छोर हमारे हाथ नही है। और फिर हम यह भी कहाँ जानते है कि मिठास विषय (वस्तु) मे है, या विषयी मे। सभव है किसी थके हुए आदमी को जो चीज़ कम मीठी लग रही हो, वह एकदम खाने को तत्पर आदमी को कही अधिक मीठी लगे। एक बालक को चॉकलेट जितनी मीठी लगती है, एक प्रौढ को सभव है वही उतनी मीठी न भी लगे। कडवाहट का भी यही हाल है। नीम कडवी होती है, करेला कडवा होता है, कुनैन कडवी होती है, किन्तु ये किस्म-किस्म की कडवाहटे क्या एक-सी होती है? और यदि ये जुदा-जुदा है तो फिर इनके अलग-अलग नाम क्यो नही है? यदि करेले की सब्जी मे मिठास, या खटास की मात्रा घटा-बढा दे तो कडवाहट के अनन्त भेदोपभेद उपस्थित हो जाएँगे, और हमारी भाषा इनकी अन्तहीनता के सम्मुख गूगी हो जाएगी, घुटने टेक देगी। इसका मतलब यह हुआ कि मिठास और कडवाहट भी मिठास और कडवाहट के कुटुम्ब है, अलग मे इनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।

ध्वनिग्राम है। 'क्' के लिपिगत आकार को हम ले। 'क्' की मुद्रण में ही छोटी-मोटी घुमावदार नाना आकृतिया है। एक कलाकार की कूची में 'क्' की अनेकानेक शक्ले हो सकती है, मतलब यह कि 'क्' भी 'क्' नामक आकृतियो का एक महासमुद्र है, अलहदा उसकी कोई स्थिति नही है। इस तरह हर जगह अनन्तता है, एक अन्तहीनता में से गुजर रहे हैं हम सब ओर।

मजा यह है कि इस अन्तहीनता की बात सबसे पहले किसी वैज्ञानिक ने नही कही, जैनदर्शन ने इसका स्पष्ट कथन किया। 'अनेकान्त' का अर्थ ही अनन्तता है। यह शब्द वस्तु की बहुत सीधी-सादी इबारत प्रस्तुत करता है। यह कहता है वस्तु बहुआयामी है, वह अनेक धर्मा है। कई-कई पहलू इस एक के हो सकते है और उन सारे अन्तो यानी कि पक्षो को युगपत् नही कहा जा सकता। एक ही आदमी पिता, पति, पुत्र, प्रपौत्र, चाचा, काका, नाना, बाबा, दादा इत्यादि हो सकता है, किन्तु एक साथ नही होता। वह ही है यह सब, किन्तु सदर्भ और सबन्ध का प्रश्न बराबर बना रहता है। यही महत्त्व का है। प्राय हम किसी वस्तु की व्याख्या करते समय उसके सदर्भ को भुला बैठते है, और एक तरह के दुराग्रह मे जीने लगते है। इससे हमारा कथन तो अपूर्ण रह ही जाता है, कई-कई झझटे भी खडी हो जाती है। अपेक्षाओ, सदर्भो या सबन्धो का खयाल यदि हमे रहे और हम यह जानते हो कि अमुक व्यक्ति, वस्तु, अथवा स्थिति कभी इकहरी नही है, वह पूरी एक झुण्ड या जूथ है तो फिर हम पूर्णता की ओर कदम उठाने लगते है। पूर्णता एक विन्दु मे भी होती है, किन्तु क्या कोई बिन्दु अनन्त बिन्दुओ का पुंज नही होता? सिन्धु भी अन्तत. बिन्दुओ का एक झुण्ड, एक कुटुम्ब ही है। उस सारे को बिन्दुओ मे तोडा जा सकता है। वर्षा मे क्या यही नही होता है?

इस तरह जब तक हम यह नही मान लेते कि हर चीज और हर हालात बहुआयामी अथवा बहुकोणीय है, हमारा पॉव ज्ञान के इलाके मे ठीक से नही जम सकता। ज्ञान के क्षेत्र मे चरण रखने का मतलब ही यह है कि हम मान कर चलते है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति या स्थिति अन्तिम रूप से हमारी पकड़ मे नही है, उसकी पहचान

हमे अलग-अलग समयो, अलग-अलग क्षेत्रो, अलग-अलग स्थितियो, और अलग-अलग कोणो से करनी होगी। ऐसा करना ही तर्कसम्मत है, अन्यथा कोई स्थिति नही है कि हम किसी चीज को उसकी अधिकाधिक पूर्णता मे जान पाये। दिलचस्प यह है कि हर ज्ञान-कोण के बाद एक-न-एक द्वार अनखुला रह जाता है। सभावनाओ का द्वार कभी बन्द नही होता। इस तरह अनेकान्त वस्तु के व्यक्तित्व को परिभाषित करन का माध्यम है, बल्कि यो कहा जाना चाहिये कि सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक है, इस तथ्य को हम अनेकान्त द्वारा ही जान पाते है।

प्राय लोग 'अनेकान्त' और 'स्याद्वाद' को एक ही मान बैठते है। यह भूल है। ये दोनो एकार्थक शब्द नही है। जुडे हुए है, किन्तु पर्याय नही है। एक पूर्वार्ध है, दूसरा उत्तरार्ध। अनेकान्त पूर्वार्ध है, स्याद्वाद उत्तरार्ध। अनेकान्त वस्तु के व्यक्तित्व की घोषणा है, स्याद्वाद इस घोषणा को ले कर की जाने वाली 'इन्क्वायरी' अर्थात् भाषिक खोज-बीन है। भाषा की लाचारी को हम स्याद्वाद से पूरा (सप्लीमेंट) करते है। 'स्याद्वाद' स्वय खतरे की घण्टी है। इसे भी लोगो ने प्राय गलत ही समझा है। 'स्यात्' का अर्थ लोगो ने बडे-बडे मनीषी चिन्तको ने भी, भ्रमवश फारसी का 'शायद' कर लिया है, और इसी कारण स्याद्वाद को सदेहवाद कह कर अपनी अज्ञानता को प्रकट किया है। मूल मे 'स्यात्' निपात है। निपात अव्यय होते है। ये सदा एकरूप रहते है। इनके रूप नही चलते। यहाँ इसका अर्थ है एक अपेक्षा, एक सदर्भ, एक सभावना, एक हाशिया – अर्थात् इसके द्वारा एकान्तिक कथन नही होता कि फला वस्तु फला ही है इसके अलावा कुछ हई नही। वस्तुत. विचार के क्षेत्र मे किसी निश्चय तक पहुँचने के लिए कई मजिलो से गुजरना होता है। सत्य कोई एकमजला मकान तो है नही, वह बहुमजला भवन है, जिसकी हर मजिल पर कई-कई कमरे है, क्या उन सबको जाने बिना सपूर्ण इमारत के बारे मे अधिकृत कुछ कहा जा सकता है ?

पाँच अन्धो और एक हाथी की कहानी तो विख्यात है ही, इस सदर्भ मे एक कहानी और याद आती है। सत विनोबा ने किसी

आदमी को कभी इसे सुनाया था। उन्होंने बताया कि एक आदमी उनके पास आया और कहने लगा — 'हिमालय उत्तर मे है'। मैने उसे भीतर से झकझोरने-बुहारने की मशा से कहा — 'वह तो दक्षिण मे है' आदमी घबराया। सोचने लगा, विनोबा कही पागल तो नही हुए है कि सदियो से उत्तर मे चले आ रहे हिमालय को दक्षिण मे बता रहे है। या तो इनका दिशाज्ञान अपूर्ण है, या फिर कही कोई भूल कर रहे है। वह रोष-मुद्रा मे उन्हे निर्निमेष देखता रहा। विनोबा उसकी मुश्किल भाँप गये। बोले—'देखो, चिन्तन कभी एककोणीय नही हो सकता। हर वस्तु के कई-कई पहलू होते है। यदि तुम हिमालय को पार कर जाओ तो वह हिमालय जो आज तुम्हारे लिए उत्तर मे है, दक्षिण मे हो जाएगा। एक ही हिमालय दक्षिण मे, उत्तर मे, पूर्व मे, नीचे, ऊपर कई तरह से हो सकता है। उसे एक ओर से देखने पर पूरी तरह नही पाया जा सकता।' जो बात हिमालय पर लागू होती है, वह और वैसी ही हमारे चिन्तन पर भी लागू होती है; इसलिए वैयक्तिक और सार्वजनिक जीवन मे कभी कोई अन्तिम कथन नही करना चाहिये, मान कर चलना चाहिये कि कोई-न-कोई सभावना, या हाशिया अभी शेष है, जो इस समय हमारी पकड मे नही है, कदाचित् किसी और की पकड मे हो, अनन्तर कभी हमारी ही पकड मे आता हो।

जैनदर्शन का सारा महल अनेकान्त और स्याद्वाद की जुड़वाँ नीव पर खडा है। यह नीव पुख्ता है। कही कोई दरार इसमे नही है। समझ मे फर्क होने से फर्क होता है। जैनदर्शन के इस चिन्तनात्मक कथन-पक्ष पर कई लोग ठीक से विचार नही कर पाये। उनके मन मे पूर्वाग्रह थे, इसीलिए वैसा हुआ। आज हमारा ध्यान वस्तु की बहुकोणात्मकता पर गया है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने सन् १९०५ और १९१६ मे इस सिद्धान्त को 'रिलेटिव्हिटी' के नाम से समझाया है, और विज्ञान की दिक्-काल सबन्धी असख्य गुत्थियो का समाधान किया है। आज तो बिना किसी सदर्भ, अपेक्षा, या सबन्ध के कोई बात नही ही कही जा सकती। जीवन मे सभी ओर इस सिद्धान्त का जाने-अनजाने उपयोग होता है। एक नज़र एक आदमी की हो सकती है, किन्तु वह — यदि इस पर अड गया तो वह — युद्ध, कलह, या अनावश्यक उत्तेजना का कारण बन

सकती है, किन्तु इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति सभी स्थितियों, आयामों, कोणों या धर्मों को जानकर कोई अन्तिम कथन नहीं करता वरन् ज्ञान के सूत्र को अग्रसर करता है, तो तलाश जारी रहती है, ज्ञान की यात्रा अनवरत चलती है, और सार्वजनिक जीवन में रणभूमियों के स्थान पर शान्तिवनों की स्थापना होती है।

गलतफहमी कलह की माँ है। इसका जब हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि इसकी शरीर-रचना में एकान्तिक, यानी पूर्वाग्रहग्रस्त चिन्तन का ही हाथ अधिक है। प्राय हम किसी एक कथन को अन्तिम मान कर ही भ्रान्ति के दलदल में फँसते हैं, किन्तु जब हम उस बात पर अनेक अपेक्षाओं, आयामों और कोणों से विचार करने लगते हैं तो गलतफहमी के स्थान पर प्रगाढ़ मैत्री उत्पन्न होने लगती है, और हममें एक प्रजातान्त्रिक समझ पनपने लगती है। हम सभावनाओं को अपनी उदार भुजाओं में समेटने लगते हैं। आशकाएँ तब हमें नहीं सालती। हम सोचने लगते हैं—हो सकता है फलां बात फलां अपेक्षा या सदर्भ में कही गयी हो। और फिर जब तक हम उस बात को पक्का नहीं कर लेते तब तक कोई कदम नहीं उठाते।

तात्कालिकताएँ और आकस्मिकताएँ जीवन को अक्सर उजाड़ती रहती हैं, किन्तु अनेकान्त और स्याद्वाद न तो किसी कथन को आकस्मिक मानते हैं और न तात्कालिक, इसीलिए ये दोनों व्यक्ति की उत्तेजनाओं और भ्रान्तियों से रक्षा करते हैं। सक्षेप में हम कहेंगे—बिना किसी शास्त्रीयता में प्रवेश किये—कि अनेकान्त और स्याद्वाद अपनी अधिकाधिक सपूर्णता में व्यवहृत होकर एक सुखद प्रजातान्त्रिक जीवन के मगलाचरण बन सकते हैं।

अनेकान्त-दर्शन : स्वरूप और विशेषताएँ

जैनदर्शन मानता है कि ससार मे ऐसी कोई वस्तु, स्थिति, व्यक्ति या अनुभूति नही है, जिसका निरपेक्ष कथन किया जा सके। जब भी कोई कथन किया जाएगा, सापेक्ष (इन-रिलेशन-टू) ही होगा। उसकी मान्यता है कि वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक, बहुधर्मात्मिक, बहुमुखीन (मल्टीफेसेड), बहुकोणिक, या बहुआयामी (मल्टीडायमेशनल) है। 'अनेक' का अर्थ है 'एक-से-अधिक' और 'अन्त' के मायने है 'आयाम, कोण, मुख, पहलू', अर्थात् ऐसा कुछ भी नही है इस लोक मे जिसके सभी पहलुओ का युगपत् (सामल्टेनियस) कथन सभव हो। सब जानते है कि एक ही वस्तु के नाना पक्ष/पहलू होते है, जिन्हे एक साथ कहना संभव नही है।

परम्परित कथा है कि एक गाँव मे हाथी आया। ग्रामवासियो ने हाथी कभी देखा नही था। वे उसे आश्चर्य-चकित देखते रह गये। गाँव मे पाँच अन्धे भी थे। उनके मन मे भी हाथी-को-देखने की इच्छा हुई। वे भी प्रदर्शन-स्थल पर पहुँचे। सबने हाथी को छुआ और अपनी-अपनी तरह से उसे जाना।

एक ने कहा – हाथी रस्सी की तरह है। उसने पूँछ को छुआ था। वह अपनी जगह ठीक था। दूसरे ने कहा – वह खभे की तरह को कुछ है उसने हाथी के पॉव को छुआ था। तीसरे ने सयोगवश हाथी के कान का स्पर्श किया। उसकी टिप्पणी थी – हाथी सूप (सूपडे) की तरह का अस्तित्व है। चौथे ने सूँड को छुआ और कहा – यह प्राणी तो कोई झूलती हुई चीज है। पाँचवे का हाथ हाथी के पेट पर लगा। उसने कहा – हा, न हो, हाथी दीवार की तरह है।

इस तरह पाँचो ने पाँच निष्कर्ष लिये। उनके अनुभव इसलिए अलग-अलग थे चूँकि उन्होंने हाथी को अशो मे ग्रहण किया था। जब

वे हाथी की शक्ल के बारे में लड़-झगड़ रहे थे तभी महावत आ गया। उसने कहा– देखो जिन-जिन अनुभवों की बातें तुम लोग कर रहे हो वे आंशिक हैं, हाथी के किसी एक अवयव से सम्बन्धित हैं। कोई भी वस्तु अपने समस्त अंशों के जुड़ने से ही सम्पूर्णता प्राप्त कर सकती है। टुकड़ों, या अंशों में तुम सब ही सही हो। किन्तु हाथी की समग्र आकृति तो तुम सबके आंशिक अनुभवों को जोड़ने से ही बन सकती है।

अन्धों की बात समझ में आ गयी और इस तरह प्रत्येक ने अंश में से समग्रता का अनुभव किया। अनेकान्त-दर्शन मानता है कि किसी भी वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में जानने या उपलब्ध करने के लिए उसे उसके तमाम कोणों, पहलुओं, और सन्दर्भों में देखना-समझना चाहिये। जो लोग किसी एक निष्कर्ष पर रुक-ठहर जाते हैं, और किसी दुराग्रह के कारण अन्य निष्कर्ष की उपेक्षा कर जाते हैं वे उस वस्तु को उसकी सम्पूर्णता या समग्रता में जानने में असफल रहते हैं।

अनेकान्त जैनदर्शन की चिन्तन-प्रक्रिया की आधार-शिला है। जैन धर्म या दर्शन की यह विशेषता है कि वह किसी कथन को अन्तिम न मान कर सापेक्ष जानता है और संभाव्य जानकारी के लिए द्वार खुले रखता है। उसकी दृष्टि एकांगी नहीं, अपितु सर्वांगीण है। यही कारण है कि उसमें समन्वय की एक शान्त/निश्छल धारा प्रवाहित है।

इसी तरह का एक और उदाहरण है। एक भाई, संत विनोबा के पास पहुँचे और कहने लगे – मैं अक्सर अनुभव करता हूँ कि जो मैं सोचता हूँ वह अन्तिम है चूँकि जब भी मैं अपने विचार व्यक्त करता हूँ वे काफी सोचे हुए होते हैं।

विनोबाजी ने मुस्कराते हुए कहा – देखो, किसी भी वस्तु या स्थिति को समझने के लिए उसे चारो खूँट देखना चाहिये और चाहे जो हो अपने निष्कर्ष या अभिप्राय को अन्तिम मानने का अहंकार नही करना चाहिये। ऐसा करने से ज्ञान आधा-अधूरा रह जाता है। उन्होने दृष्टान्त दिया कि यदि कोई व्यक्ति अड जाए कि हिमालय सिर्फ उत्तर दिशा में है, तो यह उसकी नादानी है। चीन के लिए वह दक्षिण मे है, भारत के लिए उत्तर मे, अत जब भी किसी वस्तु या स्थिति

को समझना हो तो उसे उसके सदर्भ-से-उखाड-कर-देखने-की-भूल नही करनी चाहिये।

एक ही वस्तु या स्थिति के असख्य सदर्भ होते है, जिन्हे एकायक ध्यान मे नही लाया जा सकता है। किन्ही दो व्यक्तियो के एक ही वस्तु के सदर्भ मे दो भिन्न अनुभव हो सकते है, क्योकि एक ही वस्तु मे दो परस्पर-विरोधी धर्म रह सकते है। एक ही व्यक्ति पिता या पुत्र हो सकता है, किन्तु तभी, जब हम एक बार उसे पुत्र की अपेक्षा से देखे और दूसरी बार पिता की अपेक्षा से। इस तरह अनेकान्त-दर्शन वस्तु को उसकी सपूर्णता मे खोजने-परखने की एक तर्कसगत पद्धति है।

जब हम किसी वस्तु को एकागी अथवा साग्रह स्वीकार करते है, तब वहाँ राग-द्वेष की गुँजाइश रहती है, हिसा हो सकती है; किन्तु जब हम अनेकान्त-दृष्टि से किसी वस्तु, या स्थिति के स्वरूप को खोजते-तलाशते है तब वहाँ हमारा दृष्टिकोण उदार, सहिष्णु, और अहिसक होता है। किसी भी शोधक (सत्य के खोजी) का मन दुराग्रही कभी नही हो सकता।

जो लोग अनेकान्त के इस मर्म को जानते है कि संसार की कोई भी वस्तु, या स्थिति एकायामी या एककोणिक नही है, वे उदार होते है और वस्तु-स्वरूप की सही पहिचान उत्तरोत्तर पूर्ण बना सकते है।

स्थिति चाहे जैसी हो हमे दूसरो के दृष्टिकोण का सम्मान करते हुए ही वस्तु-स्वरूप की खोज करनी चाहिये। अनेकान्त-दर्शन हमे ऐसे भाषिक आधार उपलब्ध कराता है, जिनके द्वारा हम अपने चारो ओर व्याप्त रहस्यो को साफ-साफ समझ सकते है। अनेकान्त-दृष्टि को ठीक से समझ लेने के बाद न तो किसी झगडे की गुजाइश छूटती है और न ही मिथ्याज्ञान की। अनेकान्त का निर्मल माध्यम जिन्हे एक बार मिल जाता है, वे सम्यक्त्व की खोज मे बडी प्रीति-प्रतीति के साथ लग जाते है! जिसने अनेकान्त की सापेक्ष प्रक्रिया को अपना लिया, वह सहज ही वीतरागता की ओर कदम उठाता जाता है। वैसे भी अनेकान्त-दृष्टि एक सफल गृहस्थ और एक सार्थक साधु के लिए जरूरी है।

अनेकान्त-दृष्टि अत्यन्त वैज्ञानिक और तर्कसंगत दृष्टि है। यह संकीर्ण नहीं, व्यापक और उदार दृष्टि है। जिसे विज्ञान के क्षेत्र में 'थिअरी ऑफ रिलेटिविटी' कहा जाता है, जैनदर्शन में उसे ही 'अनेकान्त-दर्शन' कहा गया है। जिस तरह कोई भी वैज्ञानिक किसी भी तथ्य/निष्कर्ष को अन्तिम नहीं मानता और उससे सम्बन्धित खोज के लिए अपने द्वार खुले रखता है, ठीक इसी तरह जैनदर्शन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति भी सत्य-की-छानबीन में अपने चित्त के तमाम द्वार खुले रखता है और सत्यान्वेषण-की-साधना में निरन्तर लीन रहता है। जिस तरह सापेक्ष दृष्टि विज्ञान के क्षेत्र में उसकी अपरिहार्यता है ठीक वैसे ही जैन धर्म और दर्शन के मूल मर्म को समझने के लिए अनेकान्त-दृष्टि बेहद जरूरी है।

अनेकान्त-दर्शन की सुखद-निरापद पगडण्डी पर चल कर हम वस्तु-स्वरूप की व्याख्या इस तरह कर सकते हैं—'द्रव्य-की-दृष्टि से वस्तु नित्य, अविनाशी और शाश्वत है, किन्तु वही वस्तु पर्याय (फॉर्म) की दृष्टि से अनित्य, विनाशीक, और अशाश्वत है'।

अन्त में हम कहेंगे कि अनेकान्त-दर्शन का साफ-सुथरा-सुगम-बोध है—किसी भी वस्तु को समझने के लिए उस वस्तु को सब ओर से देखना, समझना, और यह मानना कि उसका न तो एक ही आयाम है और न ही एक पहलू, अत: यदि उसे उसके समस्त संदर्भों, गहराइयों, और विस्तारों में समझना हो तो उसके समस्त पक्ष/कोण देखने चाहिये और फिर क्रमश: उसका सापेक्ष कथन करना चाहिये।

ध्यान रखें कि अनेकान्त एक ऐसी चिन्तन-प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत हम संसार के तमाम पदार्थों को बहुआयामी मानते हैं, और मानते हैं कि स्याद्वाद के द्वारा हम इन तमाम पहलुओं की व्याख्या कर सकते हैं। 'अनेकान्त' वस्तु की विशेषता है और 'स्याद्वाद' इन विशेषताओं को समझने की कुंजी।



स्याद्वाद : विषय-प्रतिपादन की निर्दोष कथन-शैली

यह समझ लेने पर कि वस्तु-स्वरूप अनेकान्तात्मक है, उसे एक ही कोण या पहलू से समझने की भूल नहीं करनी चाहिये. ऐसा करने से मन अशुद्ध होता है। चित्त-शुद्धि के लिए वस्तु-स्वरूप को उसके सपूर्ण सम्यक्त्व और उसकी बहुमुखीनता में जानने का प्रयत्न आवश्यक है। अनेकान्त-दर्शन सापेक्ष दृष्टि की अपेक्षा रखता है। सापेक्षता चिन्तन की बुनियाद है। सापेक्षता की विशेषता है कि एक तो उससे तमाम गलतफहमियाँ दूर हो जाती हैं दूसरे चित्त निर्विकल्प बनता है जिस तरह अनेकान्त-दृष्टि से मन-की-शुद्धि सभव है उसी तरह स्याद्वाद (अनेकान्त को प्रतिपादित करने का भाषिक उपाय) से वचन-शुद्धि होती है। तन-की-शुद्धि का उपाय तप है। इस तरह अनेकान्त-से-मन, स्याद्वाद-से-वचन, और तप-से-तन निर्भ्रम / नि शक बनते है।

ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'शब्द' की शक्ति सीमित है। वह एक समय मे वस्तु के एक ही पहलू को प्रकट कर सकता है। उसमे इस तरह एक साथ (युगपत्) किसी वस्तु के समस्त पहलुओं को कहने, या प्रकट करने की सामर्थ्य नही है अर्थात् शब्द या भाषा के माध्यम से हम वस्तु के सर्वांग स्वरूप का युगपत् (सायमल्टेनियस) प्रतिपादन नही कर सकते — कोई-न-कोई पहलू या पक्ष अव्यक्त, अविवक्षित, या गौण बना रहता है।

वस्तुत जब हम किसी वस्तु के किसी भी पक्ष का प्रतिपादन करते है तब हम उसके सिर्फ उसी पक्ष का निरूपण करते है, बाकी पक्ष या पहलू या गुण-धर्म गौण रह जाते है। इस तरह मुख्यता-गौणता के कथन द्वारा हम वस्तु के सपूर्ण स्वरूप का बोध स्वयं तो करते ही है, दूसरो को भी कराते है।

जिस तरह अनेकान्त अन्, एक, और अन्त शब्दो से बना है, उसी तरह स्याद्वाद स्यात् और वाद से रचित है। अन का अर्थ है 'नही', एक का अर्थ 'दो का आधा' है, और अन्त का अर्थ आयाम, कोण, धर्म, पहलू, गुण आदि' है यानी अनेकान्त एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तु-स्वरूप को बहुआयामी और बहुकोणिक मानती है। यह कभी किसी एक पहलू पर नही रुकती, बल्कि एक से जान कर आगे और आगे कदम उठाती जाती है। इसकी यह खोज-यात्रा क्रमश पूर्णता की ओर इगित करती है।

'स्याद्वाद' का 'स्यात्' निपात अव्यय है। व्याकरण मे 'निपात' उस शब्द को माना गया है, जिसके बनने के नियम का पता नही है या जिसे व्याकरण के नियमो के अन्तर्गत सिद्ध करना सभव नही है। व्याकरण की दृष्टि से स्यात् अस् धातु का विधिलिङ रूप भी है।

'स्यात्' जैनदर्शन का एक खास शब्द है, जिसका अर्थ सापेक्ष (इन-रिलेशन-टू) है। 'अविवक्षित' या 'कथचित्' भी उसका अर्थ हो सकता है, किन्तु यह तय है कि यह फारसी के 'शायद' का पर्याय नही है। जो लोग इसका अर्थ शायद करते है या करते रहे है, वे जैनदर्शन के साथ अन्याय करते है। अधिकाश जैनेतर विद्वानो ने 'स्यात्' का अर्थ भ्रान्तिवश 'शायद' कर लिया है, इसीलिए इतिहास मे स्याद्वाद को सशयवाद कहने की भयानक भूल हुई है।

'स्याद्वाद' स्वस्थ/सपूर्ण चिन्तन की एक गणितीय पद्धति है। इसके सात भग है। ख्याल रहे—किसी भी वस्तु के स्वरूप की व्याख्या सात पहलुओ या कोणो से ही सभव है। ये है—स्यात् अस्ति (स्यादस्ति); स्यात् नास्ति (स्यान्नास्ति), स्यात् अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति नास्ति, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। गणितीय रूप मे हम इसे इस तरह भी रख सकते है—

१, २, ३, १+३, २+३, १+२, १+२+३

इस तरह ये सात सयोग ही सभव है, आठवाँ सभव नही है। उक्त सात एकल या सयुक्त सयोगो या भगो द्वारा हम किसी भी वस्तु के स्वरूप की परिपूर्ण/सुनिश्चित खोज कर सकते है।

'अस्ति' का अर्थ है 'है', 'नास्ति' का है नही 'है', और 'अवक्तव्य' का अर्थ है 'शब्द मे वस्तु के अविवक्षित आयामो या कोणो या गुण-धर्मो को कहने की शक्ति नही है'।

सात भग उदाहरण-सहित इस प्रकार है –

(१) स्यादस्ति . प्रत्येक वस्तु का अपने वर्तमान सदर्भ में सापेक्ष अस्तित्व है, यथा – राम दशरथ के पुत्र है।

(२) स्यान्नास्ति प्रत्येक वस्तु अपने अन्य सदर्भो मे सापेक्ष नहीं भी है, यथा—राम जनक के पुत्र नही है (जनक की अपेक्षा से-इन-रिलेशन-टू जनक)।

(३) स्यात् अवक्तव्य परस्पर-विरोधी स्थितियो मे किसी वस्तु का शब्द द्वारा युगपत् (एकसाथ/सायमल्टेनियस) कथन सभव नही है। ऐसा कोई वाचक शब्द नही है, जो 'है' और 'नही है' को एक साथ पाये। ऐसी कोई भाषिक स्थिति नही है जो 'राम के पुत्र होने' को एक साथ सम्प्रेषित कर सके; किन्तु यह सच है कि कोई भी वस्तु एक ही समय मे 'है' 'नही' है और 'अवक्तव्य' की समूह होती है, अत. इन सबका एकसाथ कथन सभव नही है।

(४) स्यादस्ति अवक्तव्य कोई वस्तु युगपत् कथन की दृष्टि से अवक्तव्य होते हुए, भी 'है' के कोण से वक्तव्य है, यथा—राम दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य है तथापि राजा दशरथ की अपेक्षा से पुत्र तो है ही।

(५) स्यान्नास्ति अवक्तव्य कोई वस्तु युगपत् कथन की दृष्टि से अवक्तव्य है, किन्तु नास्तित्व की अपेक्षा वक्तव्य है, जैसे – राम दशरथ तथा जनक की अपेक्षा युगपत् शब्ददृष्टि से अवक्तव्य है, किन्तु जनक की अपेक्षा से वे उनके पुत्र नही है, अत उनका नास्तित्व वक्तव्य है।

(६) स्यादस्तिनास्ति 'है' और 'नही' है इन उभय दृष्टियो से कोई वस्तु अस्तित्व और नास्तित्व (अभाव) रूप हो सकती है यथा—राम दशरथ के पुत्र है, जनक के नही है।

(७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य परस्पर-विरोधी 'है', 'नही है' दृष्टियो से युगपत् अवक्तव्य हो कर भी वस्तु क्रमश. उन परस्पर-

विरोधी दृष्टियो से 'है', 'नही है' होती है: यथा—राम दशरथ और जनक की युगपत् अपेक्षा मे अवक्तव्य है; किन्तु यह कहा जा सकता है कि वे दशरथ के पुत्र है और जनक के पुत्र नही है।

इस तरह यदि हम किसी वस्तु के सपूर्ण व्यक्तित्व को समझना चाहते है उसकी अस्मिता तक अपनी पहुंच बनाना चाहते है तो हमें उसके 'अस्ति' 'नास्ति', तथा 'अवक्तव्य' सदर्भों को खोजना होगा। जैनदर्शन मे आत्मा के स्वरूप-बोध के लिए इसी पद्धति का उपयोग किया गया है। जैनदर्शन मे जीव/अजीव को विभिन्न अपेक्षाओ मे जानने/समझने/निरूपित करने का तर्कसगत प्रयत्न हुआ है।

वास्तव में यदि हम वस्तु को उसकी तमाम विस्तृतियो/आयामो में जानना चाहते है, तो हमे इस गणितीय पद्धति का अनुसरण करना चाहिये। गणित मे सच होता है, सच के अलावा कुछ नही होता। वहाँ २+२=४ ही होगे, ३ या ५ नही हो सकते।

आज हम जिन भाषाओ का उपयोग कर रहे है, वे बावजूद अपनी विकसित क्षमताओ के इतनी सक्षम नही है कि परस्पर-विरोधी गुणधर्मो का युगपत् (सायमल्टेनियस) कथन कर सके। वस्तु-स्वरूप का सापेक्ष क्रमवर्ती कथन/निरूपण ही संभव है, भाषा के ढांचे में किसी भी वस्तु का एकसाथ सर्वतोमुख कथन सभव नही है।

अनेकान्त और स्याद्वाद मे वे सारी सभावनाएँ गर्भित है, जिनके द्वारा हम विश्व-शान्ति के स्वप्न को साकार कर सकते है। वैचारिक सहिष्णुता, समन्वय/सामजस्य की भावना, परस्पर की प्रीति और प्रतीति, बगैर किसी रग, वर्ण, जाति और भाषा-भेद के सामानाधिकार की स्वीकृति, व्यक्ति की स्वतन्त्रता की स्थापना, हस्तक्षेप न करने की नीति का व्यक्ति और समूह द्वारा अनुसरण, एक-दूसरे के प्रति सम्मान का भाव, तथा व्यापक और उदार दृष्टि कुछ ऐसे मानवीय गुण है, जो अनेकान्त और स्याद्वाद में सन्निहित है तथा जिनके सतत् अनुसरण से संतप्त/युद्धरत विश्व को शान्ति, सुख और सतुलन की दिशा में ल जाया जा सकना है।

△

अनेकान्तवाद : सत्य की शोध

सम्यग्ज्ञान का मूल आधार 'स्यादवबोधनम्' यानी स्याद्वाद है। इसी से यथार्थ की, सत्य की समीचीन खोज का प्रारम्भ होता है। पहले समझ, फिर परख, फिर तलाश, फिर पहुँच। सम्यग्ज्ञान तक पहुँचने का राजमार्ग है अनेकान्तवाद। तीर्थंकर महावीर ने इसे बड़ी सूक्ष्मता और गहराई से समझाया है। शोध के पूर्व शोधविधि (मेथेडोलाजी) का जानना भी महत्त्वपूर्ण है। अनेकान्तवाद सत्य की शोध-पद्धति है, एक प्रांजल जीवन-दर्शन की सुचिन्तित परिपाटी है। इससे सत्य अपने दिगम्बर रूप मे आ खड़ा होता है।

'भी' अंगुलियाँ, 'ही' मुट्ठी

अनेकान्तवाद को समग्रता, सपूर्णता या सर्वांगता की क्रमानुक्रमिक खोज कहा जा सकता है। संसार मे कुछ लोग 'ही' वादी हैं, और कुछ 'भी' वादी हैं। जैनधर्म न 'ही' वादी है, और न 'भी'। उसका अपना कोई आग्रह नहीं है। जो सही है, उसे खोजो और मानो; इसके अलावा जैनधर्म का कोई कथन नहीं है। इसीलिए वह 'भी' लगा कर किये हुए वस्तुपरक अध्ययन को अन्तिम 'ही' तक ले जाने की प्रक्रिया में विश्वास रखता है। 'भी' के वैविध्य मे, 'ही' के दर्शन किये जा सकते है। 'भी' की लोचपूर्ण संवेदनशील अँगुलियाँ ही 'ही' को मुट्ठी मे पकड़ने की क्षमता रखती हैं। यह है जैनदर्शन-अनाग्रही, उदार, संतुलित और सम्यक् की कसौटी पर कसा हुआ। अनेकान्तवाद मे आत्मानुशासन तथा जीवन के अन्य विविध संदर्भों के लिए एक विधायक जीवन-दृष्टि समायी हुई है।

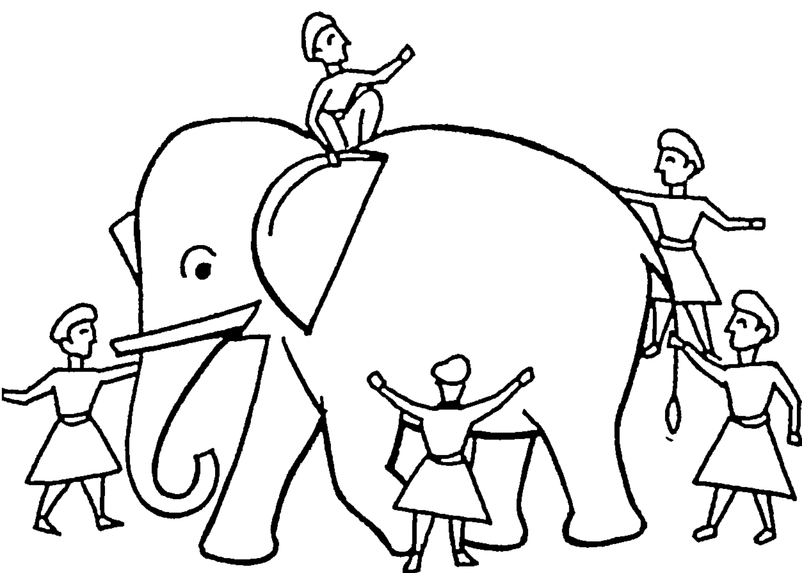
एकान्त विग्रह : अनेकान्त विश्वमैत्री

आज के दुराग्रह और हठधर्मिता से तिलतिल-भरे जीवन मे अनेकान्तवाद ही समन्वय का सबसे बडा साधन है। एकान्त विग्रह है, फूट है; अनेकान्त मैत्री, है, सन्धि है। मैत्री ही नहीं बलिक कहिये विश्वमैत्री है। केवल इतना ही यदि समझ लिया जाए तो विश्वशान्ति के लिए मूल आधार घड़ा जा सकता है। जिस तरह सही मार्ग पर चलने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय यातायात-संकेत बने हुए हैं और सब उनके अनुसरण से ठीक-ठीक चल लेते हैं; स्वस्थ चिन्तन के मार्ग पर चलने के लिए अनेकान्तवाद ने भी इसी तरह के सात संकेतों की रचना की है। इनका अनुगमन करने पर किसी बौद्धिक दुर्घटना की आशंका नहीं रह जाती। मोक्षमार्ग पर चलने के लिए अनेकान्तवाद एक विश्वसनीय चिन्तन-प्रणाली है। सम्यग्ज्ञान की नींव यही स्याद्वाद है; सम्यग्ज्ञान राजमार्ग है, कैवल्य गन्तव्य है।

लेखक की अन्य कृतियाँ

भीली-हिन्दी कोश, दस रुपये
भील भाषा, साहित्य, और सस्कृति, दस रुपये
भीली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन, बीस रुपये
पैगम्बर मुहम्मद, दो रुपये
भारतीय सस्कृति को जैन अवदान, एक रुपया
जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी, पाँच रुपये
भक्तामर स्तोत्र (हिन्दी पद्यानुवाद, राजस्थानी अनुवाद सहित), पाँच रुपये
वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, दस रुपये
परम तपोधन एलाचार्य श्री विद्यानन्द, दस रुपये
विचक्षण-कथामृत (साध्वी श्री विचक्षण के प्रेरक प्रसग), पाँच रुपये
आगम पुरुष (आचार्य श्री नानालालजी के जीवन का तटस्थ विहगावलोकन), दस रुप
उन्नीसवी-बीसवी शताब्दियो के जैन कोशकार और उनके कोशो का मूल्याकन ('अभिध
गजेन्द्र' के विशिष्ट सदर्भ मे), एक रुपया
अ-युद्ध पुरुष (बाहुबली-प्रसग), पाँच रुपये
प्राची मे निकलता है सूरज (बावनगजा-प्रसग), दो रुपये
हाथी ने ली सल्लेखना, दो रुपये
बेकसूर प्राणियो के खून-मे-सने हमारे ये बर्बर शौक, दो रुपये
अण्डा तुम्हे निगल जाएगा!, पचास पैसे
अण्डा जहर-ही-जहर, दो रुपये
अण्डे के बारे मे 100 तथ्य, एक रुपया

हम अन्धे : पाँच अन्धे



डॉ. नेमीचन्द जैन

हम अन्धे : पाँच अन्धे

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

हम अन्धे : पाँच अन्धे
डॉ नेमीचन्द जैन

प्रकाशन :
हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी
कनाड़िया मार्ग
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

मुद्रण :
नई दुनिया प्रिन्टरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२००९, मध्यप्रदेश

संपादन : प्रेमचन्द जैन

प्रथम आवृत्ति : अगस्त १९९३
द्वितीय परिवर्द्धित आवृत्ति : जुलाई १९९६

मूल्य : पाँच रुपये

ISBN 81-85760-09-8
अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक-सख्या
८१-८५७६०-०९-८

पूर्वकथन

आज हमारे देश का नेतृत्व प्रदूषित है। यह अपशकुन है, अत्यधिक अमगलकारी। इससे हम उत्थान की जगह पतन की ओर आ गये है।

'हम अन्धे पाँच अन्धे' मे सकलित लेख नेता कैसा हो, क्या करे, उसका दायित्व क्या है, वह अश मे साँस ले या सर्वाश मे, इत्यादि कई गहन प्रश्नो पर विचार किया गया है।

जॉन हाइडर की बहुमूल्य कृति 'द ताओ ओफ लीडरशिप' नेतृत्व को दिशादृष्टि देने वाली एक अद्भुत-अप्रतिम कृति है, जिसे हर नेता को अक्षरश घोखना चाहिये। अन्य शब्दो मे हम इसे नेतृत्व-गीता कह सकते है।

इसके कतिपय वाक्याश है - 'अवर वर्क इज अवर पाथ' (हमारा काम ही हमारी डगर है), 'ट्रू सिम्पलीसिटी इज नॉट इजी' (सच्ची सादगी आसान नही है), 'द लीडर टीचेज बाइ एक्झाम्पल रादर दैन बाइ लेक्चरिग अदर्स' (नेता दूसरो को भाषण देने की अपेक्षा उदाहरण से अधिक सिखाता है), 'बीइग ह्यूमन इज नो एक्स्क्यूज़' (मनुष्य होना कोई बहाना नहीं है), 'द लीडर इज नॉट प्रिटेड टू बी स्पेशल' (नेता विशिष्ट होने का छद्म नही करता), 'सायलेंस इज ए ग्रेट सोर्स ऑफ स्ट्रेन्थ' (मोन शक्ति का महान् स्रोत है), 'ट्रू सेल्फ-इटरेस्ट टीचेज़ सेल्फलेसनेस' (सम्यक् स्वार्थ नि स्वार्थ सिखाता है), 'लर्न टू लीड विदाउट कोएर्सियन' (दबावमुक्त नेतृत्व करना सीखे), 'लीडर एक्ट्स ऑन बिहाफ ऑफ द होल' (नेता सबकी ओर से अगुआई करता है), 'डेथ इज नॉट फ्राइटनिग' (मृत्यु भयावह नहीं है), 'एनर्जाइज द ग्रूप' (समूह को स्फूर्त करो), 'व्हेन आई लेट गो ऑफ व्हाट आई हेव, आई रिसीव्ह व्हाट आइ नीड' (जब मै सर्वस्व विसर्जित करता हूँ जब मुझे वह सब मिल जाता है जिसकी मुझे आवश्यकता है), 'व्हेन आई डिजायर नथिग, ए ग्रेट डील कम्स टू मी' (जब मै कुछ नही चाहता हूँ, तब बहुत कुछ मेरी और स्वत चला आता है) इत्यादि कई ऐसी सूक्तियाँ है जो चुम्बक की तरह मन को अपनी ओर बरबस खींच लेती है।

हमारा नेतृत्व यदि कोई है तो बच्चो, नीम, और पाँच परम्परित अन्धो से वह सब सीख सकता है, जो उसे आत्मावलोकन की प्रक्रिया मे उतार सके।

यदि आज हमारा सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक नेतृत्व विकृति-मुक्त होता है तो देश की सोयी हुई क़िस्मत फिर जाग सकती है और फिर एक बार हमारे कदम खुशहाली की दिशा मे उठ सकते है।

प्रस्तुत पुस्तिक मे मन्त्र-जैसी ऊर्जा है, अत मुझे विश्वास है इसे नेता और अनुगामी दोनो ही चाव से पढेगे और स्व-रूप प्रेरित होगे।

-नेमीचन्द जैन

इन्दौर, १५ अगस्त १९९३

सपादक 'तीर्थकर'/'शाकाहार-क्रान्ति'

क्रम

हम अन्धे : पाँच अन्धे

लोकोक्ति है आँख न हो और दिखायी न दे तो क्षम्य है, आँखे न हो और फिर भी ऐसा दिखायी दे जैसा जिनके पास आँखे हे उन्हे भी दिखायी नहीं देता तो अद्भुत है, आँखे हो और दिखायी दे तो स्वाभाविक हे (आँखे होती ही इसलिए हे), किन्तु आँखे हो और फिर भी जैसा दिखायी देना चाहिये वैसा न दिखायी दे तो या तो कोई असाध्य रोग है, या फिर कोई अजूबा है।

आज हम चौथी स्थिति से गुजर रहे है। हालत दयनीय हे। आँखे हमारे पास हैं, किन्तु जैसा चाहिये वैसा दीख नहीं पड़ रहा है-बदकिस्मती से कोशिश भी नहीं हैं कि सही-सही कुछ दिखायी दे-भरोसा भी नहीं हे कि यदि जेसा है वैसा दिखायी पड़ गया तो तन-मन उसे झेल भी पायेगा ? अर्थात् न यत्न हे, न साहस, न पुरुषार्थ।

कई व्यवधान हे सामने। कुछ लोग और कुछ हालात सामने आ खड़े हुए हे रास्ता रोक कर, ऐसे लोग और ऐसे हालात जो अपारदर्शी हे। जिन्हे भेद कर आगे का हाल मालूम करना मुश्किल हुआ है। कुछ तृष्णाएँ है, जो हरी दूब से ढँके गड्ढा की तरह सामने आ गयी हैं, अनिश्चय, अविश्वास, और सदेह का धुआँ है, जो हमारे पाँव पीछे की ओर खींच रहा है। चारो ओर कपटपूर्ण अस्पष्टता बनी हुई है। कई कठिनाइयाँ हैं सम्यक्/ सम्यक्त्व को हासिल कर पाने मे, क्योकि उसे न तो हम ढूँढना ही चाहते हैं [illegible] उसके सामने आ खड़े होने की स्थिति मे पूरा-पूरा देख लेना। [illegible], [illegible], कुछ छिन की घबराहट बनी हुई है। कुल मिला कर हम वस्तुस्थिति से [illegible] रहे है, उससे आँखे चुरा रहे है।

किसी ने पेट, और किसी ने पॉव-बोले क्रमश हाथी सूप-जैसा है, हवा मे झूलते वृक्ष की शाखा-जैसा है, चँवरी-जैसा है, दीवार-जैसा है, खम्भे-जैसा। अशो मे-से अपनी-अपनी तरह की पूर्णताएँ (अपूर्णताएँ की कहिये) उन्होने पकड़ ली और अड गये उन पर। किसी एक का अनुभव किसी दूसरे के अनुभव से मेल नहीं खा रहा था। बड़ी झझट थी। बहस गर्मागर्म हुई, फैसला कुछ नहीं हो सका। महाभारत हो सकता था। यदि दुर्भाग्य से महावत वहाँ न होता।

महावत ने पॉचो को सुना ओर कहा कि तुम सबके अनुभवो को मिला कर जो वस्तु बनेगी वह हाथी है। जेसे हमारे अवयव है, वेसे उसके हे, किन्तु वह बड़ा है इसलिए एक साथ उन सारे अवयवो को छू पाना सभव नही हे। उसने इसमे-से एक बड़ी बात यह कह डाली कि इस दुनिया की सारी वस्तुएँ बहुमुखीन/बहुआयामी हे। उन्हे समझने के लिए सारी स्थिति का मीजान/जोड़ करने की जरूरत होती है। एकागी दृष्टि से काम नहीं चल सकता। अक्सर हम अपने अशानुभवो पर झगड़ते है, वस्तु की समग्रता तक अपनी पहुँच नही बनाते।

अन्धो की ऑखे खुल गयी। वे चुप-चुप हँसते-मुस्कराते अपने घर चले गये। स शान्त थे, सन्तुष्ट थे। उन्होने हाथी को भीतर की ऑखो से उसकी परिपूर्णता मे लिया था।

आज हाथी फिर आया है, किन्तु अन्धे पॉच से अधिक है और दुर्भाग्य से महाव अनुपस्थित है। अशानुभवो पर घमासान बहस छिड़ी हुई है, परिपूर्णता पर किसी व दृष्टि नही है। महावत का इतजार है ताकि ऐसे लोगो को, जिनकी ऑखे है, किन्तु जिन ठीक-ठीक दीख नही पड़ रहा है, दीख पड़े वह, जो दीख पड़ना चाहिये।

नेता : सूत्रपात

एक किताब है - 'डाउ द जिग' (द ताओ ऑफ लीडरशिप)। मायने है-नेतृत्व [illegible] विधि, शैली, या मार्ग। लेखक है जीन हाइडर।

पूरी किताब जहाँ एक ओर नेतृत्व को गहराइयो-मे-उतर-कर [illegible] है, वहीं दूसरी ओर वह एक नेता की गुणवत्ता पर भी भरपूर रोशनी डालती है

हाइडर की इस किताब का एक-एक शब्द प्रखर है और बहुत [illegible] सावधान समझ की माँग करता है। यदि आज का नेतृत्व इक्यासी सूत्र [illegible] दिये हुए है, एक या कुछेक को भी अपने जीवन मे प्रकट करने [illegible] वह-सब हो सकता है, जिसके लिए-हम सदियो से प्रयत्नशील है

हम यहाँ इनमे-से कुछ चुनिदा सूत्रो की सक्षिप्त चर्चा [illegible]

एक सूत्र है किसी भी लघुत्तम मे कोई-न-कोई [illegible] आखिर वट-बीज ही तो विशाल बरगद बनता है-और [illegible] मीलो लम्बी महान् यात्रा का आरम्भ एक छोटे/नाचीज [illegible] सिन्धु की झलक से कौन इकार कर सकता है? [illegible] लघुत्तम को पूरा सम्मान दे और उसमे-से महत् [illegible]

दूसरा सूत्र है हम जो करते है, करते रहते है, [illegible] हमारे चरित्र मे-से ही कोई विधि, या मार्ग [illegible]

जो लोग दृष्टा नहीं होते, वे दृष्टि [illegible] जो देखते तो है, जो देखकर भी [illegible] देखता भी है, किन्तु जो उलझता नहीं है [illegible] ही यथार्थ आकृति ग्रहण करता है।

एक सूत्र है आग्रही की आग्रहानुवर्ती [illegible] आँखें बद हो रहती है। वह जो मन मे [illegible] ऐसा होने से दृश्य बिगड़ जाते है और [illegible] एक नेता को सच-की-खोज मे प्राप्त सच का [illegible] उसे उत्तरोत्तर घनीभूत करना है।

सत्य का स्वभाव हे कि वह सादगी से आवृत्त होता है। असल मे सादगी पाने मे आसान नही है । अक्सर अधिक सुन्दर दीख पड़ने की ललक मे हम अधिक वदसूरत हो पड़ते है, इसलिए जो नेतृत्व का दायित्व लिये होता है वह इतना सादा, शुभ और सरल होता है कि उसमे-से सार्वभोमिकता छलकने/खनकने लगती है। वह स्वय धरती हो उठता है।

नेता अहकारी नहीं होता, विसर्जित होता है। उसका कण-कण उन लोगो मे समाया होता है जो उसके पीछे चल रहे होते हे, किन्तु जो नेता होता हे वह आगे चल कर भी अन्तिम आदमी होता है। वह इस तरह कुछ चलता हे कि समूह का हर आदमी उसका हाथ अपनी पीठ या अपने कधे पर अनुभव करता है। उसे लगता है कि वह उसके पीछे चल रहा है, कोई दीपक उसके साथ है, कोई मन्त्र उसके रोम-रोम मे अवस्थित हुआ है।

एक सूत्र है नेतृत्व की अभिव्यक्ति उदाहरण बन कर होती हे, शब्द मे-से नेतृत्व प्रकट नही होता। नेता खुलता(अनफाल्ड होता) हे स्वकर्म मे-से, अपने कृतित्व मे से। जो लोग भाषणो मे-से व्यक्त होते है, वे नेता नही होते। नेता तो वास्तव मे वे होते है जिनकी पहचान उनके कृतित्व मे-से बनती हे।

सब जानते है कि जहाँ अधिक है, वहाँ लोभ है और जहाँ कम है, कमी है वहाँ चोरी के लिए गुँजाइश है, इसलिए एक सफल नेतृत्व अधिकाई और अभाव के बीच सहज सतुलन रखता है, वह न तो लोभ ही करता है और न ही तस्करी, न ही शोषण-दमन को अपने व्यक्तित्व का अश बना पाता है। जिसमे आन्तरिक सतुलन है, वही नेतृत्व समाज को ऊँचा उठाता है जो सतुलित न हो कर सतुलित-दीख-पड़ने-का-ढोल-पीटता-है, वह समाज को पतन की ओर धकेलता है।

नेतृत्व-की-शक्ति का असली स्रोत मौन है। एक सफल /कुशल नेता अपनी शक्ति मौन मे-से हासिल करता है (सायलेस इज ए ग्रेट सोर्स ऑफ स्ट्रेथ), इसलिए नेतृत्व को चाहिये कि वह मौन मे-से ऊर्जा समेटे। जो लोग अधिक बोलते है, वे सफल/अचूक नेतृत्व नही कर सकते। एक नेता को चाहिये कि वह स्वय मे मौन को उगने-बढ़ने (ग्रो करने) दे। ऐसा होने देने मे उसे निष्कामता उपलब्ध होगी और 'यह मै, यह वह, यह मेरा, यह उसका' का द्वैत मिटेगा। जिस व्यक्ति के मन मे 'यह मेरा, यह उसका' की दुई कायम रहती है, वह नेता नही हो सकता। आज का नेतृत्व 'यह मै, यह तू' के द्वैत मे जी रहा है, अत अपने कृतित्व मे स्वय हारा हुआ है। उसके लक्ष्य छोटे है, खोटे है, इसलिए वह, वह नही कर पा रहा है, जो उसके द्वारा होना चाहिये।

एक सूत्र है नेता को अपनी हर साँस समयबद्ध रखनी चाहिये। यहाँ 'साँस' से ात्पर्य 'काम' से है। जो नेता अपने लक्ष्य पर समर्पित है, उसका काम ही उसकी साँस और उसकी साँस ही उसका काम है। ऐसे व्यक्ति के लिए साँस और कर्त्तव्य एकार्थक ब्द होते है। वह हर कदम को 'टाइम' करता है। 'टाइमिंग' उसके जीवन मे अत्यधिक हत्त्वपूर्ण होता है। वह सिर्फ समय के साथ जीता-भर नहीं है बल्कि इस तरह कुछ जीता कि क्रमश समय या समय-मय ही हो जाता है। 'यथासमय' उसकी जिन्दगी का र्देशक सूत्र बन जाता है।

एक अन्य सूत्र है कि जिसमे आसक्तियाँ है, उसमे कुण्ठाएँ और तनाव है। यदि नासक्त हो सके तो फिर कोई वजह नही है कि तनाव या कुण्ठा की बेड़ी हमारी तना-के-पाँव मे पड़े।

'तनाव' और 'स्वार्थ' एक ही अर्थ रखते है। एक स्वस्थ नेता स्व + अर्थ को ना विकसित कर लेता है कि उसके लिए हिन्दी के 'अर्थ' और अंग्रेजी के 'अर्थ' दोनो 'अर्थ' बदल जाते है। वह धन और धरती दोनो से अलिप्त जीवन जीता है। उसमे न कीर्ति-कामना होती है और न ही वह कोई काम इसलिए करता है कि उसका श्रेय, त्र उसे मिले। वह काम जम कर करता है, किन्तु ऐसे सारे कामो मे हाथ-लगी कीर्ति र श्रेय पर अपना स्वामित्व नहीं मानता, वह होता है सम्यक् पुरुष, सही-समय-पर-ही-काम करने वाला व्यक्ति। स्वामित्व-विसर्जन जब सूक्ष्मतर स्थितियो मे भी बना ता है, तब किसी सफल नेतृत्व की महानता प्रकट होती या शक्ल लेती है।

एक कुशल नेता दबाव या दमन की नीति पर नहीं चलता। वह अगुआई करता है, न्तु बगैर धौंस-धमक या रुआब-आतक के। वह नेतृत्व करता है बगैर किसी ॉमिनेशन' के।

एक अच्छे नेतृत्व को समूह के भावनात्मक मौसम की परख होती है। वह हवा के ख को पहचान कर काम करता है। (अवसरवादी नही होता), किन्तु ऐसा करते हुए वह तो खुद के साथ कपट करता है और न ही उन लोगो के साथ जिन्होने उसे अपना सब छ सौंप दिया है। ऐसा नेता कपट के समस्त पट उतार कर निपट ईमानदारी से काम रता है। मुक्त और पूरी तरह खुले रह कर काम करना उसका सहज स्वभाव होता है। ह उन लोगो से कुछ भी छुपा कर नहीं चलता जिनके विकास के लिए वह प्रतिफल झता है और जिन्हे वह सर्वोत्कृष्ट प्राप्त कराने की कोशिश मे बड़ा-से-बड़ा बलिदान रने के लिए कमर कसे रहता है।

ऐसा नेता दुधारे मूल्याकन की तेजाबी प्रक्रिया से हो कर आगे बढ़ता है। वह पग-पग पर अपना मूल्यांकन स्वय करता है और इस तरह तथा इस कदर खुद को दूसरो के लिए खुला रखता है कि कोई भी, कभी भी उसे कसोटी पर कस सके। वस्तुत वह दूसरो द्वारा हुए मूल्याकनो की हॅंसते-मुस्कराते प्रतिपल प्रतीक्षा करता हे। किन्हीं कडे या अप्रिय मूल्याकनो को ले कर वह उबलता, उफनता या गर्म नहीं होता, बल्कि उन्हे वह आने वाले जीवन का आधार बनाता है और प्रयत्न करता है कि वह प्रस्तुत कसौटियो के योग्य बने।

'आज' और 'अभी' मे ठहरना बहुत कठिन काम है। ज्यादातर लोग 'बीते कल' या 'आगामी कल' मे ठहरे होते है-'आज' मे रुकना-ठहरना उनके लिए एक क्षणाश को भी सभव नही होता, किन्तु एक सफल और सत्यनिष्ठ नेतृत्व 'आज' ओर 'अभी' मे ठहरता है-वहाँ पड़ाव डालता है-उनसे विचार-विमर्श करता है और उनकी नाड़ी पर हाथ रखने के बाद ही अपने अगले पड़ाव का निर्धारण करता है। ऐसे विचक्षण व्यक्ति के लिए सपूर्ण भविष्य उत्तरोत्तर प्रखर 'आज' होता रहता है। वह 'आज' हो रहे 'कल' को अपनी योजनाओ की बुनियाद बनाता है और अत्यन्त जागरूक चित्त से आगे बढ़ता है

जागरूकता अपनी और अपनो की वह खरगोश-के-कान की तरह आठो याम उत्तिष्ठ रखता है। लोरियो की जगह प्रभातियाँ उसे अधिक प्रिय होती है। वह सोते मे भी जागता है और जागते मे भी सोता है। सोने और जागने की भेद-रेखा की उसे इतनी प्रखर और अमोघ पहचान होती है कि कुछ क्षणो के लिए दोनो क्रियाएँ अपना अर्थ ही खो बैठती है।

हाइडर की पूरी पुस्तक इस तरह के अनूठे सूत्र-रत्नो से भरी पड़ी है। जब वह कहता है कि एक नेता शक्ति और सहानुभूति के मध्य मृदुतम, किन्तु अचचल सतुलन रखता है तब वह नेतृत्व की परिभाषा को एक नया ही आयाम प्रदान करता है।

यदि हम नेतृत्व को कम-से-कम शब्दो मे परिभाषित करे तो वह यूँ होगा कि जो भीतर-बाहर समग्र और सतुलित है वह स्व-पर-कल्याणकारी नेतृत्व है। आज स्व-कल्याणी (आत्म-कल्याणी नहीं) नेतृत्व तो है, किन्तु स्व-पर-स्वस्तिकर नेतृत्व देश और समाज की मुट्ठी से खिसका हुआ है।

हाइडर की यह किताब एक ऐसे नेतृत्व की सरचना, परिकल्पना, या परिदर्शन मे सफल है जो दूसरो के बनने मे-से स्वय के बनने और स्वय के बनने मे-से दूसरो के बनने मे सक्रिय और सचेष्ट है। 'डाउ द जिग' को अक्षरश जीना या पाना मुश्किल जरूर है, किन्तु असभव बिलकुल नहीं है।

नीम और नेता

नीम के बारे मे हम जितना-जितना जानने की कोशिश करते है, उसकी लोकोपयोगिता के प्रति हमारी आस्था उतनी ही अधिक समृद्ध हो चलती है। सस्कृत भाषा मे नीम के लिए तैतीस शब्द है, जो उसके गुणात्मक व्यक्तित्व पर खासा अच्छा प्रकाश डालते हैं।

नीम के लिए 'नेता' और 'नियामक' शब्द भी है। 'नेता' शब्द इधर के दशको मे व्यापक रूप मे प्रयुक्त हुआ हे, इतना अधिक कि घिसपिट कर अब वह लगभग अस्तित्व-शेष ही हो गया है। अब उसके वह मायने नहीं रहे हे, जो पहले कभी थे। उसका सघन अपकर्ष हुआ है। अब वह भलाई-की-अगुआई करने वाले व्यक्ति के अर्थ मे काम मे नहीं आ रहा हैं, बल्कि अब उससे हमे एक ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो दुनिया-भर की बुराइयो का पुलिन्दा है। 'नेता' शब्द के उच्चारण मे अब हमे शर्म और झिझक महसूस होती है, गौरव का अनुभव नहीं होता। 'नेताजी' कहने पर तो वह एक व्यग्य की शक्ल ले लेता है। क्या हमने कभी सोचा है कि इस शब्द के साथ यह दुर्भाग्य क्यो घटित हुआ है ?

नीम को 'नेता' कहा गया है। वह उन तमाम वनस्पतियो की अगुआई करता है, जो मनुष्य-के-स्वास्थ्य का नेतृत्व करती है। उसमे वे सारे गुण है, जो एक योग्य नेतृत्व मे होने चाहिये।

वैसे 'नीम' शब्द दूसरी भाषाओ मे प्रयुक्त हुआ है। फारसी मे इसका अर्थ है 'आधा-अधूरा' या 'अधकचरा'। नीम आस्तीन, नीम हकीम जैसे शब्द आम-फहम है। इसे देखते लगता है कि आज हमारे समाज का नेतृत्व 'नेता' नहीं, 'नीम नेता' कर रहे है। जरूरत 'नीम नेताओ' की नहीं 'नीम-जैसे नेताओ की है, किन्तु बदक़िस्मती यह है कि 'नीम नेताओ ' की आबादी बढ़ रही है और हमारे नैतिक मूल्य लगातार खतरे मे पड़ रहे है। जिसके जिम्मे हमने अपने सामाजिक/सास्कृतिक/नैतिक स्वास्थ्य की बागडोर सौपी थी इत्तफाक़न वही अब वचक और कपटपूर्ण हो गया है और उसने अपना घर भरना शुरू कर दिया है। वह यह नहीं देख रहा है कि जिस जनबल ने मुझे अपना सर्वस्व सौपा है उसके साथ कैसा सलूक किया जाए बल्कि इसके विपरीत वह हरी-भरी फसले उजाड़ने मे लगा है।

सस्कृत मे नीम के लिए 'निम्ब' शब्द आया है। नीम हिन्दी का शब्द हे। निम्ब नीम का जन्मदाता शब्द है। 'निम्ब' शब्द की व्युत्पत्ति काफी दिलचस्प है। 'निम्बति स्वास्थ्यम् णिवि सेचने' (स्वास्थ्य को समृद्ध करने वाला अर्थात् निम्ब, नीम)। जो स्व-स्थ करे वह निम्ब, जो अ-स्वस्थ करे वह अ-निम्ब।

नीम कडुवा होता है। नेता मीठा होता है। वह कडुवा होना 'अफोर्ड' नहीं कर सकता। जो वस्तुएँ कडुवी होती है, ज्यादातर स्वास्थ्यवर्द्धक होती है। कुनेन कडुवी होती है। कडुवी (साफगो) चीजे गले से नीचे उतरे इसलिए उन्हे मिठास मे लपेटना होता है। नेता की जीभ और उसका बर्ताव शहद-लिप्त होता है। झूठ को मुलम्मा चाहिये। सत्य को दिगम्बर बने रहने की आदत है। उसे किसी पर्दे की जरूरत नहीं होती। वह कडुवा हो कर भी आदमी को भरपूर ताकत देता है।

आज का नेता नीम से भी गया-बीता हो गया है। वह अकस्मात् मीठा हुआ है। यदि ईख की तरह उसकी मिठास जन्मजात होती तो बात इतना खतरनाक मोड़ ग्रहण नही करती, किन्तु उसने जानबूझ कर (एक रणनीति-के-तहत) मिठास को अपने चौमेर लपेट लिया है (विशेषत सम्मेलनो/अधिवेशनो मे इसे देखा जा सकता है) ताकि उसकी कडुवाहटो/विकृतियो पर पर्दा पड़ा रहे और वह सामाजिक स्वास्थ्य के साथ छल कर सके। आज ऐसा कोई समर्थ सामाजिक, सास्कृति अथवा धार्मिक नेतृत्व नहीं है जो सच पर झूठ की शहद का मुलम्मा दे कर न चल रहा हो। नीम नीम है, वह जैसी है वैसी है। उसने खुद को छुपाने की कोशिश कभी नहीं की। आदमी की बात जुदा है। वह अक्सर कडुवी की जगह मीठी चीजो की तलाश मे रहा है, इसलिए उसने मीठा नीम भी तलाश लिया है।

नीम का एक गुण है कि वह कई तरह से व्यक्ति के स्वास्थ्य को स्वाभाविकता की ओर ले जाता है। अ-स्वस्थ होने का सीधा-सादा मतलब है स्वाभाविकताओ से स्खलित होना। जब हमारा शरीर अपनी स्वाभाविकताओ से हट-टूट जाता है, तब वह वह नही कर पाता, जो उसे रोज-ब-रोज करना होता है।

नेता को लोकमन/मत का नियामक माना गया है-उसे व्यक्ति का नही समग्र समाज का खयाल रखना होता है। व्यक्ति का जहाँ तक सवाल है, वह एक बड़े लक्ष्य के लिए स्वय को भी विस्मृत करके चलता है। नीम और नेता मे सबमे बड़ी समानता यह होनी चाहिये कि नेता को सामाजिक स्वास्थ्य के लिए जो भी सभव हो करना चाहिये और अपने चित्त-पर-कोई-चादर-नहीं-रखनी-चाहिये। वस्तुत जो समाज के लिए प्रतिपल जीता है/ साँस लेता है-वह नेता है अन्यथा हम उसे खेत के उस बिजूके

की तरह कहेगे जो बीचोबीच बेजान खड़ा रहता है, जिसके पास अपना कहने को कुछ भी नहीं होता।

नीम का एक पर्याय शब्द है 'नियामक'। उसे रोग-नियन्ता कहा गया है। वह रुजहारी ही नहीं है बल्कि शरीर के चय-अपचय (मेटाबॉलिज्म) को भी नियन्त्रित/नियमित करता है। नीम की तरह ही नेता को भी नियन्ता होना चाहिये। नियन्ता असल मे वही हो सकता है, जिसमे आत्मानुशासन अपनी पराकाष्ठा पर प्रकट हुआ हो। भला जो स्वय अनियन्त्रित होगा, वह दूसरो को नियन्त्रित/नियमित कैसे कर पायेगा ? ध्यान से देखेगे तो पायेगे कि आज का तथाकथित नेता अनुशासनहीनताओ का ढेर है। वह जिन नियमो को बना रहा है, उन्हे ही तोड़ रहा है। तोड़ ही नहीं रहा है, बल्कि तोड़ते हुए उन्हे अन्यो पर लागू देखना चाह रहा हे। नीम नियामक है, चूँकि उसका रोगो पर व्यापक नियमन है, किन्तु नेता नियामक नहीं है चूँकि उसका खुद पर अभी ठीक से नियन्त्रण नहीं है। क्या आज का 'नीम नेता' नीम से इस गुण को कभी सीख पायेगा ? हमारा विनम्र सुझाव तो यह है कि हर नेता को अपने घर के सामने कम-से-कम नीम का एक बिरवा अवश्य रोप लेना चाहिये ताकि उसे हर पल यह याद रहे कि उसे जो नियम बनाने है , या जो नियम उसने बनाये है, वे उस पर भी लागू पड़ते हैं। जब तक हमारा नेता नीम-की-तरह अपनी कथनी-करनी मे एक नहीं होगा, यह वह नहीं हो पायेगा जिसे हम 'सर्वतोभद्र' कहते है।

नीम का एक नाम 'सूर्यक' है और दूसरा इसी से मिलता-जुलता है 'रविसन्निभ'। नीम को सूर्यक इसलिए कहा गया है कि यह जिन्दगी के हर अँधेरे मे रोशनी पहुँचाने मे समर्थ है। बीमारी का जरा भी/जैसा भी अँधियारा आपके सामने हो आप नीम को याद कीजिये वह आपकी मदद पर सूरज की किरण की तरह सन्नद्ध मिलेगा, कमर-कसे खड़ा मिलेगा। पुकारिये भर, और वह हाजिर है, किन्तु आज का नेता सूरज की तरह न तो चमकदार है और न ही उसकी तरह कृमिघ्न। वह शुद्ध कृतघ्न है। आप किसी आम आदमी के साथ कोई नेक काम कीजिये और बिसार दीजिये, किन्तु ध्यान रहे यह आदमी जब भी कोई निबिड़ अन्धकार आपके जीवन मे आयेगा, पूरे उत्साह से दौड़ पड़ेगा और हमदर्दी की एक ऐसी किरण आपके जीवन-आँगन मे ला खड़ी करेगा कि आप उठ खड़े होगे और पूरी दिलेरी से सग्राम जूझ सकेगे, किन्तु यह जो तथाकथित नेता है न, वह सकट मे कभी काम नहीं आयेगा। आप उसकी इज्जत कीजिये, वह आपको बेइज्जत करेगा, आप उसके लिए कीर्ति सपादित कीजिये, वह आपके लिए थूहर की फसल खड़ी कर देगा। नेता की तमाम विश्वसनीयता मटियामेट हो चुकी है,

नीम की शत-प्रतिशत बनी हुई है। सूरज तो, इसलिए, हम आज के नेता को कह ही नहीं सकते। जो साल की तमाम अमावस्याओ-के-अन्धकारो से बना हो, उसे सूरज या सूरज-जैसा भला कोई क्यो कहेगा ? सूरज देवता है, नेता तो ठीक से नर भी नहीं है।

नीम का एक नाम है 'मालक'। मालक के मायने है जिसके मर्दन से शरीर को फुर्ती/शक्ति मिलती हो। क्या आज का हमारा नेता ऐसा कुछ है कि जिसके सत्सग से हमे कोई स्फूर्ति या बल मिलता हो ? वह मर्द ही नही है कि जिसकी हुकृति से कुछ घटित हो। वह तो अपनी खुदगर्जियो मे इस कदर लिप्त है कि उसे सूझ ही नही पड रहा है कि परोपकार नामक कोई उदात्त तत्त्व भी जीवन का है।

नीम का एक सबोधन 'वरत्वच' भी है। वरत्वच का अर्थ है अच्छी छाल वाला, गुणकारी छाल वाला। नीम की छाल को एक ओषध माना गया है। नीम और नेता की त्वचा को ले कर एक ही समानता नजर आती है कि जहाँ एक ओर नीम की छाल परोपकारक है, दूसरी ओर नेता का खाल खुदगर्ज और मोटी है इतनी कि उस पर लोकमर्यादाओ का कोई असर ही नही होता। आप उससे खरी-खोटी कुछ भी कह लीजिये, 'वरत्वच' वह बराबर सुनता रहेगा और पूरी बेशर्मी मे मुस्कराता रहेगा। नीम-की-छाल और नेता-की-छाल की तुलना सचमुच एक असतुलित युग्म है - नेता की खाल के तो जूते भी नही बन सकते कि किसी गरीब की पगतली कॉंचो से बच सके। उसकी खाल मोटी हो कर भी निरर्थक ही होती है।

नीम का एक नाम है 'कुष्ठहा' वह कोढ को दूर कर सकता है। उसमे इस तरह की उदात्तता होती है कि वह 'पिचु' नामक कुष्ठ को जड़मूल से उखाड़ फेक सकता है, किन्तु हमारा तथाकथित नेता जो बार-बार तरह-तरह के आकर्षक नारे उठाता है और गगन की ऊँचाइयो को अपवित्र करता है, रूढियो और अन्धविश्वासो की कुष्ठ-चुनौतियो को झेल पाने मे असमर्थ है। समाज मे जो नेता बड़ी बुलदी से रूढियो/अन्धी परम्पराओ का विरोध करते है, देखा गया है कि वे ही अपने घर मे दुम दाबे पड़े रहते है। नेता सिर्फ मच पर दहाड़ता है, उसके बाद उसकी आवाज और उसका व्यक्तित्व सियार से भी बदतर हो पड़ता है। वह नीम की तरह समाज-की-कोढ को दूर नहीं कर पाता, बल्कि उस पर नई खाज-खुजली पैदा कर देता है। किसी भी नेता को नीम से सत्सकल्पी, पक्के इरादे का होना सीखना चाहिये।

नीम के कुछ सबोधनो मे 'भद्र' शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा शुभद्र, प्रभद्र, प्रभद्रक, सर्वतोभद्र, पारिभद्र, पारिभद्रक आदि। भद्र का अर्थ है शालीन/सुसभ्य। भद्र मे-से भद्द/भद्दा शब्द भी विकसित है। ध्यान से देखेगे तो पता पायेगे कि नीम ने तो

सदियो बाद भी अपनी सर्वतोभद्रता को कायम रखा है, किन्तु नेता अपनी भद्रता की हिफाजत नहीं कर सका है। इन दिनो नेता शब्द की जो भद उड़ी है, उससे उसमे काफी भद्दापन आ गया है। आज का नेता फिर चाहे वह किसी भी वर्ग का हो, बात भद्रता की करेगा , किन्तु भीतर-भीतर भरपूर अभद्र बना रहेगा। उसका चरित्र अब भद्र रहने का रहा ही नहीं है। न वह सुभद्र रह सकता है, न प्रभद्र, न वह सर्वतोभद्र रह सकता है और न परिभद्र। अभद्र होना उसकी नियति है - वह चारो ओर से इतना अस्वच्छ हो गया है कि उसने एक भरे-पूरे/भले-चगे शब्द के अस्तित्व को ही खतरे मे झोक दिया है। आज नेता शब्द गौरवपूर्ण नहीं है, उसमे-से घोर अ-गौरव और क़दाचरण की बदबू आने लगी है।

नीम का एक नाम है 'अरिष्ट', जिसका अर्थ है एक ऐसा वृक्ष जिसमे कीड़े नहीं लगते, किन्तु एक नेता के साथ ऐसा नही है। उसके इर्द-गिर्द गदगी/ अस्वच्छता सचित हुई है कि वह खुद एक छोटा-मोटा गदा नाला ही बन गया है। पहले उसमे जो सामाजिक कृमिघ्नता थीं, वह अब खत्म हो चुकी है - अब तो वह 'कृमिकुज' हो गया है, कई छुतहे विकारो का ढेर। क्या ऐसा कुछ हम कर पायेगे कि उसका निर्मल व्यक्तित्व लौटे ?

नीम का एक नाम है 'कीरेष्ट/शुकप्रिय'। वह तोते को बहुत प्रिय है। तोता उसकी निमौलियो को बड़े चाव से खाता है। उसे काकफल भी कहा गया है। कौए निमौली को बड़ी रुचि से खाते है। निमौली मे एक गुण है। उसे कभी कोई कृमि नहीं लगता है। विष्टा-मास-भक्षी कौआ निमौली खा कर ही शायद अपने पाचन-तन्त्र को इतना स्वस्थ रख पाता है। निमौली मे जो बल है, वह अन्य फलो मे नहीं है। यही वजह है कि तोतो और कौओ से वह घिरा रहता है। हम नेता पर जब यह नाम चरितार्थ करने को होते है तब लगता है कि उसमे तोतारट/अपने मुँह मिया-मिट्ठू की वृत्ति तो है, किन्तु वह अपनी मौलिकताएँ चौपट कर बैठा है। निमौली का एक गुण भी उसमे नहीं है। वह न तो नीम है और न ही समाज-की-सेहत को बढ़ाने का सत्त्व उसमे शेष है। काकप्रिय वह है (जिसके आसपास काकस का विषम्भर घेरा भी बना हुआ है) और स्वय को काक भी बनाये हुए है।

सवाल है कि नीम मे जो है वह क्या कभी हमारे 'नीम नेताओ ' मे हो पायेगा ? क्या हमारे तथाकथित नेता अपने ऑगन मे, या अगबाड़े नीम का कोई बिरवा रोपना पसद करेगे ताकि आते-जाते याद पड़े कि हमारा असली गुरु यही है ?

बच्चे और नेता

नेता उसे कहा जाता है जो समाज की आशा-आकाक्षा को समझ कर उसे उपयुक्त दिशा-दृष्टि प्रदान करे और कोशिश करे कि वह कम-से-कम समय मे और अधिक-से-अधिक कामयाबी के साथ अपने निर्धारित लक्ष्य तक पहुंच सके।

किन्तु इधर के वर्षो मे 'नेता' शब्द के गर्द-गिर्द काफी गर्द और बदनामियाँ लिपट गयी है। तथाकथित नेताओ द्वारा कुछ ऐसे काम हुए है, जिन्होंने शब्द की गरिमा को कम किया है और उसके व्यक्तित्व के सबन्ध मे भ्रान्तिया पैदा की है। पहले नेता को एक आदर्श व्यक्ति माना जाता था और महज ही मान लिया जाता था कि वह निष्काम चित्त और निष्कपट भावना से अपना कर्त्तव्य निभायेगा, किन्तु अब नेता सिर्फ इसलिए बना जाने लगा है कि स्वार्थ पूरे हो और ज्यादा-से-ज्यादा सुख-सुविधाए मिल सके। यह भी कि अधिकतम कीर्ति मिले और जिनसे वह मिले उनके लिए कम-से-कम काम किया जाए। स्वार्थान्धिता और दोगलेपन के कारण 'नेता' शब्द जग खा गया है और भीतर से खोखला/ धुँधला हो गया है।

अब 'नेता' का मतलब रह गया है वह शख्स जिसका चरित्र दोहरा हो, जो झूठ बोलने मे कुशल हो, जो कुटिल हो, और जो ऐसी चाल चल सकता हो कि शुद्धाशुद्ध साधनो की चिन्ता किये बगैर काम सर जाए। उसकी कथनी और करनी एकरूप न हो और जो तेदुए की तरह दोगला तथा अपने शिकार पर बिल्ली या छिपकली की तरह आक्रमण मे सफल/सक्षम हो। जो तिल-से-काम को ताड-सा बता कर कीर्ति हासिल करने की कला जानता हो। जो अभिनय मे कुशल हो और जो अपने साथियो के, अपने सुख-साधन के लिए, भरपूर शोषण की तकनीक मे प्रवीण हो। यदि नेता का अर्थ अब यही/ऐसा है, या निरन्तर बदतर हो रहा है, तो चिन्ता का विषय है।

उत्तरोत्तर बदलती परिस्थितियो मे जब हमारा ध्यान बच्चो की ओर जाता है और जब हम किसी नेता की बगल मे तीन-चार साल के बच्चे को खड़ा करते है, तब लगता है कि यह जो नेता हमारी ऑखो के सामने है इसे सलाह दी जाए कि वह एक बार अपनी पूर्वावस्था मे लौटे और जॉचे कि इस बीच क्या-कुछ घटित हुआ है। बच्चा असल मे भगवत्तुल्य होता है। उसकी कुछ बेमिसाल खूबियॉ है, अत नेता या नेताओ को यह राय सहज ही दी जा सकती है कि वे अपने निर्मलीकरण के लिए बच्चो की भरपूर

सोहबत करे और उनके साथ दिन का कम-से-कम चौबीसवॉ भाग जरूर बिताये।

बच्चे की सबमे बड़ी विशेषता यह है कि वह एक पल,या पलक को झूठ नहीं बोल सकता। वस्तुत वह झूठ बोलने के 'फायदे' ही नहीं जानता। वह जो कहता है सौटच कहता है। सच कहने मे वह किसी का लिहाज नहीं करता। उसके सामने सच सिर्फ सच होता है, उसके अलावा और कुछ नही होता। वह उस सरकार की तरह का नहीं है जिसने अपने प्रतीक पर सत्य की विजय का बोध-वाक्य उकेर रखा है, किन्तु जो झूठ बोलने के अलावा कुछ करती ही नहीं है।

झूठ और राजनीति पर्याय बन गये है। यदि राजनीतिज्ञ बच्चो के साथ जीने/रहने का सकल्प कर ले तो राजनीति-के-निर्मलीकरण की सभावनाऍ बन सकती है। फिलहाल हम यहॉ सामाजिक नेताओ की चर्चा कर रहे है उन्हे यह बताना चाहते है कि वे बच्चो का सत्सग करे और प्रयत्न करे कि दिन का कम-से-कम एक घटा वे उनकी तरह जियेगे। सभव है ऐसा करते-कराते उन्हे सच बोलने का रियाज हो जाए या स्मरण हो आये कि उनका स्वभाव असत्य आचरण नहीं है, सत्याचरण है, क्योकि सत्य को तो हम आठो याम धारण कर सकते है, किन्तु असत्य/झूठ को हम अधिक लम्बे समय तक स्वय पर चिपकाये नहीं रख सकते। जाने हम, कि सत्य स्वभाव है, असत्य विभाव। बच्चे स्वभाव को तब तक नहीं छोड़ते जब तक उन-जैसे गर्म लोहे पर बार-बार चोट न हो और वे झूठ से पूरी तरह घिर न जाऍ, उसके चगुल मे फँस न जाऍ। जब उन्हे लगने लगता है कि बिना झूठ बोले न तो वे अपने अभिभावको को खुश रख सकते है न ही रोटी पा सकते है, तब फिर वे इन लाचारियो और अनिवार्यताओ से झूठ बोलना शुरू कर देते है।

जब हम उन कारणो की जॉच-पड़ताल करते है, जिनकी वजह से कोई बच्चा झूठ बोलना शुरू करता है तब लगता है कि असली अपराधी हम खुद है। जब तक हममे एक बालक/एक शिशु किलकारियॉ भरता रहता हे, हम झूठ नहीं बोल पाते, किन्तु जैसे ही हममे से उसकी अरथी उठ जाती है, हम झूठ कुछ इस कदर बोलने लगते हैं कि हमे अकेले मे स्वय को शर्म आने लगती है। यदि हम एक बालक को बालक बना रहने दे और स्वय बालक बनने की कोशिश करे तो हम समाज की काया बदल सकते हैं। मुश्किल किन्तु, यह है कि जब भी कोई बालक किसी मेहमान के आगे सच बोल पडता है, हम दुविधा मे पड़ जाते है और मेहमान की रवानगी के बाद बालक को झूठ बोलने की सीख सिखाने लगते है। जो बालक झूठ बोल नहीं सकता, उसे हम सामाजिक बनाने के नाम झूठ बोलने का अच्छा खासा अभ्यास करा देते हैं; इसलिए सबसे पहला [illegible]

यह करना होगा कि हम अपनी शिशु-सपदा को सत्यवादी बना रहने दे- उसे कलुषित न करे।

यदि आज का नेता बालको के साथ अपनी सालाना जिदगी का एक पखवाड़ा भी बिताने का सकल्प कर ले तो समाज मे एक अभूतपूर्व क्रान्ति सभव हो सकती है।

बालक की दूसरी बड़ी विशेषता है बैर न करना। वह क्रोध कर सकता है-मामूली-सा, किन्तु बैर कभी नहीं कर सकता। उसकी गॉठ होती ही नहीं है। उसकी सुतली निर्ग्रन्थ होती है, ग्रन्थियॉ तो उसमे हम डालते है। वस्तुत अपने भीतर वह सर्वाग निर्ग्रन्थ होता है, गॉठ बॉधने और बदला लेने का सबक तो हम उसे देते है। यह सब उसका 'होमवर्क' होता है। एक बालक के व्यक्तित्व मे इस तरह का अद्‌भुत-अपूर्ण कुछ होता है कि वह अपनी सहज निर्ग्रन्थता से दूसरो के मन की गॉठे खोल देता है। वह असल मे जो भीतर होता है, वही शत-प्रतिशत बाहर होता है-ऐसा वह कर ही नहीं सकता कि बाहर कुछ हो और भीतर कुछ। दोगलेपन-का-विज्ञान वह बढ़ती उम्र के साथ अपने मॉ-बाप और गुरूजनो से सीखता है और फिर उत्तरोत्तर इस तथ्य को भूलता जाता है कि वह कभी सत्य भी बोलता था-उसके अलावा बोलने को उसके पास कुछ था ही नही। सिर्फ अपने भीतर-के-बालक-की-मौत की वजह से हमे आज कोर्ट-कचहरी मे कसमे खानी पडती है कि हम सच बोलेगे, सच से अलावा कुछ नही बोलेगे। इस मायने मे बालक की सोहबत मे दूसरी बात जो एक नेता सीख पायेगा वह होगी परस्पर बैर न करना। वस्तुत यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बैर को 'क्रोध का मुरब्बा' निरूपित किया है, यानी क्रोध रुका और बैर बना। जब भी हममे क्रोध निलम्बित (पोस्टपोन) हो बैठे, अपनी अभिव्यक्ति के लिए, मान लीजिये वह बैर बनने की प्रक्रिया मे है। बैर कब भुनाया जाएगा, यह कोई नही जानता। बालक निर्बैर होता है, इसीलिए वह शक्तियो का एक सृजनधर्मी पुज होता है। उसकी यह खूबी उसके विस्मरण-के-स्वभाव मे पड़ी होती है। वह भूलता जाता है। कुछ भी अटकाये नही रखता। वह दुर्गुणो, बुराइयो, और अपराधो को भूलता जाता है और अच्छाइयो के लिए चुम्बकीय बना रहता है, किन्तु हम उसकी इस खूबी को एक दूसरी दिशा पकड़ा देते है, अत यह चुम्बक बुराई और खोट को पकड़ने/खींचने लगता है। यदि हमारे नेता यह सकल्प कर ले कि वे वर्ष के कुछ दिन किसी बालक के साथ बितायेगे और उससे सीखेगे, तो समाज का जो चेहरा सामने आयेगा वह विश्वमैत्री का सर्वोत्तम उदाहरण होगा। तब फिर हमे क्षमावाणियॉ और विश्वमैत्री-दिवस नहीं मनाने पड़ेगे, वे रोज-ब-रोज खुद-ब-खुद मनाते रहेगे।

बालक की तीसरी खूबी है उसका खेल-प्रिय होना। उसे खेलने मे जो आनन्द आता है, वह कुटिल कामो मे नहीं आता। वह जीवन-का-सच्चा आराधक होता है। अक्सर कहा जाता है कि हमे इस जिन्दगी को खिलाड़ी-की-भावना से जीना चाहिये, जिसके स्पष्ट मायने है कि हमे बहुत निष्कपट और सरल जीवन जीने का प्रयास करना चाहिये। एक खिलाड़ी न तो बदले-की-भावना रख सकता है और न ही हारने पर खिन्नता का अनुभव करता है। पराजय के कारणो का पता अवश्य लगाता है, किन्तु उन सबके लिए अन्तत खुद को ही जिम्मेदार ठहराता है। क्या हम बालक मे-से खिलाड़ी की इस प्रवृत्ति को प्राप्त कर सकते है और जीवन के उस सच्चे दौर मे आ सकते है जो समाज मे एक नयी ही जगमगाहट को जन्म दे ?

यदि हमारे नेता सिर्फ यही इरादा कर ले कि वे देश के नौनिहालो को जैसे-वे-है-वैसा ही अविकल बना रहने देगे तो भी काफी फर्क पड़ सकता है, किन्तु वे इसके विपरीत उनके सामने कुटिलताओ और धूर्तताओ की ऐसी मिसाले पेश कर रहे है कि किसी भी नीतिशास्त्र का माथा शर्म से झुक जाता है और फिर मजा यह है कि ऊपर से उपदेश पिला रहे है कि उन्हे 'ऐसा करना चाहिये, वैसा नहीं करना चाहिये'। भला आप ही बताये उनके इन खोखले/निर्बल/निर्जल शब्दो का कोई असर कैसे पड़ सकता है ?

बच्चो से हमे, यानी नेताओ को, एक बहुत बड़ी बात यह सीख लेनी है कि एक बालक, चाहे फिर वह दुनिया के किसी भी मुल्क का हो, 'आगागी कल' पर नजर रखता है। वह 'बीते कल' की चिन्ता कभी नहीं करता। उसकी ऑखो के सामने आठो पहर सिर्फ कल होता है, अतीत को ले कर न तो वह पछताता है और न ही सिर धुनता है। वह सच्चा भविष्य-दृष्टा होता है। वह बया पक्षी की तरह भविष्य बुनता है, न कि एक वृद्ध की तरह अतीत के बखिये उधेड़ता है। यदि हमारे नेता बच्चो से सिर्फ इतना-भर सीख ले कि वे समाज के भविष्य की रचना बहुत ईमानदारी से करेगे तो समाज का अभूतपूर्व कायाकल्प हो सकता है।

बच्चो से एक बात हमे और सीख लेनी है, वह यह कि चाहे जो हो हम सारे काम आत्मनिर्भरता से करेगे और सकट आने पर कभी निराश नहीं होगे। बच्चे न तो कभी निराश होते है और न ही अपना काम दूसरो को करने देते है। वे पूरी कोशिश करते है कि 'अपना' हाथ जगन्नाथ बना रहे और कोई अनावश्यक हस्तक्षेप न करे। जो लोग सामाजिक नेतृत्व कर रहे है, उन्हे बच्चो से परस्पर प्रीति और विश्वास की भावना का सबक लेना चाह्यिे कि सबकी अपनी-अपनी स्वाधीनताऍ है, अत कोई नहीं चाहता कि उन्हे कोई बाधित करे। बच्चे सृजन-की-भावना को बुनियाद मे रख कर जिस तरह

काम करते है, उसी तरह काम करते हुए नेताओ को अपनी महत्त्वकाक्षाओ की पूर्ति के लिए काम करना चाहिये-यह नही कि अपने स्वार्थ के लिए दूसरो की आजादी को मूल्यहीन समझा जाए और उसे चोट पहुँचायी जाए।

नेतृत्व के निर्मलीकरण का सबमे सरल उपाय यह है कि हम समाज मे बालोत्सवो और बाल-समारोह की सख्या बढाये और इन्हे एकसूत्र मे बॉध कर विकेन्द्रित रूप मे मनाये। ख्याल रहे, बच्चो के बीच जितना अधिक हम रहेगे, उतने अधिक निर्मल, सवेदनशील, मानवीय, और प्रीतिपूर्ण बनेगे। बच्चे आगामी कल के नागरिक है, अत हम उन्हे सहेजे-सॅभाले और बजरिये उनके स्वय सॅभले। स्वाभाविकताओ को लौटाने और कृत्रिमताओ/औपचारिताओ को दूर करने मे बच्चे हमारी जितनी मदद कर सकते है, पूरे जगत् मे शायद कोई और कर नही सकता।

नेतृत्व : साध्य-साधन-विवेक

समाज का नेतृत्व इस समय उन लोगो के हाथ मे नहीं है जो शुद्ध/सात्विक/सरल/निर्भ्रम/निष्काम/आगमोक्त जीवन बिता रहे है, बल्कि वह उन लोगो के हाथ मे है जिन्हे समाज की कोई चिन्ता नहीं है और यदि कोई चिन्ता है भी तो अपने मान-सम्मान की है। ऐसे लोगो की चीख-चिल्ला कर बोलने, अच्छे और चटपटा बोल कर वस्तुस्थिति को टालने की शैली बड़ी धोखादेह होती है। ये लोग तरह-तरह के आयोजनो द्वारा आम आदमी के मन-मास्तिक पर छा जाते है, और उससे मन चाहा पैसा झटक लेते है तथा उसकी मदद (पैसे की) से बड़े-बड़े सस्थान खड़े कर अपने पदो को पुश्तैनी गाद्दियो मे बदल लेते है। उनके सामने जो भी अधिक बोलता या अड़ता है, उसे समझ कर उसकी तात्कालिक मॉग के आगे दाना डाल कर उसे सदा-सर्वदा के लिए खत्म कर देते है। हमे इस असन्तुलन को दूर करने, उसके निवारण के लिए ठोस उपाय करने चाहिये। पूरा भरपूर इलाज हम भले ही बाद को करे, किन्तु रोग न बढे इस दृष्टि से प्राथमिक चिकित्सा तो करे ही। इसके बिना हम जिन खतरो को जाने-अनजाने मोल ले रहे है, वे इतने घातक है कि आगे चल कर हमे इसके बुरे नतीजे भोगने पड़ सकते है।

कॉमन मेन और विशिष्ट जन के बीच जो अन्धा गैप है, सब मे पहले हमे उसकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा करनी चाहिये और फिर इस सतुलन को दूर करने के कारगर उपाय करने चाहिये। अमीर/भ्रष्ट/सिद्धान्तहीन/स्वार्थी नेतृत्व की जगह जब तक हम सही/सतुलित/स्वच्छ/निष्काम नेतृत्व नहीं लायेगे, लगातार असतुलित होते जाएँगे और एक दिन बुरी तरह ध्वस्त हो जाएँगे।

आज का नेतृत्व विलम्ब-की-राजनीति की शरण जिस तरह ग्रहण किये हुए है, उसी तरह वह तात्कालिक मुक्ति (पिड छुड़ाने) की ओर भी काफी सजग है। 'तत्काल क्या किया जाना चाहिये ताकि किसी व्यक्ति या समूह से पिड छुड़ाया जा सके' इस ओर आज के सामाजिक नेतृत्व का ध्यान अपलक बना रहता है। आज का नेतृत्व किसी दूरगामी नीति से प्रेरित अथवा स्फूर्त हो कर काम नहीं करता, बल्कि उसकी जिन्दगी तात्कालिकताओ मे चलती है, वह स्थायीत्व मे एक पल को भी नहीं उतरता। तात्कालिकता उसके लिए अमृत है, और सनातनता या स्थायी कुछ विष, इसीलिए वह तुरत-फुरत-की-राजनीतिक चाले चलता है और अपनी जय-जयकार करवाता है। हमे इस सबके प्रति सतर्क होना चाहिये और सामाजिक/धार्मिक नेतृत्व की सम्यक् समीक्षा करनी चाहिये।

हम साध्य के प्रति तो चौकस है, किन्तु साधनो की पवित्रता पर कोई ध्यान नहीं दे

रहे है। हम ज्यो-त्यो/जैसे-तैसे अपने साध्य पर टकटकी लगाये है बिना यह सोचे कि साधन ही अन्तत साध्य को आकार प्रदान करते है । साध्य-साधन की परिपूर्ण/सौ टका पवित्रता पर से तो लोगो का भरोसा ही उठ गया है । इन दिनो साधन प्राय अपवित्र/अपावन ही काम मे लाये जा रहे है, साध्य की गरिमा के अनुरूप कहीं-कुछ नही हो रहा है । महावीर/गाधी/और-और महापुरुषो ने साध्य और साधन दोनो को तुल्य महत्त्व दिया, उन्होने स्पष्ट कहा कि साधन की पवित्रता साध्य को कभी कलुषित नहीं होने देती, इसलिए धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे जहाँ भी जो भी हमे करना होगा वहाँ, उसमे हमे समन्वित, सन्तुलित और अकलुषित चलना होगा । साधन/माध्यम शुद्ध हो हर पल, हर कदम तो फिर कोई कारण नहीं है कि हम विवश हो, निरुपाय दिखायी दे ।

महात्मा गाँधी का या हमारे आचार्यो का यह कथन सौ फीसदी सही है कि न केवल हमारा साध्य पवित्र और उत्तम हो अपितु हमारा साधन भी उतना ही प्रामाणिक, नैतिक, उज्ज्वल, और साफ-सुथरा हो । साधन यदि पवित्र होगा तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि सिद्धि, या साध्य कलुषित हो । सिद्धि-की-शुद्धि साधन-की-शुद्धि पर निर्भर करती है । आज तो हम दोहरी मार खा रहे है । हमारा साधन तो अपवित्र है ही, साध्य भी अ-नियोजित है । साध्य के अस्पष्ट होने तथा साधन के दूषित या अनिश्चित वश के होने के कारण हमारे बाहरी ढाँचे तो आकार ले रहे है, किन्तु अन्दरूनी कुछ घटित नही हो पा रहा है । हम अन्दर-अन्दर खोखले हो रहे है और बाहर टीमटाम मे भव्य दीख पड़ रहे है । इमारते धड़ल्ले से बन रही है, किन्तु उनमे जो कुछ घटित होना चाहिये, वह लापता है । क्या हम समाज को इमारतो का सग्रहालय बनाना चाहते है ? वस्तुत अब न तो हमारे पास कोई समाज-सेवी है (पदवीधारियो को छोड़ दीजिये) और न ही कोई कर्तव्यनिष्ठ कार्यकर्ता, अत हमारा पहला ध्यान इन दोनो की तलाश पर जाना चाहिये । इस काम मे यदि कोई विलम्ब होता है, तो वह समूचे ढाँचे को चरमरा देगा, उसे चकनाचूर कर देगा ।

इसी तरह हमे उन लोगो की खबर लेनी चाहिये जो सामाजिक रूढियो को खत्म करने के लिए तकरीरे तो लम्बी-लम्बी देते है, किन्तु जब खुद पर आ पड़ती है तो दबी जुबान से लुकछिप कर वही सब करते है, जिसका कभी दिन-दहाड़े/खुल्लमखुल्ला विरोध किया था । जिस तरह आज राजनीति स्वय का निर्मलीकरण करने की कोशिश मे है हमे भी उसी राह चल कर स्वय को बुहारने की कोशिश करनी चाहिये । हमे दिशाहीनता से बच कर नये सदर्भो मे पूरी ईमानदारी से समायोजित होने का प्रयास करनी चाहिये ।

परस्परोपग्रहो जैनानाम्

' उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र मे पाँचवे अध्याय का इक्कीसवाँ सूत्र है ''परस्परोपग्रहो जीवनाम्'' अर्थात् जीवो का परस्पर अनुकूल होना, सहायक होना उनकी परिचर्या है। इस तत्त्वबोधी सूत्र का एक सामाजिक आयाम यह भी सभव है यदि हम इसे किचित् हेर-फेर के साथ यो रख सके- ''परस्परोपग्रहो जैनानाम्'' यानी जैनो को परस्पर उपकार-भावना से जीना चाहिये। यह युग की माँग है, जमाने की जीवन्त पुकार है। तथ्य यह है कि सारा जैन समाज टुकडो मे बँटा हुआ है, उक्त सूत्र उसे अखण्ड स्वरूप की प्रेरणा देता है। यह सूत्र एक ओर यह पहल तो कर ही रहा है कि हम एक हो, एक हृदय हो, साथ ही दूसरी ओर यह भी सूचित कर रहा है कि हम इस तरह अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली रूप मे अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकेगे, इसलिए उक्त सूत्र को यदि हम अपनी सामाजिक चेतना के हर कतरे मे गूँथ ले, तो यह स्थिति बेहद क्रान्तिकारी सिद्ध हो सकती है। सारे फिरके, वर्ग, उपवर्ग मिट सकते है, और एक निर्मल वायुमण्डल निर्मित हो सकता है। दिगम्बर एक, श्वेताम्बर एक, और फिर कालान्तर मे दोनो एक। इससे तत्काल एक लाभ यह होगा कि हमारा कार्यक्षेत्र बढ़ जाएगा और हमारे सोचने का सकीर्ण और अनुदार ढग बदल जाएगा। थोड़े परिश्रम मे हम अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त कर सकेगे। आज हमारी शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण भाग सामाजिक झगड़ो को निपटाने मे लग जाता है, यदि इस शक्ति को हम आन्तरिक विकास मे लगाये तो हम मानवता के इतिहास मे नवकीर्तित हो सकते है और इस युद्ध-सतप्त विश्व को एक अभिनव मोड़ दे सकते है।

प्रश्न उठ सकता है कि ''परस्पर-उपग्रह'' की पहल कौन करे ? चूहे चाहते है कि बिल्ली के गले मे घण्टी बाँधी जाए, किन्तु मुश्किल यह है कि कौन अपनी जान खतरे मे डाले ? कौन आगे आये और इस क्रान्ति का सूत्रधार बने, क्योकि यह काम ऐसा है जिसमे कीर्ति-लाभ की अपेक्षा उत्सर्ग अधिक है। इसमे बड़े निष्काम भाव से आग मे कूदने की जरूरत है। हमारा खयाल है कि आज का तरुण जितनी सुन्दरता से इस क्रान्ति का सूत्रपात कर सकता है, अन्य कोई नहीं। रूढ मन सभव है, इस मन्त्रपाठ की महिमा को समझ ही नहीं पाये। उक्त सूत्र देखने मे, जितना छोटा है, अमल मे उतना ही मुश्किल है, किन्तु यदि हम एक बार पक्का इरादा कर ले तो फिर ससार की कोई ताकत हमे रोक नहीं सकती।

उक्त सूत्र का एक मर्मबोध और है कि हम परस्पर एक-दूसरे को पूरी उदारता के साथ स्वीकार करे, यानी परस्पर की कमजोरियो को और खूबियो को एक साथ

जानकर क्षमा करे और काम मे ले। अविरोध और समभाव से एक-दूसरे के अस्तित्व को माने और दुराग्रह को जीवन के हर कोने से बिदा कर दे। अपनी गलती माने, दूसरो की गलती पर ध्यान न दे। जब तक हम अहकार और दर्प की वृत्ति को समाज मे कम नही करेगे, एक मगलमय भ्रातृत्व की रचना सभव नहीं होगी। उक्त सूत्र मगलमय भाई-चारे की भावना से स्थापित करने की सबमे बडी पहल है।

आज हर आदमी स्वार्थन्ध है, वह आपाधापी मे लगा हुआ है। उसे जो भी चाहिये स्वय के लिए चाहिये, अपने ही साथियो की कीमत पर चाहिये, यह दृष्टिकोण घातक है ओर सम्यक्त्व के प्रतिकूल है। उक्त सूत्र जहाँ एक शोषण-रहित समान-रचना की बात कह रहा है, वही दूसरी ओर अपरिग्रह का प्रतिपादन भी कर रहा है। त्याग मे भोग और भोग मे त्याग उक्त सूत्र का रूपान्तरण है। हो सकता है कुछ लोगो को यह नितान्त काल्पनिक जान पड़े, किन्तु वस्तुत ऐसा नहीं है। यह कटु सत्य है कि जब तक हम परस्पर की उपकार भावना मे नहीं जियेगे, हमारी समस्याएँ बढेगी ही, उनके घटने का कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा।

वैसे, व्यापक और उदार रूप मे देखे तो स्वभावत ससार का हर प्राणी उपकार कर रहा है। उपकार का इतना बड़ा साम्राज्य हमारे सामने है कि हम उसमे से इस मन्त्रपाठ को प्रतिक्षण जान सकते है, किन्तु कष्टप्रद यह है हम उपकार और सह अस्तित्व की भावना की अनुपस्थिति मे एक पल भी सुख से नही बिता सकते, सुखाभास की स्थितियाँ भले ही हो, वास्तविक सुख वहाँ नही है, इसलिए विज्ञान के निरन्तर प्रवेश मे भी हमे परस्पर उपकार की भावना से शास्त्र को खोजना चाहिये और उसे जीवन मे उँडेलना चाहिये। वस्तुत कोई भी शास्त्र, या सिद्धान्त तब घातक और निष्प्राण बन जाता है जब वह जीवन से अलग-थलग कोई चीज बन जाता है। इसलिए कोई भी शास्त्र, या विज्ञान बने आदमी की उज्ज्वलता को वह बढाये, कम न करे, तभी वह सार्थक होगा, अन्यथा कोल्हू की बैल की तरह हम कुछ भी करते जाएँगे, हमारा चक्र समाप्त नहीं होगा।

उक्त सूत्र प्रखर है, तेजोमय है। इसका एक-एक हरक मन को छूने वाला है। एक होकर हम जितने सफल हो सकते है, विभक्त होकर नही। यह सूत्र एकता की बात पूरी प्रखरता से कह रहा है।

हमे विश्वास है कि उमास्वाति के सूत्र का यह सामाजिक रूपान्तर हमारे जीवन का सूत्रधार बनेगा और इसे व्यवहार मे प्रकट कर ससार के लिए हम अधिक कल्याणकारी सिद्ध हो सकेगे।

डॉ. नेमीचन्द जैन की वहुचर्चित लोकप्रिय कृतियाँ

वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (परिवर्द्धित चौथा संस्करण	१५ ००
वहुआयामी महामन्त्र णमोकार	१५ ००
ओम् १०० तथ्य	५ ००
जहर अमृत चुनौतियों	१० ००
अपरिचय	५ ००
जैनधर्म १०० तथ्य	७ ००
जैनधर्म . इक्कीसवीं शताब्दी	५ ००
भक्तामर स्रोत (अर्थ सहित/सचित्र)	५ ००
मेरी भावना (सचित्र)	३ ००
पर्युषण उर्प पान जीवन का (परिवर्द्धित)	५ ००
एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका (परिवर्द्धित)	५ ००
हम अन्धे पाँच अन्धे (परिवर्द्धित)	५ ००
अहिसा है हमारी माँ (परिवर्द्धित)	५ ००
अहिंसा का अर्थशास्त्र	५ ००
प्रणाम महावी	५ ००
जैन आहार विज्ञान और कला	५ ००
वरक़ मासाहार है	५ ००
मुख़ातिब . ख़ुद-ब-ख़ुद (वातचीत स्वय-की, स्वय-से)	१० ००
शाकाहार . मानव-सभ्यता की सुबह	२० ००
शाकाहार-विज्ञान	१५ ००
शाकाहार : १०० तथ्य	५ ००
शाकाहार . सर्वोत्तम जीवन-पद्धति	२ ००
बेकसूर प्राणियो के खून-मे-सने हमारे ये बर्बर शौक़	२ ००
ना बाबा ना	२ ००
मांसाहार सौ तथ्य	३ ००
अण्डे के बारे मे १०० तथ्य	२ ००
अण्डा : ज़हर-ही-जहर	२ ००
अण्डा आपको निगल रहा है	१ ००
क़त्लख़ाने १०० तथ्य	८.००
क़त्लख़ानो का नर्क	२ ००
हिसा क़त्ल : क्रूरता	५ ००

हीरा भैया प्रकाशन

६५ पत्रकार कॉलोनी, सनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१ (मध्यप्रदेश)

डॉ. नेमीचन्द जैन

अहिंसा है हमारी माँ

अहिंसा है हमारी माँ

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

अहिंसा है हमारी माँ

डॉ. नेमीचन्द जैन

प्रकाशन :
हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी
कनाडिया मार्ग
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

मुद्रण :
नई दुनिया प्रिन्टरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२००९, मध्यप्रदेश

संपादन : प्रेमचन्द जैन

प्रथम आवृत्ति : अगस्त १९९३

द्वितीय परिवर्द्धित आवृत्ति : जुलाई १९९६

मूल्य : पाँच रुपये

ISBN 81-85760-13-6
अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक-संख्या
८१-८५७६०-१३-६

आमुख

दो ख़बरे मेरे सामने है एक, यह कि १२ अगस्त को अहमदाबाद मे जीवदया-के-लिए समर्पित महिला गीताबेन बच्छूबाई राछिया को कसाइयो ने दिन-दहाडे रिक्शे से खीच कर मार डाला, दो, यह कि विश्व प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति १५० डॉलर अर्थात् प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति १२ रु ८९ पै अस्त-शस्त्रो के निर्माण पर खर्च कर रहा है।

दोनो ख़बरे अहिंसा की धारणा को मटियामेट करती है और उन लोगो के मन-मस्तिष्क मे, जो अहिसा, शान्ति, और भाईचारे के लिए अपने जीवन का एक-एक पल न्योछावर किये हुए है, आतक और दहशत पैदा करती हैं। सवाल उठता है कि क्या आगे चल कर ऐसे लोगो का राज्य होगा जो हिसा को अपना हथियार बनायेंगे, खासतौर से उस मुल्क मे जहाँ महात्मा गाँधी-जैसे महामानव ने अहिसा के बलबूते पर स्वाधीनता प्राप्त की थी, वहाँ अहिसा तड़प-तडप कर दम तोड़ देगी?

आज चारो ओर हत्या, रक्तपात, आतंक, गुंडागिर्दी, और अतिवाद का जो माहौल बना हुआ है, वह मन मे कसक पैदा करता है तथा हमारे पुरखो की सांस्कृतिक कमाई पर कालिख पोतता है।

अहमदाबाद गाँधी का नगर है, गाँधी के प्रदेश मे है। पूरे देश मे आज जो हवा है, उससे लगता है कि हमे अहिसा की अचूक शक्ति को पुनरुज्जीवित करना होगा और हिसा को हर मोर्चे पर परास्त।

हिसा का हाल यह है कि सरकार उसकी पीठ थपथपा रही है और अमीर तथा राजनीतिज्ञ उसे खुले आम शरण दिये हुए हैं। सरकार ने हिसा को लायसेस दे रखा है। देश मे कम-से-कम ३,००० वैध अर्थात् लायसेसशुदा क़त्लखाने है, जिनमे लाखोलाख निरीह/मूक पशुओ को व्यवस्थित (सिस्टेमेटाइज्ड/ऑर्गेनाइज्ड) ढग से अद्यतन तकनीको द्वारा काटा जाता है। खाड़ी तथा यूरोप के देशो से विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लोभ-लालच में हम अपने देश की पशु-संपदा तो उजाड़ ही रहे हैं, आम आदमी मे मारकाट और हत्या, हिसा और आतंक के लिए अनुकूलताएँ भी पैदा कर रहे है। उसके भीतर जो एक सास्कृतिक संकोच था, उसे हमने अचानक घायल कर दिया है। देश के दो प्रधानमन्त्रियो का इस घिनौनी हिसा का शिकार बनना, और फिर भी सरकार का इसे इस तरह राज्याश्रय देना एक ऐसा अन्तर्विरोध है जो हमारे हर उजाले को स्याह करता है।

कहा जा रहा है कि यदि हिसा नही होगी, क़त्लखाने नहीं चलेगे, पौल्ट्रियाँ नही होगी, मछली-पालन नहीं होगा तो लोग भूखो मर जाएँगे, किन्तु यह तथ्य सही नही है। सफेद झूठ है।

पानी को ले कर आज उत्तर अमेरिका मे जो हा-हाकार है और मैक्सिको/अरोजोन मे जलाभाव के लिए लोगो की जो बदकिस्मत कतारे लग रही है और राष्ट्रपति बिल क्लिंटन जिस तरह पानी-के-लिए बिलखते लोगो के आँसू पोछ रहे है, उस सबको देखते मांसाहार की व्यर्थता और अप्रासगिकता स्पष्ट हो गयी है, जो आँकडे हमारे सामने है, उनके अनुसार एक टन

उत्पादन मे ४,९२,००,००० लीटर पानी की खपत होती है, जब कि एक टन गेहूँ के उत्पादन मे मात्र ४,९०,००,००० लीटर पानी लगता है। पानी का यह दुश्चक्र यही ख़त्म नही होता। 'अर्थ सेव्ह'/मार्च १९९२ के एक सर्वेक्षणके अनुसार केलीफोर्निया मे प्रति पौड खाद्य-उत्पादन पर जितना पानी खर्च होता है, वह इस प्रकार है- टमाटर २३ गैलन, काहू (लेतूस) २३, आलू २४, गेहूॅ २५, गाजर ३३, सेवफल ४९, संतरे ६५, अंगूर ७०, दूध १३०, अण्डे ५४४ चूजे ८१५, सुअर का मास १६३०, गोमांस ५२१४ गैलन। क्या उक्त आँकडे चौकाने वाले नही है ? यदि भारत मे मांसाहार इसी गति से बढता रहा तो क्या हम पानी की एक-एक बूँद के लिए तरस नही पडेंगे? ध्यान रहे · भारत मे जलाभाव का सबमें बडा कारण बढते हुए कत्लखाने, हैचरियाँ, और पौल्ट्रियॉ है। क्या हम चाहते है कि भारत मे भी उत्तर अमेरिका की तरह का कोई जल-दुष्काल पडे?

आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार अर्थात् हिसा काफी महँगी पड़ती है। अमेरिकी आँकडो वे अनुसार किसी पशु को १६ पौड अन्न खिलाने पर एक पौड मास तैयार होता है तथा चक्रीकरण (साइक्लिग) के इस चक्कर मे ९० प्रतिशत प्रोटीन, ९९ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, तथा १०० प्रतिशत रेशा बर्बाद हो जाता है, यानी २० आदमियो का पेट भरने की जगह बमुश्किल एक आदमी का पेट भर पाता है। इतना सब होते हुए भी हमारा देश अहिंसक खेती छोड कर हिसक कृषि की ओर तेजी से भाग रहा है, भाग क्या रहा है, असल मे, उसे पीठ पर कोडे मार-मार कर बेतहाशा दौडाया जा रहा है।

यह तो हुई परोक्षत: आर्थिक दुष्काल की ओर भीषण गति से क़दम उठाये जाने की बात किन्तु हम जिस सांस्कृतिक, भावनात्मक, नैतिक, सामाजिक, और धार्मिक दुर्भिक्ष की ओर भयानक रफ्तार से बढ रहे हैं, उसकी क्षतिपूर्ति शायद ही कभी हो। तय है कि इक्कीसवी सदी के आरम्भ होते, न होते हम एक भयकर हिसक/खूनी दौर से गुजरने लगेगे; अत: इससे पहले या तो हमे हिसा की निरर्थकता का बोध होना चाहिये या फिर सर्वनाश की दहकती भट्टी मे कूद पडने के लिए कमर कस लेनी चाहिये। तात्कालिकताओ से निबटने वाली राजनीति, सुनिश्चित है, देश की सनातन समस्याओ का कोई हल कभी निकाल नही पायेगी।

प्रस्तुत पुस्तिका मे मेरे जो लेख संकलित/संपादित किये गये है, इन सबका एक ही स्वर है कि अहिसा हमारी जननी है, जो हमें वात्सल्य, स्नेह, भ्रातृत्व, करुणा, परस्पर-विश्वास, शान्ति, सुख, और समृद्धि प्रदान कर सकती है। प्रश्न है- क्या हिसा ऐसा सब कर सकती है ? ख़याल रहे अहिसा शत-प्रतिशत सृजनधर्मा है, हिसा सौ फीसदी विनाशधर्मा। असल मे हमे सही चुनना है कि हम निर्माण की ओर जाना चाहते है अथवा विनाश की ओर। वस्तुत हमे अपनी पूरी ताकत से अहिंसा की शक्ति को समृद्ध और हिंसा को हर मोर्चे पर परास्त करना चाहिये।

३० अगस्त १९९३

—नेमीचन्द जैन,
संपादक 'तीर्थंकर'/ 'शाकाहार-क्रान्ति'

अहिंसा है विश्व की माता

- ☐ जिसका हृदय करुणा से अभिषिक्त हुआ है, विज्ञान/विवेक से सुसंस्कृत है, और जो इन्द्रिय-विषयो मे मूर्च्छा-रहित हुआ है, उसके सारे अभीष्ट स्वत सिद्ध समझो।

- ☐ जिसका अन्त करण प्राणियो के प्रति तलवार की धार की भाँति निर्दय है, दया से रहित है, उसका तपश्चरण और स्वाध्याय केवल क्लेश का ही कारण होता है। प्राणिदया बिना दोनो ही निरर्थक हैं।

- ☐ जिस मनुष्य ने स्नेह, भ्रान्ति, अथवा भय के कारण हिसा का अनुमोदन/समर्थन किया है उसने अपने आप को अनजाने मे विपदा-रूपी समुद्र मे फेक दिया है, जिसे पार करने का कोई उपाय नही है।

- ☐ अहिसा जगज्जननी-विश्व की माता है, अहिसा आनन्द का सर्वोपरि मार्ग है, अहिसा उत्तम गति है, और अहिसा ही अविनश्वर/शाश्वत लक्ष्मी है।

- ☐ अहिसा व्यसनो को-सब प्रकार की विपत्तियो को-नष्ट करके प्राणियो का कल्याण करती है।

- ☐ अहिंसा को तप, ज्ञान, सयम, ध्यान, दान आदि क्रियाओ की तथा सत्य, शील, और व्रत की जननी माना गया है। जिस प्रकार माता अपनी संतान को पुष्ट करती है, उसी प्रकार अहिसा तप, ज्ञान, सयम आदि को पुष्ट करती है। अहिसा के बिना सब कुछ व्यर्थ है।

- ☐ जो अपने और दूसरे के सुख-दु ख, हिताहित का विचार न करके प्राणियो की हिसा करता है, वह मनुष्य के रूप मे पिशाच है।

- ☐ अहिसा सब धर्मों का सार है, सब व्रतो में श्रेष्ठतम है।

- ☐ सही मार्ग अहिसा है, जिसमे छोटे-से-छोटे जीव की रक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है।

क्रम

अहिंसा : सर्वश्रेष्ठ आविष्कार

जैनधर्म की अहिसा गहरी चीज है, उसे आत्यन्तिक कह कर टाला नही जा सकता। पानी छानकर पीना, रात को भोजन न करना इत्यादि करुणा के रूपान्तर है। अहिंसा सिद्धान्त है, करुणा व्यवहार, अहिसा सुरंग है, करुणा भीतर से अबाध फूट पडने वाली रसधार। जैनधर्म अहिसा-प्रधान करुणामूलक धर्म है। इस तरह अहिसा और करुणा एक ही मुद्रा के दो पक्ष है। यह अहिसा जैनधर्म की नीव है, जीवन की नीव है, जन-जीवन की आधारशिला है। यह मनुष्य की अब तक की सास्कृतिक कमाई है, उसकी बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार है।

जैनधर्म का सारा जोर अप्रमत्तता पर है। जो अप्रमत्त है, उसके द्वारा हुई स्थूल हिसा भी अहिसा की श्रेणी मे दाखिल होगी। यह प्रमाद क्या है ? जीवन की श्रेष्ठ धारणाओ के प्रति अनुत्साह प्रमाद है। जो सम्यक्त्व है, पालनीय है, उसके प्रति अनुत्साह या उदासीनता प्रमाद है।

अप्रमत्त अर्थात् सजग, प्रबुद्ध, चौकस, सतर्क होना धार्मिक होना है। प्रमादी को धार्मिक कहना धर्म की धारणा को कलुषित करना है। प्रमाद के योग से दूसरे के प्राण दुखेंगे तो वह हिसा होगी , अप्रमत्त यदि कुछ हुआ है तो वह हिसा नही होगी।

अहिसा अन्तर्मुख है। वह भीतर का आकार है। क्रिया की अपेक्षा क्रिया के भीतरी आकार मे उसकी स्थिति है। द्रव्य हिसा या दीख पड़ने वाली हिसा, भीतर बैठी हिसा का ही फलन या प्रतिरूप है। असली दुश्मन भीतर है, बाहर तो उसकी छाया-मात्र है। हमारी असली लड़ाई जो भीतर है, उससे है। इसलिए तीर्थंकरों का ध्यान इस स्रोत को सुखाने के ओर गया है। जैनधर्म मन मे स्थापित इसी हिसा को निकाल फेकने पर जोर देता है। अंकुर गया, फल गया , ना बाँस, ना बाँसुरिया।

अहिसा की जैन धारणा सूक्ष्म है, गहरी है। शोषण, दमन, दोहन, दूसरो के अवसरो की छीन-झपट , सचय, कालाबाजारी, अपनी श्रेष्ठता का मद और आतंक, हुकूमत का रौब, उपेक्षा इत्यादि हिसा की ही आकृतियाँ है। जैनधर्म ने अहिसा के सदर्भ मे इनकी भी चर्चा की है

जब अहिसा का यह प्रत्यय चित्त पर पूरी तरह आस्फालित होता है, तो वह महाव्रत है , किन्तु जब वह चित्त पर या जीवन मे उसके आंशिक रूप मे व्याप्त होता है, तो वह अणुव्रत कहलाता है।

अहिंसा : जैनाचार की जननी

व्रत पॉच है-अहिसा, सत्य, अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह। हिंसा मे प्रमाद की भूमिका बडी है। प्रमाद असावधानी से या जानबूझ कर अविहित काम करने की वृत्ति की सज्ञा है। जैनाचार मे सारा खेल भावना यानी मंशा का है। हिंसा सिर्फ हनन नही है, हनन-का-संकल्प, या विचार भी हिसा है। मछुहारा मछली न भी पकडे, सारे दिन जाल विछाये खडा रहे तो भी उसका यह आचरण हिंसा है; किन्तु एक शल्य-चिकित्सक (सर्जन) के ऑपरेशन (चीरफाड) करते समय यदि रोगी का देहान्त भी होता है तो उसे हिसा नही माना जाता। मछुहारा मारना चाहता है, किन्तु मार नही पा रहा है , सर्जन जीवित रखना चाहता है, किन्तु जीवित नहीं रख पा रहा है- इन दोनो ही स्थितियों में भावना का अन्तर है। यह भावना ही हिसा की तीव्रता का निर्धारण करती है।

हिंसा किसी हथियार से ही होती है, ऐसा नही है। वोल कर, सोच कर, चलने-फिरने की असावधानी, वस्तुओ या उपकरणों के उठाने-रखने, अनदीखा भोजन करने/ग्रहण करने में भी हिसा होती है। ध्यान रहे . जहाँ-जहाँ प्रमाद है, वहाँ-वहाँ हिंसा है । एक मुनि/महाव्रती तो हिंसा से स्वयं को लगभग सौ शत-प्रतिशत बचाता है; किन्तु एक गृहस्थ उसका लगातार न्यूनीकरण (मिनीमाइजेशन) करता है। वह अनिवार्य होने पर ही उस रास्ते पर अपना पाँव रखता है।

अहिसा जैनधर्म का निचोड है। सार है। नवनीत है। वह न हो, तो जैनाचार्य अर्थहीन है। अहिसा सिरमौर है जैन आचार-धर्म की। पण्डित टोडरमलजी ने श्रावकाचार मे 'व्रत प्रतिमा' का जो वर्णन दिया है, वह आँख उघाडनेवाला है। उसमे उन्होंने अहिसा-व्रत के अतिचारो/अनाचारों का विस्तृत वर्णन किया है। पता नही जैनों को जैनत्व से स्खलित होने/निरन्तर होते जाने का अवसर कैसे मिल गया ? अहिसा जैन जीवन-पद्धति की प्राण है। वही सर्वस्व है। जैनो का ऐसा कोई काम नहीं हो सकता, जहाँ वह अनुपस्थित हो।

अहिंसा सर्वोपरि है। वह शीर्षस्थ है। अहिसा के अभाव मे जैनाचार एक पग भी आगे नही बढ सकता। अहिंसा का संबन्ध किसी बाहरी मारकाट से नही है, वह मनुष्य के भीतर उठने वाले संकल्प से संबन्धित है। ऐसा व्यक्ति जो प्रत्यक्ष मे तो कोई मारकाट नहीं कर रहा है, किन्तु सोच रहा है कि शाम तक सैकड़ो का खून कर डालूँगा-हजारो का कत्ल करूँगा- इस तरह के खूनी हथियार बनाऊँगा, वह अहिसा का पालन नही कर रहा है। वह पूरी तरह हिसा-का-भागी है। जो वचन से किसी दूसरे को दुःख पहुँचा रहा है, वह भी प्रत्यक्ष में कोई हिंसा न करते हुए भी भीतर-भीतर हिंसा का हिस्सेदार है। अहिंसा सूक्ष्म रूप में मनुष्य के संकल्प में निवास करती है। ऐसी ही

सूक्ष्म अहिसा जैनाचार का मूलाधार बनती है, बनी हुई है।

अहिसा साधक को सजग और सावधान रखनेवाली चित्तवृत्ति है। वह एक ऐसा व्रत है, जिसके चारों ओर है सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और असंग्रह। वस्तुत अहिसा इन चारो की जननी है। ये माँ-वेटे एक पल को भी एक-दूसरे को नही छोडते, इसीलिए अहिसा के परिपालन मे शेष चारो का पालन आपोआप संभव होता है। इसी अहिसा के गर्भ मे-से उत्पन्न होता है अनेकान्त। अन्य शब्दो मे अनेकान्त वैचारिक अहिसा का नाम है।

□

अहिसा भारतीय जीवन की मुख्य आधार-भूमि है।
जैनाचार की वह जननी है।
उसके परिपालन मे सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का परिपालन
स्वयमेव सन्निहित है।
यह असभव ही है कि कोई अहिसा के प्रति सावधान/अप्रमत रहे
और झूठ बोले, चोरी करे, धन-दौलत बटोरे या असयत जीवन
विताये। अहिसा की कसौटी है-किसी को तनिक भी
पीडा न पहुँचे। किसी का न मन दुखे, न तन-
किसी भी प्रकार की कोई क्षति किसी को न हो,
यदि मै अहिसक हूँ, मेरा जीवन अहिसा की बुनियाद
पर खड़ा है तो मेरे द्वारा ऐसा कुछ भी न हो जिससे दूसरे
को कष्ट पहुँचे, कोई निराश हो, किसी की अवनति हो,
किसी को भीतर/बाहर कोई काँटा चुभे, अर्थात्
इसका सीधा मतलब यह हुआ कि मुझे ऐसा कुछ करना है
जिससे किसी का तनिक भी असम्मान न हो,
सबका सम्मान, सबकी इज्जत, मेरा सम्मान, मेरी इज्जत हो
एक सार्वभौम समत्व का अनुभव ही अहिसा है।
अहिसा की बारीकियो पर विचार करते-करते हमने उसका
एक आचार-शास्त्र या उसकी एक लाइफस्टाइल/जीवन-शैली
ही रच ली। अहिसक जीवन-पद्धति के कई पहलू है।
हमारा सोचना तो अहिसक हो ही, हमारे शब्द, हमारा व्यवहार भी
अहिसामूलक हो। हम जो बोले, या हम जो/जब करे
उस सबमे प्राणिमात्र के प्रति एक व्यापक शुभकामना हो
अशुभ तो हम किसी का कभी सोचे ही नही।

ये विसंगतियाँ

हमने अहिसा को एक सम्मोहक नारे के रूप में तो गगनचुम्बी किया है, किन्तु मैदान मे हम बुरी तरह पराजित हुए है। हमने विदेशों में अहिंसा-का-ध्वज फहराने की कोशिश की है; किन्तु हम अपने ही घर में बाजी हार गये है। हमारी आजीविकाओ और रोजमर्रा की जिन्दगी मे-से अहिंसा लगभग गैर हाजिर हुई है। हम मे-से कइयों ने ऐसी आजीविकाएँ अगीकार कर ली है, जिनकी अहिसा से कोई संगति नही है, किन्तु नारा तो हम 'अहिसा हमारा परम धर्म है' का ही बुलन्द कर रहे हैं। इस असंगति ने आम जनता मे जैनो और जैनधर्म दोनो के प्रति अनास्था को जन्म दिया है। लगता है, हम अब सिर्फ शब्द रह गये है अर्थ अथवा अर्थवत्ता से हमारा कोई सरोकार नही रहा है। वस्तुत जब तक हम अहिसा को अपने खानपान/रहन-सहन-व्यक्ति के, समाज के- में प्रकट नही करेगे, तब तक उल्लेखनीय कुछ हो जायेगा इसमे संदेह है। इसके पूर्व कि हम इक्कीसवी सदी में पॉव रखे अपनी स्थिति की खुली और बेलाग समीक्षा करनी चाहिये।

आज आप किसी भी जैन घर मे जाइये, आपको हिसा के तमाम साधन-प्रसाधन मिल जाएँगे। यदि यह नजारा आपको देखना हो तो जैनो के 'बाथरूमों' का मुआयना कीजिये- यहाँ आपको यह सब मिल जाएगा जिसकी आप कभी कल्पना भी नही कर सकते। हिसा ने हमारे तन-मन को सिर-से-पाँव तक ढँक लिया है। जूँ, खटमल, मच्छर, काक्रोच, वाश-बैसिन, टॉयलेट आदि सब जगह हम हिसा का जो नंगा नाच देखते है, वह एक दिन की स्वीकृति नही है-उसकी राम कहानी सुदीर्घ है। यह सब अब आवश्यक हो गया है। घर, स्कूल, कॉलेज, होस्टल, अस्पताल, होटल, रेस्त्रॉ इत्यादि तमाम हिसा के अड्डे बन गये है। जैन जन अब इनसे बच पायें यह सभव ही नही रहा है, तथापि अभी वक्त है कि हम कुछ कर सकते है। इच्छा और प्रयत्न चाहिये, राह निकल सकती है।

आप वच सकते है; किन्तु आपकी युवा, किशोर, और शिशु पीढी को कैसे बचायेगे ? आपने उनकी जन्मघुटी मे जैनाचार की सार्थकताओ को मिश्रित ही नही किया। उन्हे शुरू से यह वताया ही नही कि करुणा और अहिंसा का भी कोई मतलब है और मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने के लिए धर्म एक वहुत बडी सहायता है। आप तो सिर्फ अपने बेटे या बेटी को एक स्टेटस-भ्रान्त स्टेटस-देने के चक्कर मे उसे अहिंसा और करुणा से लगातार दूर फेकते रहे है। आपने उसके लिए फीस चुका कर, जगह-जगह दाम चुका कर, टैक्स चुका कर हिंसा-क्रूरता खरीदी है और उसकी मानसिकता को अस्वस्थ वनाया है- ऐसी स्थिति में वस्तुत अव हमारे सामने कोई राह वची ही नहीं है।

फिर भी अभी वक्त है कि हम संपूर्ण स्थिति का खुला, निर्भीक, अनासक्त जायजा ले और वगैर किमी लाग-लपेट के कुछ कठोर निर्णय ले ताकि जैन व्यक्ति को (समाज को वाद मे) चौक्म/नियमित/ संस्कारित किया जा सके।

सृजनपरक अहिंसा

इन दिनो प्राय लोगो को यह कहते सुना जाता है कि समाज की हालत कुछ इतनी बदतर है, और अहिसा के प्रति आम लोगो मे इतनी तीखी अनास्था है कि अब हिसा और खून-खराबे के अलावा कोई विकल्प नहीं रह गया है। आने वाली क्रान्ति यदि होती है तो वह रक्तहीन नही होगी, उसमे भीषण रक्तपात और ध्वस होगा। यह कथन इतना दायित्वहीन और अविवेकपूर्ण है कि इस पर कोई भी आदमी अचानक दस्तखत नही कर सकता, क्योकि जो लोग इसे कह रहे है उन्हे न तो हिसा का सीधा तजुर्बा है और न ही अहिसा की ताकत का कोई अनुमान। वे कहने को कह रहे है, अधिकाश शायद इसलिए कि वे जो सुन रहे है, उसे प्रतिध्वनित करना उनके लिए ज़रूरी है। अधिकाश आदमी आज 'ईको पॉइट' की तरह निर्जीव और निष्क्रिय है, जो भी कहीं से आता या होता है वे मात्र उसके प्रतिध्वनन करते है। ये लोग यह शायद नही जानते कि कहने और होने में आसमान-पाताल-सा फासला है। कहना क्रिया है, होना प्रक्रिया। कहना आसान है, होना आसान नही है, कहना हाथ मे है, होना एक लम्बी प्रक्रिया होने के कारण तुरन्त नियंत्रण से बाहर है। दूसरे, कहना लगभग वैयक्तिक कार्य है, किन्तु होने की क्रिया वैयक्तिक नहीं है। होने के पीछे प्रकृति का पूरा शास्त्र बैठा है, जिसे समझते-समझते भी अभी हम समझ नही पाये है।

इस संदर्भ मे हिसा को महत्त्व दे कर मनुष्य अब तक जो कुछ हुआ है उस पर पानी फेर रहा है, क्योकि पशुता और मनुष्यता के बीच जो फर्क करने वाली लकीर है यह मूलत अहिसा ही है। पशु हिसा से बँधा होता है, मनुष्य अहिसा मे उन्मुक्त, इसके माध्यम से वह जीवन के सर्वोच्च मूल्यो तक पहुँचा है और निरतर पहुँचता जाता है। कृषि से उद्योग तक का उसका विकास अहिसा की ही परिणति है।

माना, हिसा आदिम सस्कार है, किन्तु क्या आज हम आदिम सस्कृति तक लौटना पसन्द कर सकते है ? लाचारी बात अलग है अन्यथा उस रास्ते पाँव रखना अब संभव नहीं है। अहिसा एक आध्यात्मिक सस्कार है। हिसा शरीर-बल है, अहिसा आत्मबल, हिसा के पीछे कोरा आवेग है और अहिसा के पीछे सृजनपरक चिन्तन। हिसा "आयी और गयी" स्थिति है अहिसा एक चिरन्तन दशा है जो मनुष्य को विकासोन्मुख और सक्रिय रखती है। हिंसा के बाद शैथिल्य अनिवार्य है, अहिसा मे शाश्वत स्फूर्ति होगी ही, इसलिए आज जहाँ भी हिंसा आई है, किसी भी शक्ल मे, वहाँ आमदी रुक गया है। और जहाँ अहिसा का पुन्य पाँव पड़ा है वहाँ [illegible] से सृजन की खेती लहलहायी है। [illegible] होती [illegible] ओ/

आज समूची दुनिया मे घटनाएँ जिस तर्ज और तेजी मे घटित है और अच्छाई [illegible] दुर्घटना का शिकार हुई है, उससे आदमी मे हिसा के प्रति [illegible] हुई है और अहिंसा के [illegible] एक उदासीनता ने जन्म लिया है। अहिसा के प्रति [illegible] मन का [illegible]

विश्वास खण्डित हुआ है। वह सोचने लगा है कि जिसके पास ताकत है, उसके पास सुख है, जो नि:शक्त है वह दूसरो की मोहताजगी पर छूटा हुआ है। वास्तविकता यह है कि आज अहिंसक शक्तियाँ हिंसक ताकतों पर निर्भर हो गयी हैं , और उनकी सृजनपरकता को लकवा मार गया है। आदमी का आदमीयत पर से विश्वास उठ गया है और उसे भ्रम हो गया है कि सुख की ओर हिंसा, सिर्फ हिंसा, का ही रास्ता जाता है; किन्तु यदि हम गहराई मे उतर कर देखे तो हिंसा की कोई ताकत है ही नही, अहिंसा ही शक्तिशाली है। जिस तरह किसी आदमी को कुछ समय के लिए सिंहासन मिल जाता है और वह सत्ता के उन्माद में आपे से बाहर हो जाता है और मनमानी कर गुजरता है, वही हाल आज हिंसा का हुआ है। उसे कुछ समय के लिए सिंहासन मिल गया है ; चारो ओर जो गड़बडियाँ दिखायी दे रही है, यह मनुष्य की अहिंसा पर से डिगी आस्था का ही दुष्परिणाम है, जैसे ही उसे अपनी भूल का भान होगा वह अपनी इस दुर्भाग्यपूर्ण यात्रा से लौटेगा और सही रास्ते पर आयेगा।

यही सब एक स्तर पर सामाजिक भी हो सकता है। जो हिंसा मनुष्य के भीतर शक्ल लेती है, वही समाज मे अधिक भीषण आकार ग्रहण कर लेती है। जब दो आदमी लडते हैं और दो मुल्क लडते है तो दोनो लडाइयो की मूल वृत्ति मे कोई फर्क नही होता, इसलिए यदि अहिंसा को किंचित् सृजनपरक बनाया जाए तो यह आदमी को भीतर से उपजाऊ बना सकती है; फिर शायद ही कोई कारण रह जाएगा जो उसे बाह्य हिंसा के लिए प्रेरित करेगा। असल में बाह्य आभ्यन्तर का प्रतिबिम्ब-मात्र है, जिसे आप भीतर तलाशते है, कुछ ही देर बाद उसकी तलाश बाहर शुरू हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है कि भीतर की तलाश मे आदमी का प्रहार-केन्द्र वह स्वयं होता है और बाहर की तलाश में कोई अन्य, और फिर जब दो तलाशे एक-सी होती है, तो जैसा कि स्वाभाविक है, टकराहट होती है और हिंसा खुल कर नाचने लगती है। हिंसा और अहिंसा का मूल दर्शन यही है कि अहिंसा आदमी का विकास है और हिंसा आरम्भ, फिर यह जरूरी नहीं है कि सारे लोग विकास की एक ही प्रक्रिया को झेलते जाएँ, कुछ लोग पिछड जाते है, कुछ आगे निकल जाते हैं, किसी भी खेत के सारे पौधे एक-जैसे कहाँ होते है, किसी भी कक्षा के सारे-के-सारे विद्यार्थी एक ही श्रेणी में उत्तीर्ण कहाँ हो पाते हैं; इसीलिए अहिंसा की सृजनपरकता को जिस तरह आगे आना चाहिये था, नही आ सकी है, किन्तु आज मौका है कि उसे आगे आना चाहिये और आदमी को सही रास्ते सुस्थिर करना चाहिये।

अन्ततः जब हिंसा इतनी भयानक शक्ल मे, यानी शोषण-दमन की शक्ल मे, सामने है तो इसके मुकावले का उपाय क्या है ? ऐसा लगता है कि धर्म को इस क्षेत्र में पहल करनी चाहिये और संप्रदाय के घोंघे से निकल कर सृजनपरकता की नूतन भूमिका मे सक्रिय हो जाना चाहिये। उसे वर्तमान संदर्भों में पूरी स्फूर्ति के साथ प्रवेश कर मनुष्य को मानवता से अभिषिक्त करना चाहिये। यह धर्म ही कर सकता है, विज्ञान के पाँव थक चुके हैं।

धार्मिक हिंसा

इधर के दशको मे संप्रदाय/पथ के नाम से हिसा ने अपना जो स्वतन्त्र शास्त्र बना लिया है, वह है धार्मिक हिसा। धर्म-तथाकथित-की रक्षा के लिए की गयी हिसा हिसा नही है। पता नही धर्म के लिए भी किसी हिसा की जरूरत है, क्यो है ? हमारी समझ मे 'धर्म' और 'हिसा' दोनो शब्दो का एक साथ इस्तेमाल सभव/उचित नहीं है, किन्तु जो सामने है उससे आँखे कैसे मूँदी जाएँ? तीर्थों के ले कर अहर्निश मुकदमेबाजी और विनाश-लीला हो रही है। पुलिस और धर्म, भला इनका भी कोई रिश्ता है, किन्तु आज धार्मिक समारोहो/जुलूसो मे पुलिस का होना अपरिहार्य माना जाता है। जैसे विवाह मे लाउडस्पीकर। हम इसे गिरावट कहे या उत्थान-बडा असमजस है।

जो तथ्य बीसवी सदी मे भी सामने आये है उनसे यह सिद्ध हुआ है कि मनुष्य के भीतर कोई मनुष्य है, जो शरीर नही है। यह कोई अनुमान/कल्पना नही है, वरन् अनुभूत तथ्य है।

गहरे मे जाएँ तो हम पायेगे कि जैसे-जैसे मनुष्य उद्योग से टेक्नोलॉजी की ओर आया है, उसकी पार्थिवता बढी है और भीतरी शक्तियो पर से उसका विश्वास उठा है। व्यक्ति और भीड मे फर्क है। व्यक्ति सूक्ष्मताओ मे जा सकता है, भीड न तो सूक्ष्मताओ मे जा सकती है और न ही उसकी ओर से सूक्ष्मताएँ विकसित हो सकती है। भीड़ की जो बनावट है वह स्थूल है अत उसमे स्थूलताएँ ही जुड़ सकती है, सूक्ष्मताओ से उसका कोई रिश्ता बहुत कोशिश पर भी बनता नहीं है, दूसरे शब्दो मे कहे तो भीड़/समुदाय स्थूलताओ का महायोग ही है, इसीलिए भीड़ को नेतृत्व दिया जा सकता है, उसका नेतृत्व स्वीकार नही किया जा सकता। धर्म भीड़ से सबन्धित नही है, खीच-तान कर अक्सर उसे भीड से संबद्ध किया जाता है, वस्तुत वह व्यक्ति से जुड़ा हुआ बहुत गहरा और सवेदनशील अस्तित्व है। व्यक्ति मे हिसा के लिए भी स्थान हो सकता है, किन्तु तब वह काफी सीमित होता है, दूसरी ओर, हिंसा भीड से जुड कर विस्फोटक और सहारक हो उठती है। धर्म जिस क्षण से भीड से जुडा, उसी क्षण से वह हिसा से जुड़ गया-मंदिर, मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारे धर्म के सामुदायिक रूपान्तर है। हिसा का स्वभाव है कि वह भेद/वैषम्य मे अस्तित्व ग्रहण करती है, अहिसा का सबन्ध-दूसरी ओर-समत्व से है। आज तो भीडतन्त्र की दृष्टिसे हिसा, सामाजिक हिसा, धार्मिक हिसा। हिसा को इस तरह वैध ठहराना, नैतिक कहना, कहाँ तक उचित है ?

हिसा जो उत्तरोत्तर वैध हुई जाती है, उसका बुनियादी कारण है यन्त्र-सभ्यता का तेज गति से विस्तार। जैसे-जैसे हम यन्त्र पर निर्भर होते जाते है, वैसे-वैसे हमारी सवेदनशीलता क्षीण होती जाती है। आज हम जो खा, पहिन, देख रहे है वह सब आत्मीयता से रीता कुछ है। वस्तुओ/व्यक्तियो पर से मानस-स्पर्श लगातार हटता या कम होता जा रहा है, मसलन, हम जिस वस्त्र का इस्तेमाल करते है, वह खेत से मण्डी/उपभोक्ता तक अब व्यक्तियो द्वारा नही आता अपितु उसकी

अधिकांश उत्पादन-प्रक्रिया मशीनों द्वारा संपन्न होती है। वह 'तैयार' हमारे पास आता है, उसकी तैयारी मे हमारा या तो बिलकुल ही हाथ नही होता या फिर कम-से-कम होता है। हमारी विनम्र मान्यता है कि जैसे-जैसे मनुष्य का रोजमर्रा प्रयुक्त वस्तुओ से घरोपा घटता जाएगा, उसके जीवन मे हिसकता बढती जाएगी। अपनो को मार/नष्ट करने मे तो कोई झिझक हो सकती है, किन्तु जब कोई अपना रहा ही नही है तब फिर उसके नष्ट करने या होने के दुख-दरद का कोई प्रश्न ही नहीं है। आज बसे जलायी जाती है, रेल के डिब्बे नष्ट कर दिये जाते है, इमारतें जला दी जाती है, सरकारी दफ्तरो मे तोडफोड की जाती है, किन्तु किसी को कोई पीडा नही है, क्यो ? मात्र इसलिए, कि इन सब पर से आत्मीयता का जो नरम/सुकुमार स्पर्श था, वह टूट गया है। जब हम इस बेरहमी से अपनेपन को गँवाते जा रहे है, तब फिर हम किसी सामाजिक दायित्व या राष्ट्रीय चरित्र की बात कैसे कर सकते है ?

निर्विवाद है कि अपनत्व मे-से संवेदनशीलता और उदात्तता आती है और चूँकि हम टेक्नोलाजी के युग मे जी रहे हैं और हर वस्तु को वस्तुनिष्ठ देखते है, अत आत्मीयता क्षीण होती जा रही है अत: ऐसे मे यह आशा करना कि हिसाएँ इस या उस नाम से नहीं होगी, व्यर्थ है। मानिये, ज्यो-ज्यो हमारे संबन्ध अपनेपन से खाली/रीते होते जाएँगे, कानून का शिकंजा त्यो-त्यो बढता जाएगा और जीवन में औपचारिकता-व्यापारिक किस्म की-पनपती जाएगी, हमारा विकास रुद्ध होता जाएगा।

धर्म और समाज की भूमिकाओ मे जो बुनियादी फर्क है वह यह है कि धर्म व्यक्ति को महत्ता/स्वतन्त्रता प्रदान करता है और समाज समूह को । धर्म का विश्वास है कि व्यक्ति के कायाकल्प से जो क्रान्ति घटित होगी वह चिरस्थायी होगी और भीड जो विद्रोह करेगी उससे वदलाव अवश्य होगा, किन्तु एक तो वह क्षणिक होगा, दूसरे उसका वह रचनात्मक स्वरूप नही होगा, जो व्यक्ति-क्रान्ति से सामने आ सकता है। यन्त्र और टेक्नोलॉजी के इस युग मे यदि हमने धर्म/नीति की भूमिकाओ को अमान्य किया और व्यक्ति की निजता को अस्वीकारते चले गये तो जो हिसकता इसमे से प्रकट होगी वह हमारे विकास को लील जाएगी और हम संवेदनशून्य ताक़तों की तरह खडे रह जाएँगे। हिंसा आज नये-नये सूक्ष्माकारो/नामान्तरो मे सामने आ रही है, किन्तु इस तथ्य को वहुत बारीकी से जाँच लेना चाहिये कि हिंसा, फिर वह चाहे किसी नाम से आये, हिसा ही होगी, उसके अलावा कुछ नही होगा । क्या किसी हिसा को धार्मिक या राजनैतिक या सामाजिक या नैतिक या मानवीय कह देने से वह हिंसा नही रहेगी ? वस्तुत. आज हम एक ऐसे भयानक मोड पर खडे है, जहाँ 'शब्द' हथियार वन गया है और वह उन सारे हथियारो मे अधिक विस्फोटक/प्रहारक हुआ है, जो विज्ञान की देन है। हमे चाहिये कि धर्म के माध्यम से हम मनुष्य को प्रथम और 'भापा/शव्द' को द्वितीय वनाये। हमारा विश्वास है कि यदि हम किसी भाँति यह कर पाये तो मनुष्य के साथ/अव तक के मानव-विकास के साथ/यह वहुत वडा उपकार होगा।

अहिंसा के लिए हिंसा

जैनधर्म का सपूर्ण ढाँचा अहिसा की खुर्दबीनी विवेचना पर टिका हुआ है। जैनाचार्यों ने अहिसा का सूक्ष्मतम, विस्तृत, और गहन विश्लेषण किया है। उन्होने हिसा-अहिसा का ऐसा कोई पहलू नही छोडा, जिसकी चर्चा इस या उस ग्रन्थ मे न हुई हो। सच पूछा जाए तो अहिसा जैनाचार की रीढ, या बुनियाद है। व्रतो की जो चर्चा महा/अणु के रूप मे हुई, उसमे अहिसा सिरमौर है। वह जैनधर्म की जिसके बगैर उसका जिन्दा रहना सभव नही है।

महात्मा गाँधी ने अहिसा के जरिये भारत को स्वतन्त्र कराया। कहा जाता है वे जैनधर्म की अहिसक सरचना से काफी प्रभावित थे। अपनी उखडती छबि को जमाये रखने के लिए, महात्मा गाँधी द्वारा दिये गये इस महत्त्व की जैन जन काफी चर्चा करते है और प्राय गाँधीजी, या सत विनोबा के जैनधर्म से प्रभावित होने के तथ्य का नगाडा पीटते है, किन्तु अजीब बात है कि जिस अहिसा को उन्होंने अपने झण्डे पर 'परम धर्म' के रूप मे टाँक रखा है, इन दिनो वे उसी की जम कर धज्जियाँ बिखेर रहे है और तरस खा रहे है कि ये लोग जो सदियो से अपनी साख बनाये हुए थे, आज अपने ही पाँव पर कुल्हाडी मार रहे हैं।

वैसे तो पूरा मुल्क ही हिसा के एक भयानक दौर से गुजर रहा है और जहाँ-तहाँ इसके या उसके मारे जाने की खबरे सुन कर हम इस तरह कुछ वने रह रहे है जैसे कुछ हुआ ही नही। हिसा के आज कई प्रकार विकसित हो गये है। इनमे-से कुछ है, चुनावी हिसा, राजनीतिक हिंसा, औद्योगिक हिसा, शैक्षणिक हिसा, साम्प्रदायिक हिसा और अब धार्मिक हिसा। इन तमाम हिसाओ की इबारते भी अब सध गयी है और इनके होने पर अव कही/कोई चौकता नही है। जिस तरह पहले कभी जब राजे-महाराजे सेठ-सामन्त पास से गुजरते थे तव लगता था जैसे कुछ घटित हुआ है, किन्तु अब सब कुछ इतना सामान्य हो गया है कि किसी की अवाही-जवाही का कोई खास असर मन पर नही होता। जिस तरह यह हुआ है, ठीक उसी तरह हमारा मन भी हिसा के प्रति निपट संवेदन-शून्य हो गया है। दु खद मात्र यह है कि एक ऐसी प्रामाणिक/विश्वसनीय कौम जो जीवदया, करुणा, और अहिसा के लिए ख्यातलब्ध थी, आज स्वय एक-दूसरे के खून की प्यासी वन गयी है (बनती जा रही है)। इस कौम के भीतरी ढाँचे मे क्या वदलाव आया है, इसकी गहन तफ़तीश जरूर होनी चाहिये।

जैनधर्म मे हिसा की जो मर्मस्पर्शी विवेचना हुई है, उसमे उसके अतिचारो-अनाचारो पर भी विचार हुआ है। ऐसा करते हुए अहिसा की शुभ्र चादर पर पडने वाले एक काले धव्वे का उल्लेख आचार्यों ने किया है। यह है हिसानन्द। जव लोग अहिसा-की-वुनियाद छोड कर हिसा मे रुचि लेने लगते है, सिर्फ रुचि ही नहीं उसे करने मे आह्लाद-उल्लास मानने लगते है, तव मनुष्य की उस/

वैसी वृत्ति को 'हिसानन्दी' वृत्ति कहा गया है। आज जैन समाज के कुछ वर्ग-उपवर्ग अहिसा की सर्वोच्च व्याख्या करते हुए भी इसी दौर से गुजर रहे है।

हम अनेकान्त/स्याद्वाद का धुआँधार प्रचार करते आये हैं और कहते आये है कि यदि दुनिया मे शान्ति कायम हो सकती है तो यही एकमात्र ऐसी चिन्तन-प्रक्रिया है जो हमारी मदद कर सकती है। वस्तुत· जो कौम अपने ही सिद्धान्त का आश्रय ले कर अपने भीतर निर्विघ्नता और शान्ति कायम नही कर पा रही है, उसे इस तरह की मिथ्या गर्वोक्तियो से बचना चाहिये।

जैनों की एक सामाजिक/धार्मिक बनावट है, जिसे चतु·संघ के नाम से जाना जाता है। श्रावक-श्राविका/साधु-साध्वी मिल कर इस चतु संघ की रचना करते है, भगवान् महावीर का नाम ले कर अहिसा का जय-जयकार करते हैं, नयी-नयी जायदादें बना कर उन पर जूझते हुए हम आज क्या नही कर रहे है ? तीर्थों के झगडो को ही यदि हम ले तो वहाँ भी हमनें अपरिग्रह को बाला-ए-ताक रख कर झगड़ो को बरकरार रक्खा है।

क्या हमने कभी इस तथ्य का पता लगाने की कोशिश की है कि इस अहिंसक कौम मे यह 'हिसक शूरवीरता' कहाँ से और कैसे आयी ? जो कौम एक चीटी को मारने में झिझक महसूस करती रही है और जो पानी इसलिए छान कर पीती रही है कि उसमे मौजूद जीवाणुओ की हिसा न हो, वह किसी का सिर, किसी की पसलियाँ, किसी के कान फोड, तोड या काट रही है। अजीब पसोपेश है !

बात यह है कि हम कहने को जैन है, होने को जैन नही है। हम उन तमाम उसूलों को भूल चुके है, जिनसे जैनत्व की रचना होती है। आश्चर्य तो यह है कि जैनधर्म के मोटे-झोटे उसूलो की जानकारी भी आज इस कौम के लोगो को नही है। जहाँ भी हम नजर डालते है वहाँ या तो कोई इमारत बनती दिखायी देती है, या फिर किसी पुरातात्त्विक अवशेष की तीमारदारी । अधिक हुआ तो हम कर्मकाण्डी ढाँचे को संस्कार के मिथ्या नाम से पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करने लगते है। यह जानते हुए भी कि धर्म की मौलिक जानकारी के बिना लोगो को धार्मिक बनाने का मतलब होता है उन्हे धर्मान्ध बनाना, हम वैसा लगातार कर रहे है। आज हम अपनी कौम को धर्मान्ध तो बना रहे है, किन्तु धर्म के प्रति असली जागरूकता उसमे लाने मे सफल नही हुए है कि हमारे बुनियादी उमूल क्या है (जैन बच्चो को 'आना मेरी जान संडे के संडे' और 'संडे हो या मंडे रोज खाओ अण्डे' गाते सुना जा सकता है)। क्या हम मॉसाहार के चुम्बकीय दैत्य से, अपने बुनियादी ढाँचे से हट कर, अपनी रक्षा कर सकेगे ? जब तक हम जैनधर्म के बारे मे उसके अनुयायियो को निरक्षर रखेगे और जड़ को सूखने दे कर सिर्फ पत्तो को सीचेंगे तो इसके जो दुर्भाग्यपूर्ण नतीजे सामने आयेंगे उनसे हमे चौंकना नही चाहिये।

हम यहाँ यह वकालत नही कर रहे है कि मूर्तियो की मरम्मत या हमारे पुरातात्त्विक अवशेषो की रक्षा जरूरी नही है, बल्कि हम यहाँ इस बात पर जोर दे रहे है कि हम यह देखे कि वक्त-के-तकाजे-की नज़र से कौन-सा काम हमे पहले करना चाहिये और कौन-सा बाद मे ? जब तक हम प्राथमिकताएँ तय नही करेंगे, इस तरह की घटनाएँ होती रहेगी और जैनधर्म तथा जैन समाज दोनो के बीच खाई चौडी होती जाएगी। इस 'चौडाई' का असर साधुवर्ग पर भी पडेगीा (शायद पड़ना शुरू हो गया है)।

हमारा ध्यान समाज के उन मुद्दो पर भी नही है जो उत्तरोत्तर चकनाचूर हो रहे है। हिसा का सबमे बडा कारण है हमारे खानपान मे होने वाला वेगवान् परिवर्तन। आज हम वह नही खा रहे है , जो हमारे आचार-धर्म के अनुरूप है वरन् वह खा रहे है जो हमे मिल रहा है और जो हमारे आचार-धर्म के विरुद्ध है और जिसका हमारे स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल असर पडता है, जो तन/मन दोनो के लिए घातक है। हम उन अनिवार्य स्थितियो को लगातार बिसार रहे है, जिन्हे 'मूलगुण' कहा गया है।

यदि समीक्षा करेगे तो पायेगे कि आज जैन मे काम-धन्धे को ले कर कोई विवेक नहीं रहा है। वे वह सब कर रहे है, जो उनके लिए टकसाल सिद्ध हो रहा है- वह कतई नहीं कर रहे है, जिसमे-से आत्मोन्नयन का कोई निर्मल माध्यम खडा होता हो। एक और दुर्भाग्यपूर्ण वृत्ति पनप आयी है- वह यह कि लोग संगोष्ठियो, प्रकाशनो, सस्थाओकी स्थापनाओ, अभिनन्दन-ग्रन्थो से सपादनो/लोकार्पणो, वाचनाओ, पच-कल्याणको आदि के द्वारा असलियत/यथार्थ को टाल रहे है। वे उन कडुवी सचाइयो को जानना ही नही चाहते जो उन्हे लगातार पतन की ओर लिये जा रही है। यदि हमारा यही रुख रहा और हम 'अनेकान्तपरक विवेक' से इस्तीफा दे कर जग जूझते रहे तो निश्चय मानिये जो लोग जैन नही है, किन्तु जिन्हे जैन धर्म और दर्शन की पर्याप्त जानकारी कई मौको पर दी है, हमारी इस दुई/हमारे इस छल को देख कर न तो हम पर भरोसा करेगे और न ही हमे प्रामाणिक मानेगे। वस्तुत हमारी विश्वनीयता खतरे मे है-क्या हम इसकी वापसी की कोई चिन्ता करना चाहेगे ?

अहिंसा पर आधारित आत्मविश्वास

भारत एक ऐसा देश है, जहाँ अहिसा मे आस्था और भरोसा रखने वाले लोग आज भी बहुत बड़ी संख्या मे है। ज्यादातर लोग शान्तिप्रिय है और नाना विपदाएँ/मुश्किले झेल कर भी एक-दूसरे के लिए त्याग और सहयोग के लिए तैयार बने रहते है। वस्तुत. भारतीय सस्कृति का बुनियादी पाठ ही यह है कि 'वैविध्य के होते हुए भी एक होना' सभव है और संभव है शान्तिपूर्ण अनुकरणीय 'सहअस्तित्व', किन्तु विज्ञान ने मनुष्य की वैभव-भूख को इतने खतरनाक हथियारो से लैस कर दिया है कि अब उसके भीतर बैठी आसुरी बर्बर शक्तियाँ दहाडने लगी है। उसक विवेक लगभग लुप्त हो गया है; वह किसी मंगलमय सुखद 'कल' की बात सोच ही नहीं पा रह है। वर्तमान की समीक्षा के लिए उसके पास फुरसत नहीं है।

समस्याएँ और उलझने, संकट और जटिलताएँ हमारे सामने है; किन्तु इन्हे जन्मा किसने है ये सब हमारा फैलाया मकड़जाल है, जिसमे हम खुद उलझ गये हैं इस तरह कुछ कि अब हमा पास ऐसा कोई उपाय नही बच रहा है कि हम इस कुलिट व्यूह से बाहर आये और खुद अपनी तथ अपने साथियो की रक्षा करे। जिस सांस्कृतिक सुकुमार बिन्दु पर हम आ खडे हुए है, यह अत्यन भयावह और फिसलन-से-भरा हुआ है। विचलन-की-काई पर अपने विवेक-के-पॉव जमा हमारे लिए काफी मुश्किल हुआ है। हम क्रमश बिना किसी पूर्वाभास के अनास्था, अविश्वास और अस्थिरता के शिकार हुए है। अस्थिरताएँ हमारे चारो ओर तीव्रतम गति से मॅडरा रही है औ हम भय-संशय के कारण अपने पैर कहीं भी ठीक से रख नही पा रहे है।

आज सबमें बडी जरूरत स्पष्टता और दृढता की है। ये दो ऐसे गुण है जो मनुष्य को, र किसी को भी, संकट से उबार सकते है। अनास्था के कारण न तो हम अपने 'आज' का निष्पक्ष विश्लेषण कर पा रहे है और न ही 'आने वाले कल' का स्वरूप-क्या-हो, उसके लिए हमें क्या करना चाहिये, उस तक पहुँचने की अचूक कुंजियाँ क्या हो इत्यादि की कोई थाह ही ले पा रहे है। पैर टिक ही नही पा रहे है, अत हमारी सारी शक्ति पाँव टिके ऐसी जगह ढूँढने-पाने मे लग रही है। भीतर टूटन इतनी है कि हम कोई स्पष्ट दिशा पाने मे भी लगातार चूक रहे हैं।

लोग आस्था की बात तो बढ-चढ कर करते है; किन्तु उसके बुनियादी आकार को अक्सर भूल रहे है। आस्था का अर्थ क्या है ? वस्तुत आस्था, दृढता से कही सुस्थित होने की अवस्था का नाम है। 'हम है' जव ठीक से हमे इसका ही भान नही रहा है, तब यह बहुत कठिन हुआ है कि हम उस जमीन को पहचाने जहाँ खडे हो कर हमे अपने आने-वाले-कल की संरचना करना है। उसे आकृति देनी है। यह आगामी कल कैसा हो ? इसकी स्पष्ट तस्वीर भी वस्तुत आज हमारे सामने नहीं है। हम भविष्य के 'कंटेट्स' को ठीक से परिभाषित ही नही कर पा रहे है। ज्यादातर

हमारा समय तात्कालिताओ से जूझने-निबटने मे जा रहा है। हम समस्याओ और सवालो की बुनियाद मे दुर्भाग्य से उतर ही नही पा रहे है।

आस्था के लिए चाहिये सघन विश्वास। श्वास और विश्वास दोनो एक ही धातु से बने शब्द है। 'श्वस्' धातु वर्तमानता मे साँस लेती है। उसका दिल 'आज' मे धडकता है। यह है। यह ऐसा ही है। यही प्रामाणिक और पुख्ता है। इस तरह की धारणा जब मन को परिपूर्ण दृढता से पकड़ती है, तब उसे हम विश्वास की सज्ञा देते है। हम 'यह है' और 'यही सब है' इस तरह की दृढता अपने व्यक्तिगत और सामुदायिक चरित्र मे असल मे उत्पन्न ही नही कर पाये है। जब तक हम अपनी आस्था और अपने विश्वास को स्पष्ट नही कर लेगे, तब तक हम अपनी आस्था और अपने विश्वास को स्पष्ट नही कर लेगे, तब तक भला यह कैसे संभव होगा कि हमारे पॉव जमीन पर दृढता से टिके और हम आने-वाले-कल के बारे मे सोचे ? आने-वाले-कल की शक्ल धूमिल ही इसलिए है चूँकि हमारी आस्था और हमारे विश्वास धुँधले है। जब तक हम इन दोनो के चेहरे पर से गर्द नही झिडक लेते, तब तक कोई उज्ज्वल-स्वच्छ चित्र हमारे सम्मुख नही आ पायेगा।

यह मानना कि इस ससार मे सिर्फ हम है और शेष सब-सारे हमसे असबद्ध है, बहुत भयानक गलती है। पूरा विश्व एक डोर मे निबद्ध है। उसकी इस सहज एकता को नकारना सभव नही है। असल मे हमने इस वैश्विक मर्म को बार-बार नकारा है और उसके दुष्परिणाम झेले है। सब कुछ आपस मे बुना हुआ है। कोई ताना है, कोई बाना है। कही कोई व्यक्ति या घटना ताना बनी है, तो कही कोई व्यक्ति या घटना बाना अथवा रेशा। व्यर्थ कुछ भी नही है। जो नही दीख पड रहा है, उसकी भी भूमिका है और जो दीख पड रहा है उसकी भी। भूमिकाएँ सबकी है, किन्तु बदकिस्मती से हम एक-दूसरे की भूमिकाएँ सहानुभूति-पूर्वक समझ नहीं पा रहे हैं। इतनी सारी भ्रान्तियाँ हमारे वातावरण मे एक साथ बरस पडी है कि उनसे मुक्त हो पाना काफी कठिन हो गया है। मनुष्य अब मात्र मनुष्य कहाँ रहा है, वह तो नाना समस्याओ और सवालो का एक पुलिदा-भर रह गया है। जब तक हम इस मनुष्य को उसकी सहजता मे नही लौटायेगे, ऐसा कुछ घटित नहीं हो पायेगा, जिसे हम शान्ति, सुख, बन्धुत्व, प्रीति, विवेक, विश्वास आदि नामो से पुकार सके।

इस क्षण यह बहुत ज़रूरी है कि हम अपनी फजा-मे-तैरती समस्याओ और उलझनो को पहचाने, उन्हे 'आयडेटीफाइ' करे। उन्हे टाले नहीं, बल्कि पूरी ताक़त और पुरुषार्थ से उन्हे अपनी आँखो-तले डाले और पहचाने। यह काम आसान नही है। इसके लिए हिम्मत और हौसला चाहिये। हमारे आज के जीवन मे जो विकृतियाँ और असामान्यताएँ आ गयी है, उनका कारण समस्याओ-सवालो को जाने बगैर उन्हे लगातार स्थगित करते जाना है। हिसा के दुष्परिणामो हो हम आज तक सिर्फ टालते ही रहे है, हमने कभी उनकी तह मे जाने की कोशिश नही की और न ही यह ही जानना चाहा कि कोई हिसक वारदात किस पृष्ठभूमि की परिणति है। हम व्यक्ति की

तलाश में तो रहे है, किन्तु हमने प्रवृति की तलाश नही की है। हम अपराधी को पकडने मे तो अपनी सारी ताकत लगाते रहे है; किन्तु उसकी अपराध-वृत्ति की समीक्षा हमने आज तक नही की। हम यह पता लगाने में अक्सर चूक गये है कि जो नृशंस/जघन्य घटना या अपराध हुआ है, उसकी बुनियाद क्या है, कहाँ है ? हमने एलोपैथी-की-तरह उपलक्षणो-का-इलाज तो किया है; किन्तु बीमारी की तह मे उतर कर उसके बुनियादी कारण पर हमला करने से हमने इकार किया है। ऐसा हम इधर के लगभग पाँच दशको से करते आये है।

अत हमें सबमें पहला काम यह करना होगा कि हम स्थितिपालकता की वृत्ति से उबरे। स्थिति-पालन नहीं; बल्कि सम्मुख आयी समस्या या सवाल के ईमानदार/यथार्थमूलक; विश्लेषण/समीक्षण से प्राप्त तथ्यों का स्वीकार और उसमें-से निष्पन्न उपायों का तुरन्त प्रभावी अमल। हो सकता है हिसा-से-संघर्ष मे अहिंसा को भी हिंसक की भूमिका में आना पडे, किन्तु जिसे इन दिनो हम चुनावी हिंसा का नाम दे रहे हैं, उससे हम सख्ती से निबट सकते है बशर्त हम तथ्यो को माने और व्यक्तिगत लाभो और स्वार्थों को दूर रखें। जब तक फजा के निर्मलीकरण में हम स्वार्थ और लोभ-लाभ को सक्रिय रखेंगे; कोई बुनियादी हल हमारे हाथ नही आयेगा। मौलिक/अचूक समाधान के लिए हमें शहादत करनी होगी। भविष्य की बलिवेदी के हविष्य की तैयारी आज किसकी है, जब तक यह तय नही होता, उसकी मुख छवि के दर्शन लगभग असंभव ही होगे।

हिसा ने विश्व मे जगह-जगह उपनिवेश कायम कर लिये है और हम इन औपनिवेशिक ताक़तों के गुलाम हो गये है। हमे अब एक ऐसी निष्काम लड़ाई जूझनी होगी, जिससे क्रूरता पर करुणा, हिसा पर अहिसा, अविश्वास पर विश्वास, अनास्था पर आस्था, बैर पर प्रीति, बर्बरता पर मानवता का ध्वज फहरा सके और इन तमाम मानवीय गुणों मे परस्पर रिश्ते बन सके। वस्तुत. किसी भी तरह हमे बदलाव की प्रक्रिया मे आना है, किसी औपचारिक परिवर्तन के पीछे बावला नही होना है। अब तक हम औपचारिक या सतही परिवर्तन के व्यूहचक्र मे फँसे रहे है, अब हमें बुनियादी समस्याओ को पहचानना है और उनके लिए उपलाक्षणिक नही, बल्कि मूलभूत साधन ढूँढने है। इसके लिए अहिंसा पर आधारित आत्मविश्वास की परम आवश्यकता है।

अहिंसा है हमारी माँ

खुराक चाहिये - तन को, मन को, मस्तिष्क को, क्रमश आहार, भक्ति, स्वाध्याय। खुराके कई कई क़िस्म की होती है, वैसे ही जैसे आदमी कई किस्म के है। कहा जाता है कि जब तक मनुष्य मे विवेक का परिपूर्ण (लगभग परिपूर्ण) विकास नही हुआ था, तब तक वह अपने उदर-पोषण के लिए शिकार करता था, एक पशु-की-तरह की यायावर/क्रूर/बर्बर जिप्सी जिन्दगी जीता था, किन्तु जैसे ही उसके विवेक ने एक रचनात्मक करवट ली उसकी दुनिया बदल गयी, हिसा से विरक्त हो कर वह कृषि पर आ गया। जो समाज-शास्त्री है, यह उनका निष्कर्ष है अन्यथा धर्म-के-लोग तो यही मानते है कि मनुष्य आरम्भ से ही शाकाहारी है, अत वह जो भी हिसा आज कर रहा है वह सिर्फ अपनी इन्द्रिय-लोलुपता और स्वार्थपूर्ति के लिए ही कर रहा है।

शाकाहार अहिसा की समग्र अभिव्यक्ति है। वह सिर्फ आहार नही, दर्शन है, फलसुफा है। अहिसा की धारणा का वह शिखर-बिन्दु है। यदि हम मनुष्य की शरीर-रचना की तटस्थ समीक्षा करे तो पायेगे कि वह शुद्धत शाकाहार-के-निमित्त ही है। माना गया है यह भी कि जहाँ विचार है, वह वहाँ हिंसा के लिए तिल-भर भी जगह नहीं है। आज मनुष्य के चिन्तन का इतना विकास हो गया है कि अब न तो उसे किसी तरह की हिसा/हनन की आवश्यकता रही है और न ही किसी तरहे के छल-फरेब की। वह चाहे यदि तो विज्ञान की मदद और उसके वरदायी शुभाशीष से एक सुखद, निर्विघ्न, और निष्कपट जिन्दगी जी सकता है।

शाकाहार मनुष्य के चरणोत्कर्ष का प्रतीक है। यह सबूत है इस बात का कि उसमे सोचने की शक्ति है और वह अपने भले-बुरे/खरे-खोटे पर भली-भाँति विचार कर सकता है। यह तो वह देख ही सकता है कि जो भी वह कर रहा है उसका उस पर तथा इर्द-गिर्द के वातावरण पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, उससे प्रकृति का सन्तुलन और उसकी समरसता मटियामेट हो रही है ?

धरती पर मनुष्य है और एक विजेता के अस्तित्व के रूप मे उसने अपनी छवि यहाँ स्थापित कर ली है। उसने अपने इस विजयोन्माद मे प्रकृति से प्रीति की अपेक्षा प्रतियोगिता करना आरम्भ कर दिया है। इसी तर्ज मे उसने धरती पर रहने वाले अन्य जीवधारियो के साथ प्यार की जगह द्रोह करना शुरू कर दिया है। वह पशु-पक्षियो को मारने और पेड-पौधो को बर्बाद करने लगा है। अपने स्वार्थ के लिए या तो वह धरती की हरीतिमा को उजाड रहा है या फिर वह इन्हे अपनी इन्द्रिय-लोलुपता का शिकार बना रहा है। उसकी यह दुरन्त लिप्सा अब न सिर्फ स्वाद तक सीमित है वरन् इसने और अधिक विषैली शक्ल ग्रहण कर ली है। वह अपने शौक़/श्रृंगार के लिए भी पशु-पक्षियो की जाने लेने लगा है। हर वर्ष करोडो प्राणी उसकी इस बर्बर लिप्सा के शिकार होते है, ठीक वैसा ही हक उसने इन पशु-पक्षियो और पेड-पौधो को भी प्रदान किया है। जितनी जिजीविषा मनुष्य की है, उतनी ही तीव्र इन प्राणियो मे है, जो लगातार उसके प्रयोगो/

जीभ-के-चटखारो के शिकार बन रहे है। नगरो-उपनगरों के लिए, या अर्थार्जन के लिए जंगल साफ किये जा रहे हैं।

शिकायत है कि मनुष्य को अनाज नहीं मिल रहा है, इसीलिए सन्तुलन की खोज मे वह माँसाहार पर विवश हुआ है, किन्तु यह दलील सही नही है। यदि ठीक-से-हिसाब लगाया जाए तो पता लगेगा कि पश्चिम द्वारा फैलाये गये इस भ्रम ने हमारे सोचने का दिवाला निकाल दिया है। हम आँकडो के अन्तहीन जाल मे फँस गये है। पश्चिम ने हमे मत्स्य-कृषि, माँस-कृषि, खरगोश-कृषि, कराकुल-कृषि, जैसे भ्रामक शब्द-जाल में उलझा दिया है। लोग मान बैठ है कि मॉस-मछली-अण्डा-उत्पादन से खाद्य-समस्या का समाधान हो रहा है, किन्तु है ऐसा नही। मुर्गी-पालन के प्रतिवेदनो से स्पष्ट है कि इस पर सरकार जितना खर्च कर रही है, उससे खाद्य-समस्या के हल्का होने की अपेक्षा वह अधिक गंभीर हुई है। उसे नये पशु-चिकित्सालय खोलने पडे है। सरकार ने अधिक कत्लखाने खोल कर विदेशी मुद्रा के अपने भण्डार में इज़ाफा भला ही कर लिया हो; किन्तु भारत की मौलिकताओ की जो धज्जियाँ उडी है, उसकी क्षतिपूर्ति कभी नहीं हो पायेगी।

भारतीय संस्कृति सदा से ही अहिसक जीवन-शैली मे आस्था रखती आयी है। अहिसा हमारी माँ है। उसने हमे जो दिया है, वह हिसा कभी दे नही सकती। हिंसा का चरित्र वैसे भी देने की अपेक्षा छीनने का है। उसने वह दिया भी है। अहिसा ने हमे सात्त्विक जीवन, परस्पर विश्वास और ज्ञान की अजस्र गगा दी है। हिंसा कभी ज्ञान दे नही सकती, रोशनी उसका संस्कार है ही नही। अहिसा प्रकाश का अखूट स्रोत है। वह 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की जीवन्त प्रतिनिधि है। हमारे नीवार-भोगी ऋषि तो माँसाहार की कल्पना ही नही कर सकते थे (नीवार उस अन्न को कहते है, जो अनबोया उगता है। हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षि उसी से अपना काम चलाते थे)। पेड-पौधो/पशु-पक्षी उनके मित्र थे।

हमारी प्राचीन संस्कृति की इन विशिष्टताओ की समीक्षा की जानी चाहिये ताकि हम उन कारणो को जान सके जिनके कारण मध्ययुग मे गहन अन्धकार रहा और घमासान युद्ध लडे गये। आज हमारे जीवन में हिसा, मारकाट, क़त्ल, कलह, द्वेष, चोरी, तस्करी, धोखाधडी, बेईमानी आदि क्यो है ? क्या इन सबका एकमात्र कारण हमारे रहन-सहन/खान-पान मे आयी गिरावट नहीं है ? क्या यह सब नही है कि हम जैसा खा/पी/पहिन रहे है उसी तरह का बर्ताव परस्पर कर रहे हैं ? क्या इन दिनो हम भक्ष्याभक्ष्य के विवेक के साथ कुछ खा/पी रहे है ? वस्तुत जो भी हो रहा है वह भारतीय संस्कृति/समाज के लिए घातक है। स्वार्थ आज भारतीय समाज की धुरी बना हुआ है, जबकि इससे पूर्व त्याग उसके जीवन का मुख्यांश था। आज हम त्याग के संबन्ध मे तो सोच ही नहीं पा रहे है। हमारा आहार और रोज-मर्रा का जीवन इतना प्रदूषित हो गया है कि अब कहीं कुछ ऐसा रह नहीं गया है, जो हमें गौरवान्वित करता हो। सारा देश विनाश के द्वार पर खडा

है, कोई विकल्प हमारे सामने नही है-खतरे लगातार हमारी ओर बढ़े आ रहे है।

विश्वास मानिये यदि हम अपने व्यक्तिगत या सार्वजनिक जीवन मे कोई व्यापक क्रान्ति, या सुधार चाहते है तो हमे सबमे पहले अपने आहार की / खान-पान की वस्तुनिष्ठ समीक्षा करनी होगी। हमे यह देखना होगा कि हम जो खा रहे है, या जो हम दूसरो के लिए मुहैया कर रहे हैं, वह किस तरह का है ? क्या हम प्रदूषित खा, या खाने के लिए दे कर स्वय को और दूसरो को धोखा नही दे रहे है ? वस्तुत यदि हम राजनीति के माध्यम से कोई क्रान्ति लाना चाहते है, यह कि सारे लोग सुख से रहे, सबकी बराबर की हिस्सेदारी हो, सबको अपना प्राप्त मिले, किसी को कम, किसी को अधिक न मिले, कोई किसी तरह की आर्थिक या सामाजिक शिकायत न करे, तो हमे सबमे पहले अपने निजी और सार्वजनिक आहार/खानपान की समीक्षा करनी होगी यह कि वह किस तरह का है और उसके नतीजे क्या प्रकट होते है ?

ताज्जुब इस बात का है कि लोग औषधियो के परीक्षण का तो खयाल रख रहे है, किन्तु इस बात का पता नही लगा रहे है कि किस प्रकार के आहार का मनुष्य की चेतना पर, उसके चित्त पर क्या प्रभाव होता है/ हो सकता है ? क्या इस तथ्य पर लोगो का ध्यान अब तक नही गया है कि माँसाहारी पशु-पक्षियो की तुलना मे शाकाहारी पशु-पक्षी अधिक सौम्य और आत्मीय होते है ? बिल्ली, शेर, सुअर, भेडिया और खरगोश, बन्दर, हाथी, गाय मे क्या अन्तर नही है ? यदि हम शाकाहारी पशु-पक्षियो और माँसाहारी पशु-पक्षियो के आचरण और स्वभाव की तुलना-समीक्षा करेंगे तो सारी बात धूप की तरह स्पष्ट हो जाएगी।

जो स्थिति पशु-पक्षियो की है, वही स्थिति मनुष्य की है। जो लोग माँसाहार करते हैं और जो शाकाहारी है, यदि इस क्षेत्र मे खोजबीन की जाए तो पता चलेगा कि शाकाहारी जन अधिक चुस्त, सावधान, परिश्रमी, और कुशल है अपेक्षाकृत उनके जो माँसाहारी है। इसी तरह जो व्यक्ति व्यसन-मुक्त है, वह जहाँ एक ओर अधिक विश्वसनीय है, वहीं दूसरी ओर जो व्यसन-लिप्त है उसका चरित्र ऐसा नही है कि उसे पाबंद/प्रामाणिक माना जा सके। हमारा अनुभव है ऐसे लोग जो शाकाहारी और व्यसन-मुक्त है वे अधिक शान्त, अधिक कुशल, अधिक शालीन, अधिक सौम्य, अधिक अनुद्विग्न और अधिक परिश्रमी है। जब तक हम इस क्षेत्र में कोई व्यापक सर्वेक्षण नहीं कर लेते तब तक यह सभव नहीं होगा कि कोई बात जन-प्रतिष्ठित हो पाये। परम्परित तथ्य हमारे पास है, किन्तु अब जरूरत है एक वैज्ञानिक/सांख्यिकीय/सर्वेक्षण की। काम कठिन है; किन्तु आने वाली पीढियो के लिए नि संदेह मार्गदर्शक रहा है/हो सकता है।

व्यापक रूप से जब हम देखते है तो पता चलता है कि आज हमारे जीवन में तामसिकता का जो विस्फोट हुआ है, उसका सबसे बडा कारण हमारा असंतुलित और अविवेकपूर्ण तामसिक आहार है।

शाकाहार की एक विशेषता यह भी है कि वह विवेक-बुद्धि को प्रबुद्ध करता है. इसके

माँसाहार अधिकार की ओर प्रवृत्त करता है। सारा पश्चिम कर्तव्य की अपेक्षा (इतिहास गवाही है) अधिकार की ओर झुका है। सत्ता की जो भूख पश्चिम में है/थी, वह वहाँ से चल कर हमारे देश मे चली आयी है। यह भूख आहार और साहित्य मे-से हो कर हमारी धरती पर आयी है।

सर्वेक्षणों से पता चलाना चाहिये कि मनुष्य के शरीर पर शाकाहार और माँसाहार की रासायनिक और चेतनागत प्रतिक्रियाएँ क्या होती है ? यों तो हम ऊपर-ऊपर देख कर भी सही निष्कर्ष तक पहुँच सकते है, किन्तु यदि अधिक वैज्ञानिक ढँग से इस ओर कोई समाजशास्त्रीय, या सास्कृतिक, या चिकित्सकीय, या मनोवैज्ञानिक पहल की जाए तो इसके अधिक ठोस तथा मार्गदर्शक परिणाम सामने आ सकते है। काम नि सदेह बेहद कठिन है; किन्तु यह निश्चित है कि यदि कोई अनौपचारिक/अनाम सर्वेक्षण भी इस क्षेत्र मे हुआ/किया गया तो उसके दूरगामी परिणाम प्रकट होगे।

कितनी बडी विडम्बना है कि शाकाहारी की कर-वसूली से माँसाहार का खुल्लमखुल्ल प्रचार किया जाए दूरदर्शन के माध्यम से, डाक-टिकटो के जरिये, तथा और-और साधनो से ऐसा कोई भारतीय धर्म नही है जिसने शाकाहार की ताईद न की हो; ऐसा कोई धर्मग्रन्थ नही संसार का जिसने अहिसा का प्रतिपादन न किया हो- ऐसी सुदृढ स्थिति मे क्या भारत, या राज सरकारो को शाकाहारी वर्ग को चोट पहुँचाने वाला कोई कार्य करना चाहिये ?

कई व्यापारिक संस्थान ऐसे है, जो माँसाहार का लाभ बता कर शाकाहारी समाज क बरगलाते है और उनमे झूठी लालसा जगाते है। यह लुभावना प्रचार कि शाकाहार माँसाहार की अपेक्षा अधिक ताकत देता है - वस्तुत यह भ्रम है। ध्यान से देखने पर हमे इसकी सबमे उत्त मिसाल घोडा ही दिखायी देता है, जो शक्ति का मानक है। घोडा सौ फीसदी शाकाहारी है; बता उसे यह ऊर्जा कहाँ से मिलती है - मॉस से, मछली से, अण्डे से - किससे ? अब तो लेखक वैज्ञानिक, पहलवान, पर्वतारोही, खिलाडी सभी इस बात का अनुभव करने लगे है कि शाकाहा ताजगी, ताक़त, सुदीर्घ जीवन, शुभ/सात्त्विक विचार, स्वच्छता, स्वास्थ्य आदि की दृष्टि सर्वोत्तम आहार है। ऐसी स्थिति मे ऐसे लोगो को जो भटक गये है, या भटकाये गये है , उन्हे सह मार्ग पर लाना हम सबका कर्तव्य है।

शाकाहार की और-ओर व्याख्याएँ भी संभव है। शाकाहार के दो रूप हो सकते है, एक, ह सीधे-सीधे शुद्ध शाकाहार कर रहे हे, दो, हम थाली मे पूरी तरह शाकाहारी है, किन्तु औषधियं या शौक के रूप मे जिन वस्तुओ का इस्तेमाल कर रहे है, वे हिसाजनित है। यदि हम ऐसा करते है, तो हमे शाकाहारी नहीं कहा जाएगा। एक शाकाहारी को जीवन के हर हिस्से से माँसाहार को निकाल फेंकना होगा फिर उसकी पेट चाहे सीधे हो, या तिर्यक्। शाकाहार की अन्तिम ऊँचाई है शोषणविहीन समाज की स्थापना और उसमे सपूर्ण आस्था, क्योंकि शोषण, पीडन, उत्पीड़न भी एक किस्म का गैरशाकाहार ही है। इस तरह शाकाहार अहिसक जीवन की सर्वोत्तम पद्धति है, क्योंकि अहिंसा है हमारी माँ।

डॉ. नेमीचन्द जैन की बहुचर्चित/प्रेरक कृतियाँ

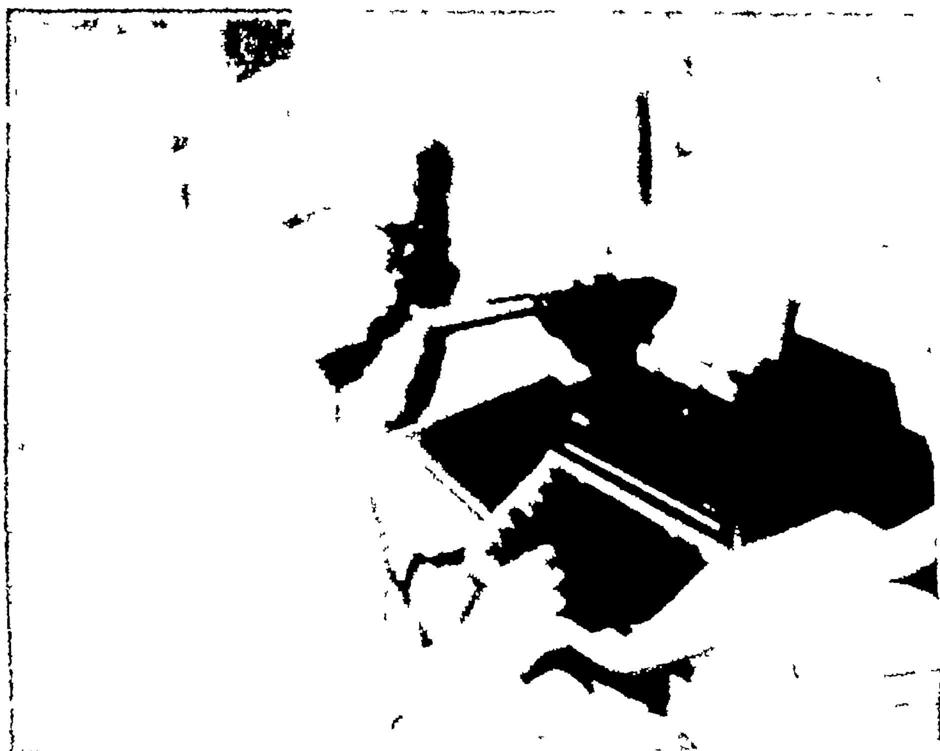
वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्धमान महावीर (परिवर्द्धित [illegible] संस्करण)	१५.००
बहुआयामी [illegible] समाहार	१५.००
भोग १०० तथ्य	५.००
जहर अमृत चुनौतियाँ	१०.००
अपरिग्रह	५.००
जैनधर्म १०० तथ्य	७.००
जैनधर्म इक्कीसवीं शताब्दी	५.००
भक्तामर स्तोत्र (अर्थ-सहित, सचित्र)	५.००
मेरी भावना (सचित्र), विविध पूजन-सहित	३.००
पर्युषण उत्सव जीवन का (परिवर्द्धित)	५.००
एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका (परिवर्द्धित)	५.००
हम अन्धे [illegible] (परिवर्द्धित)	५.००
अहिंसा है हमारी माँ (परिवर्द्धित)	५.००
अहिंसा का अर्थशास्त्र	५.००
प्रणाम महावीर	५.००
जैन आहार विज्ञान और कला	५.००
वरक मांसाहार है	५.००
मुलाकात खुद-ब-खुद (बातचीत स्वयं की, स्वयं से)	१०.००
शाकाहार-विज्ञान	१५.००
शाकाहार १०० तथ्य	५.००
शाकाहार सर्वोत्तम जीवन-पद्धति	२.००
बेकसूर प्राणियों के खून-से-सने हमारे ये बर्बर शौक	२.००
ना बाबा ना	२.००
मांसाहार सौ तथ्य	३.००
अण्डे के बारे में १०० तथ्य	२.००
अण्डा जहर-ही-जहर	२.००
अण्डा आपको निगल रहा है	१.००
कत्लखाने १०० तथ्य	८.००
क़त्लखानों का नर्क	२.००
हिंसा कत्ल क्रूरता	५.००

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१ (म प्र)

अहिंसा का अर्थशास्त्र

डॉ. नेमीचन्द



असल में जहाँ टकसाल का अर्थतन्त्र है, वहाँ हिंसा का नग्न ताण्डव न हो, यह असंभव है; किन्तु जहाँ नीति, संस्कृति, धर्म, मानवीयता आदि मूलभूत मानकों पर टिका अर्थशास्त्र है, वहाँ अहिंसा न हो यह असंभव है। हमारा देश विदेशी मुद्रा के लोभ-लालच में फँस गया है। लोभ की जड़ में हिंसा न हो यह मुश्किल है, वह तो वहाँ होगी ही ऊपर से उसके साथ दुराचार और अनैतिक आचरण भी होंगे। यह सब अटल है। इससे बचा नहीं जा सकता। हिंसा और विवेक साथ नहीं चल सकते। जब भी साथ चलेंगे, अहिंसा और विवेक ही साथ चलेंगे।

—नेमीचन्द

अहिंसा का अर्थशास्त्र

डॉ नेमीचन्द

हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर

अहिंसा का अर्थशास्त्र, डॉ नेमीचन्द, © हीरा भैया प्रकाशन, प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश मुद्रण नईदुनिया प्रिंटरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२ ००९ मध्यप्रदेश, सज्जा संतोष जड़िया, प्रथम संस्करण - ७ जुलाई १९९६ मूल्य पाँच रुपये।

ISBN 81-85760-40-3

अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक संख्या
८१-८५७६०-४०-३

प्राक्कथन

स्पष्ट है, इन दिनो हम हिंसा और अहिंसा के बीच ठीक से कोई विभाजक रेखा नही डाल पा रहे है। वस्तुत , क्रमश , हम इतने पराधीन हुए है कि अव हमारे सामने कोई रास्ता ही नही रहा है, अलावा इसके कि हम आपाधापी मे हाँफते रहे, जो सामने आये उसे खाये-पिये, पहिने-ओढ़े, काम मे ले और मुहँ पर ताला लटकाये चलते रहे। आँखे हम रखे, किन्तु चश्मा उन पर 'ग्लोबेलिटी' का लगाये, ताकि हमे वह न दिखायी दे, जिसे हम देखना चाहते है अपितु हम केवल वह देख सके, जिसे देखने की इजाजन हमे मिले। सचमुच, आजादी के बाद की यह भयावह गुलामी देश के मेरुदण्ड पर एक भीषण/जानलेवा हमला है।

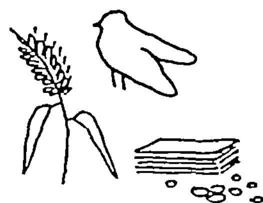
मैने अपनी इस किताब मे उन तमाम परिस्थितियो को रेखाकिन करने का प्रयास किया है, जिनसे हमे कदम-दर-कदम पूरे साहस के साथ जूझना है, ताकि मरणासन्न जीवन-मूल्यो को जीवन्त किया जा सके और देश का एक सतुलित सास्कृतिक/आर्थिक मानचित्र उभर कर सामने आये।

आशा है मेरे इन लेखो को ध्यान से पढ़ा जाएगा ताकि वह घटित हो सके, जिसकी आजादी के बाद से हमे उद्ग्रीव प्रतीक्षा है।

इन्दौर ७ जुलाई '९६ —नेमीचन्द जैन

सपादक 'तीर्थकर'/'शाकाहार-क्रान्ति

क्रम



वसुधा है मेरा घर

समाज-शास्त्रियो और प्रागैतिहासकारो का मत है कि मनुष्य ने निरन्तर विकास किया है, सदियो मे वह क्रूरता, बर्बरता और खुरदरेपन को स्निग्ध करता आ रहा है तथा आज एक ऐसी प्रगत अवस्था मे है कि यदि वह चाहे तो पर्यावरण/पारिस्थितिकी के साथ हाथ मिला कर अपने इस ग्रह (प्लेनेट) को अधिकाधिक समृद्ध और निरापद बना सकता है।

जिन लोगो ने उसके सर्वतोमुख विकास का अध्ययन किया है, उनका निष्कर्ष है कि वह आरभ मे अहिंसक था और फलाहार करता था। वह न तो किसी को मारता था और न ही किसी अन्य जीव-जन्तु की जिन्दगी मे कोई अनावश्यक दखलदाजी करता था। जो उसे सहज प्राप्य था, उसी के उपयोग से वह जीवन-यापन करता था।

समाज-शास्त्रियो का कथन है कि अहिंसा-की अनुभूति उतनी ही प्राचीन है जितनी नदियाँ, पहाड, सघन वन, झरने, घाटियाँ, तलहटियाँ, हरियाली और मनुष्य के दाँतो-की-चबाने-की-प्रथम-पर्त। मनुष्य के दाँतो की प्रथम पर्त (सतह) इस तथ्य की सुबूत है कि वह सदैव से अहिंसा मे आस्था रखता आया है, हिंसा-रक्तपात मे उसका कोई विश्वास नही रहा। हाँ, उस क्षण की थाह पाना अवश्य कठिन है, जब वह चार की जगह दो पगो पर खडा हुआ और उसने विवेक तथा ज्ञान को अपने जीवन का सफल आधार बनाया।

जॉन हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी के नृतत्त्वशास्त्री डॉ आलन वाकर का कथन है कि मनुष्य के पूर्वज मासभक्षी नही थे। वे सर्वभक्षी भी नही थे। वस्तुत वे उन फलो मे अपना उदर-भरण करते थे जो स्वयम्भू थे। फसलो का आविष्कार तब नही हुआ था।

डॉ वाकर की खोज अत्यन्त विस्तृत और खुर्दबीनी विश्लेषण पर आधारित है। उन्होने मनुष्य के दाँतो की चबाने वाली पर्त का गहन अध्ययन किया। डॉ वाकर ने मनुष्य की दन्त-रचना का एक करोड बीस लाख वर्षो के काल-पटल पर विस्तृत गहन अन्वेषण किया और निष्कर्ष लिया कि वह बारह लाख (१२,००,०००) वर्ष ईसापूर्व तक फलाहारी था।

करीब बारह हजार (१२,०००) वर्ष पहले नवपाषाण-युग की क्रान्ति ने उसे गाँव, खेत, बीज, हल, खलिहान, खाद आदि से परिचित कराया तदनुसार वह पार्थिव स्थितियो के अनुरूप सुविकसित शाकाहारी बना।

स्पष्ट है कि हिंसा, हत्या, शोषण, वैर-बदला, रक्तपात आदि मनुष्य के सहज विकास नहीं है, उसका असली विकास है अहिंसा, सृजन, स्वाधीनता, परस्पर सहयोग का सस्कार और मैत्री। जब मनुष्य ने इन गुणो को अपनी अस्मिता से जोडा और उत्तरोत्तर वह सपूर्ण धरती से इन्हे जोडता गया, तब उसके मुँह से निकला **वसुधैव कुटुम्बकम्** (यह वसुधा मेर कुटुम्ब हैं)। यहाँ सभी तो अपने हैं किसकी हिंसा, किसका हनन। सभी जीना चाहते है कोई मरना नही चाहता, फिर फिजूल ही किसी को चाहे आदमी हो या अन्य कोई जीव जन्तु, क्यो मारा जाए। ऐसा करते हुए उसने अहिंसा की बारीकियो पर पूरा एक शास्त्र और एक विज्ञान ही रच डाला।

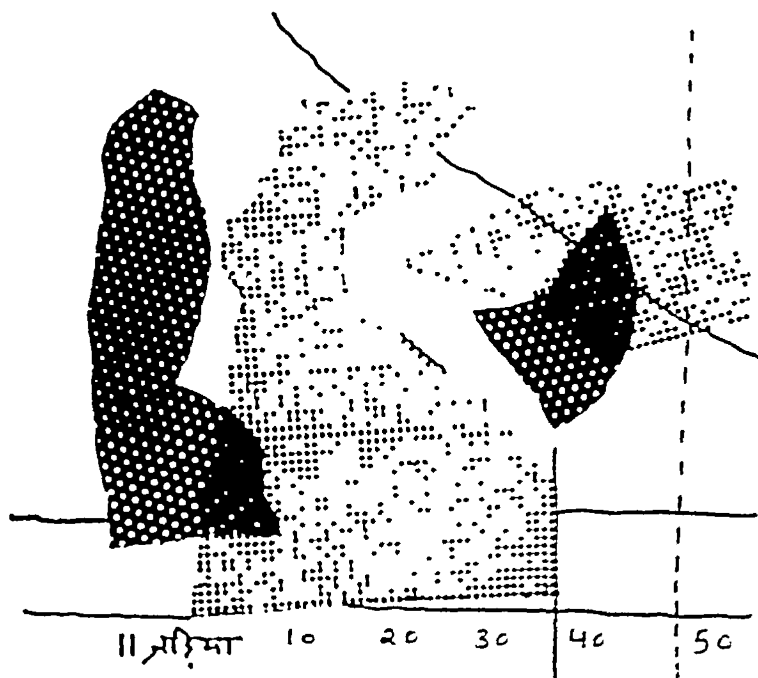
आज हम इस सुविकसित मनुष्य की अनदेखी कर रहे है और उसे बर्बरताओ के युग मे लौटा ले जाने लिए हथियारो का अन्धाधुन्ध उत्पादन कर रहे है। जहाँ-तहाँ भीषण युद्ध जूझे जा रहे है और काल-पुरुष के कपाल पर रक्त-लिपि मे ध्वस के शिलालेख लिखे जा रहे है। विकसित देशो के पास आज हथियारो का इतना बडा जख़ीरा है कि वे 'विकासशील' देशो को (यह नाम चालबाजी से उन्ही का दिया हुआ है) कूटनीतिक चाले खेल कर उसे बेचने मे लगे है।

इस समय अमेरिका विश्व का अव्वल नम्बर का शस्त्रास्त्र-उत्पादक देश है। वह दुनिया के छह बडे हथियार-उत्पादक देशो का सिरमौर है। अन्य –जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रास रूस, चीन। ये मुल्क दुनिया के ८५ प्रतिशत हथियारो की तिजारत करते है। अमेरिका चार श्रेणियो के हथियार बेचता है–टैक, आर्मर्ड जगी वाहन, जगखोर हवाई जहाज तथा आक्रामक हैलीकॉप्टर। सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा २० अक्टूबर १९९३ को प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार धरती पर हथियारो के जखीरो का बोझ लगातार बढ़ रहा है, जो किसी भी क्षण विस्फोटक सिद्ध हो सकता है।

इसी तरह की एक ख़बर (१० मई १९९४) न्यूयॉर्क की है कि बन्दूको की दुकानो के सामने हजारो लोग क्यू लगाये खडे है। हथियारो के भण्डार खाली हो गये है। बन्दूके कम पड गयी है। खरीददार अधिक है। हिंसा के अर्थशास्त्र का शीर्प सिद्धान्त है कि जिन वस्तुओ की पूर्ति कम होती है, उनकी माँग लगातार बढ़ती है। **हिसा के व्यापारी कृत्रिम माँग पैदा करने के लिए सदैव कृत्रिम कमी बनाये रखते है।** वास्तविक कमी होती ही नही है, कमी वनायी जाती है। असल मे हिंसा कृत्रिम कमियाँ पैदा करती है और फिर आगे चल कर लोगो को एक भीपण खूनी सघर्प मे झोंक देती है। अतिरिक्त समृद्धि और हिंसा का अर्थशास्त्र समान है। नियम है कि जहाँ भी जो भी वस्तु जरूरत से अधिक होगी, सघर्प का कारण वनेगी। **आज हिसा का यह अर्थशास्त्र हमारी छाती पर पाँव रखे हुए है।** **लोग** शिकार, शौक अथवा सग्रह के आयटमो की तरह हथियार खरीद रहे है।

जब हम उक्त ख़बर की बगल मे यह ख़बर पढ़ते है कि सन् १९८६ मे सयुक्त राष्ट्र सघ ने जो 'शान्ति वर्ष' घोषित किया था उसमे दुनिया-भर मे ३६ युद्ध हुए और सशस्त्र सघर्षो मे ३० से ले कर ५० लाख लोग मारे गये। 'शान्ति वर्ष' मे भी अमेरिका विश्व का सबसे बडा शस्त्र-निर्यातक देश रहा। उसने ३३ ३ प्रतिशत हथियार दुनिया के मुल्को को बेचे, रूस ने ३१ ४ प्रतिशत हथियार दिये, किन्तु इन जगखोर मुल्को मे-से किसी ने करुणा, अहिसा, मैत्री और भ्रातृत्व का निर्यात नही किया। वे हिंसा और क्रूरता तो 'शान्ति-वर्ष' मे धडल्ले से बेचते रहे, किन्तु करुणा, दया, परस्पर-सहयोग और दोस्ताने का सदेश इन तथाकथित विकसित देशो ने दुनिया को नही दिया। क्या इसे हम विकास कहेंगे? क्या हम सर्वनाश की ओर लगातार धकेल रहे इस विकास को विकास या उत्थान की सज्ञा दे पायेंगे?

जहाँ कही भी, विकसित देशो मे शस्त्रास्त्र बनते है, तय है वे आत्मरक्षा के लिए नही बल्कि विकासशील देशो को आपस मे लडाने के लिए बनते है। विकसित देश विकासशील देशो का किसी-न-किसी चालाकी से शोषण करते है और उन्हे 'विकासशील' बनाये रखना चाहते है। वस्तुत इस तरह का वर्गीकरण हिंसा को बढ़ावा देने वाला है और स्वय मे ही एक चालाक सूझबूझ है।



गौर से देखे विकसित देशो का समूचा अर्थतन्त्र हिंसा और क्रूरता, शोपण, और तज्जनित समृद्धि की बुनियाद पर खडा है। ऐसे जितने भी देश दुनिया मे है, उन्हे एक-न-एक दिन मुँह की खानी पडेगी, किन्तु मुश्किल यह है कि विकासशील देशो मे भी विकसित होने की उत्तेजक दौड/होड लगी हुई है। अपने छद्म सकल्प वे सर्वस्व लुटा कर बेहताशा भाग रहे है।

सनातन सत्य है कि जो भी मुल्क अहिंसा की बुनियाद पर खडे होगे, आगे चल कर बलशाली होगे, दीर्घजीवी होगे। आत्मरक्षा अपनी जगह है और बलशाली/ताकतवर होने का खब्त अपनी जगह है। दोनो वृत्तियो मे फर्क है। दूसरी वृत्ति साम्राज्यवादी दूपित मन का दु स्वप्न है, जबकि पहली एक अपरिहार्यता है।

दुविधा यह है कि वह भारत जो, कभी गाँवो का देश था, बहुत तेजी से शहरीकरण की दिशा मे अग्रसर है। शहर या शहरी मनोवृत्ति गाँवो की स्वस्थ/सरल मानसिकता को निगल रही है। अन्य शब्दो मे हिंसा अहिंसा को निगल रही है। हमारा पुरखा गाँव अहिंसक था, वहाँ जो भी होता था ग्राम-कल्याण के लिए होता था।

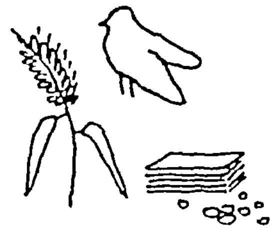
हिंसा और शौक साथ चलते है, अहिंसा के साथ शौक की जगह कल्याण और सहयोग की भावना चलती है। आज हमारा अर्थतन्त्र हिंसा और शोपण की आधारभूमि पर खडा है। हमने अपनी नैतिकता को बहुराष्ट्रीय कपनियो को बेच दिया है, या उनको गिरवी रख दिया है। लोभ-लिप्सा की अर्थव्यवस्था ने हमारे विवेक को लगभग अन्धा कर दिया है। हमने अपना ढाँचा लगभग ध्वस्त कर दिया है।

असल मे जहाँ टकसाल का अर्थतन्त्र है, वहाँ हिंसा का नग्न ताण्डव न हो, यह असभव है, किन्तु जहाँ नीति, सस्कृति, धर्म, मानवीयता आदि मूलभूत मानको पर टिका अर्थशास्त्र है, वहाँ अहिंसा न हो यह असभव है। हमारा देश विदेशी मुद्रा के लोभ-लालच मे फँस गया है। लोभ की जड मे हिंसा न हो यह मुश्किल है, वह तो वहाँ होगी ही ऊपर से उसके साथ दुराचार और अनैतिक आचरण भी होगे। यह सब अटल है। इससे बचा नही जा सकता। हिंसा और विवेक साथ नही चल सकते। जब भी साथ चलेगे, अहिंसा और विवेक ही साथ चलेगे।

हम देख रहे है कि देश मे क्रूरताएँ/नृशसताएँ निरन्तर बढ़ रही है। 'इण्डिया-१९९३' (भारत सरकार का वार्पिक लेखा-जोखा) के आँकडे, जिनका किंचित् विश्लेपण हम आगे करेगे, स्पष्ट घोपित करते है कि हम विदेशो को अण्डे, ब्रॉयलर, मास, जिन्दा पशु, मछली, चमडा आदि निर्यात कर विदेशी मुद्रा कमाना चाहते है। वेहिसाव लालच मे हम अपनी जमीन को तो बजट कर ही रहे है, समुद्र की गहराइयो को भी उजाड रहे है। विशेपज्ञो का मत है कि हम अतिमत्स्योत्पादन के चक्कर मे समुद्र की वानस्पतिक तहो को नष्ट कर

रहे हैं। आगे चल कर यही सब हमारे देश के अस्तित्व के लिए एक भारी खतरा साबित होने वाला है।

देश के सीमान्तो पर तस्करी बढ़ी हुई है। बेईमानियाँ इतनी है कि हम अब उन्हे ईमानदारियो मे गिनने लगे है। जिस तरह आज भ्रष्टाचार सदाचार की श्रेणी में आ गया है, उसी तरह कल बेईमानियो को भी ईमानदारियो की पोशाक पहना दी जाएगी। तब यह फर्क करना कठिन हो जाएगा कि कौन ईमान की पगडडी पर है और कौन बेईमानी की सडक पर है। नैतिकता और अनैतिकता के बीच खिंची तमाम भेदक रेखाएँ नष्ट हो जाएँगी। क्या हम इस दुर्भाग्यपूर्ण परिवर्तन के लिए तैयार है? क्या हम चाहते है कि हमारे देश का कोई चरित्र या पहचान ही न हो, हम अपना सर्वस्व विदेशो को सौप दे? इस तथ्य पर हमे बहुत गभीरता से विचार करना चाहिये कि जिस अहिंसा के बल-बूते पर हमने स्वाधीनता का सग्राम जूझा था, हिंसा/क्रूरता/बर्बरता पर विजय प्राप्त की थी, क्या अन्तर्राष्ट्रीय दबाव मे आ कर हम उसे तिलाजलि दे दे और अपनी अस्मिता के ताबूत पर अपने ही हाथ-हथोडे खील ठोक दे या फिर उस सबके लिए जूझे? क्या हम देश मे बूचडखानो की सख्या बढ़ाते जाएँ और अपने देश के मास को खाडी-मुल्को के स्वादिष्ट कबाब मे बदलते जाएँ या अपने देश के दुधारू जाँबाज पशुओ की रक्षा करे और उन्हे अपने अहिंसक अर्थतन्त्र की रीढ बनायें, बना रहने दे? क्या हम अपने गाँवो के पारम्परिक सास्कृतिक/स्वस्थ ढाँचे को नष्ट हो जाने दे? क्या हम वहाँ बूचडखाना-सस्कृति की शुरुआत करे? □



हिंसा का अर्थतन्त्र

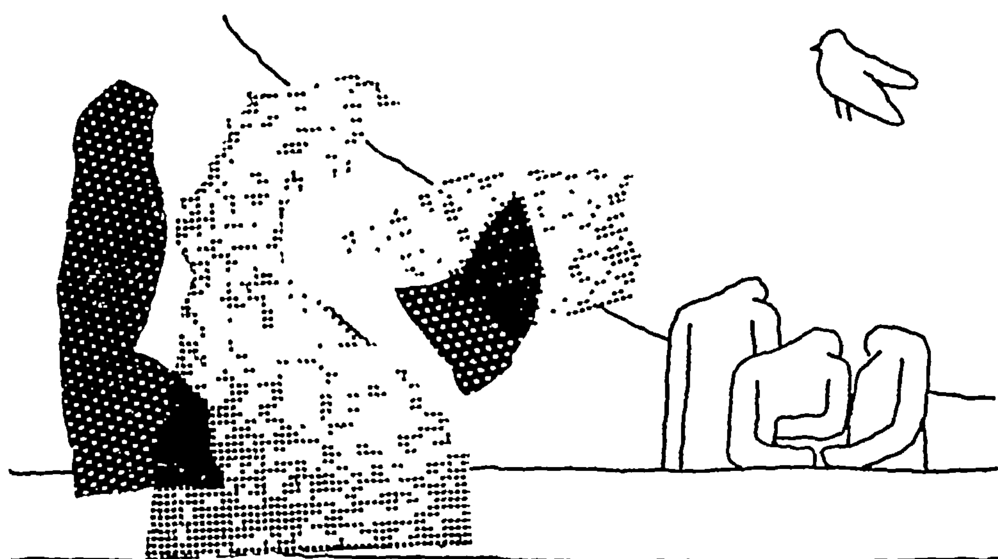
अहिंसा का 'अ' इस बात का प्रतीक है कि हमने जीवन के हर क्षेत्र मे हिंसा को नकारा, उसे उत्तरोत्तर कम किया, तथा 'अ-हिंसा' अर्थात् मानीवयता, करुणा, एव शान्ति को प्रतिष्ठित किया, किन्तु आज हमारे अर्थशास्त्री इस तथ्य को नही पहचान पा रहे है कि भारत भारत है, वह अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, जापान नही है। उसकी अपनी परम्पराएँ है, अपना सहज विकास है, और अपनी सास्कृतिक जडे है। ग्लोबलाइजेशन (विश्वीकरण) और लिवरेलाइजेशन (उदारीकरण) के नाम पर हम अपने देश मे जो सास्कृतिक जक (कचरा) आयात कर रहे है, उसे अगली सदी मे पूरी तरह, भरपूर कोशिश के बाद भी, उखाड नही पायेगे। बर्बादी की अन्तिम घडी तक अब यह जक हमारे साथ रहने वाला है। विकसित देश विकासशील देशो का धूर्ततापूर्ण शोषण करने मे लगे है- यदि हमने इस रहस्य को ठीक से वक्त-रहते नही समझा तो इक्कीसवी सदी की गोद मे पहुँचने से पहले ही हम सर्वनाश के गहरे गर्त मे उतर जाएँगे।

जब हम 'इडिया १९९३' के पृष्ठो पर नजर डालते है, तब स्पष्ट हो जाता है कि हमारी सरकार अहिंसा को बाला-ए-ताक रख कर किस तरह हिंसा का बजट बनाती है। भले ही यह खबर छोटी/ नगण्य हो, किन्तु सुखद और साहसपूर्ण है कि राजकोट के श्री सुमन भाई कामदार ने वित्तमन्त्री और समस्त केन्द्र सरकार के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट मे एक रिट (समादेश याचिका) दाय़र की है। श्री कामदार का कथन है कि वित्तमन्त्री का बजट 'मासाहारियो का, मासाहारियो के लिए, और मासाहारियो द्वारा' तैयार बजट है। न्याय मिलने की उम्मीद मे उन्होने कहा है कि वित्तमन्त्री ने सविधान की धारा ५१ए (जी), जिसमे प्रत्येक नागरिक से कहा गया है कि वह मूक/ निरीह प्राणियो की रक्षा करे और उनके साथ अनुकम्पापूर्ण व्यवहार रखे- क़त्ल किया है। सभव है कुछ लोग श्री कामदार का उपहास करे, किन्तु उनकी यह कोशिश निविड-सघन अन्धकार मे आयी रोशनी-की-ऐसी-पहली-किरण है, जो कभी-न-कभी अहिंसामूलक आर्थिक विकास की आधारशिला बनेगी। शुरूआत, जब भी होती है, छोटी और सामान्य ही होती है। जीवन बचपन से ही आरभ होता है।

'गोग्रास' (वर्धा, २१ अप्रैल १९९४) मे कृष्णम्मल तथा एस जगन्नाथन् ने

अहिंसा के अर्थतन्त्र पर हुए हमले की ओर इशारा किया है। उन्होने कहा है कि यह वर्ष गॉधीजी की १२५ वी जन्म-जयन्ती और विनोबाजी की जन्मशताब्दी का है, जिसमे हमे अहिंसा की साख फिर से जमानी है। उन्होने सिरकाली (तमिलनाडु) मे अन्न-कृषि के सरकारी और सामन्ती खेमो द्वारा अपदस्थ किये जाने की बात सामने की है। वे लिखते है कि 'सिरकाली मे बाहर के कुछ पैसे वाले लोगो ने आ कर तटवर्ती क्षेत्र मे 'प्रॉन' मछली पैदा करने का धन्धा शुरू किया है। मछली पैदा करने का यह उद्योग उन धनवानो के लिए तो सोने की खदान जैसा है, लेकिन पहले से बसे हजारो गरीब परिवारो के लिए यह भुखमरी और मुसीबत का बायस बन गया है। एक हैक्टेयर (ढाई एकड) जितने तालाब मे मछली पैदा करने वाले धनवानो को १० लाख रुपये साल की ठोस आमदनी होती है, लेकिन गरीब परिवार अपनी खेती की जमीन से वचित हो जाता है इतना ही नही, पीने का पानी तक प्रदूषित हो जाता है। 'प्रॉन' मछली के उत्पादन के लिए धान के उपजाऊ खेतो की खरीद इस क्षेत्र के लोगो के लिए ही नहीं, पूरे तमिलनाडु के लिए खतरे की घटी है। इस तरह हिंसा-का-अर्थतन्त्र अब गॉवो और ग्रामवासियो पर तरह-तरह की तबाहियॉ/कहर ढाने लगा है।

विदेशी मुद्रा के लोभ-लालच ने भी भारत के अहिंसापरक अर्थतन्त्र की रीढ को चकनाचूर किया है। श्री शरद साधक ने अपने एक लेख 'गोग्राम,' वर्धा (२१ मार्च १९९४) मे लिखा है- 'उदारीकरण और खुले बाजार की नीति पर अमल करने वाली भारत सरकार विश्व-हित के परिप्रेक्ष्य मे सोचे, तब भी पशु-सरक्षण आवश्यक है। पृथ्वी पर जितनी जमीन है, उसका १० प्रतिशत हिमाच्छादित है। १५.५ प्रतिशत रेगिस्तान या पत्थरीय है। ७४ प्रतिशत दलदली है। २ प्रतिशत शहर, खदान, कारखाना, सडक आदि ने घेर रखा है। करीब ३ प्रतिशत अनुपजाऊ है। कृषि-योग्य ११ प्रतिशत भी नही है, जबकि खाने वाले ५ अरब से ज्यादा है। प्रतिव्यक्ति आधा हैक्टेयर भूमि से एक शाकाहारी का गुजारा हो सकता है, मासाहारी का नहीं। मासाहारी अपने द्वारा खाये जाने वाले पशु के लिए भी चरागाह चाहता है, इसलिए जैसे-जैसे जनसख्या बढ रही है, मासाहार के अवसर घट रहे है। मासाहारी मुल्क अपनी भूमि का दबाव कम करने के लिए भारत मे मास का आयात करते है और विदेशी मुद्रा के लालच मे भारत उसका निर्यात करता है जो कौडी के बदले करोडो खोने जैसा व्यापार है। सासद (न्यायमूर्ति) गुमानमल लोढा ने १७ अगस्त १९९० को ससद मे कहा भी था कि 'अरब सीरिया, मिस्र, त्रिपोली, एशियायी तुर्की के मुसलमान गोवध नही करते और अफगानिस्तान मे उस पर पूर्ण प्रतिबन्ध है, तब हमारे यहॉ भारत मे प्रतिदिन २९,५०० गाय-बैल-बछडे कटते है, यह राष्ट्र के लिए चिन्ता की बात है।



आश्चर्यजनक है कि जिस देश को अहिंसा, करुणा, दया और भाईचारे का सदेश दुनिया के मुल्को को देना चाहिये, वह अब मास, मछली और अण्डो का प्रमुख निर्यातक देश बन गया है, और बडी गर्वोक्ति कर रहा है कि उसका सर्वागीण/बहुमुखीन विकास हो रहा है। यदि हिसा का यह खतरनाक दौर बरकरार रहता है तो हम सन् २००१ से पहले ही आर्थिक दृष्टि से एक नपुसक मुल्क साबित हो जाएँगे, जिसकी सीधी जिम्मेवारी उस सरकार पर होगी जो नयी कृषि-नीति की खतरनाक पोशाक पहिना कर छद्म कृषि को उद्योग का दर्जा दे रही है ताकि मास, मछली, तथा अण्डे भी परम्परित कृषि को मिलने वाली सुविधाओ से छतरी-तले आ जाएँ। सरकार की हिंसानन्दी (हिसा मे रस लेने वाली) नीतियो से देश की सास्कृतिक बनावट तो टूटेगी ही, वह हिंसा-की-धधकती-भट्टी मे भी उतर जाएगा।

'इण्डिया १९९३' के इन पृष्ठो को देखिये जिनमे कृषि (एग्रीकल्चर) शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि– १ वार्षिक अण्डा-उत्पादन वर्ष १९९२-९३ मे २२ खरब हो चुका है, जो १९९१-९२ मे २१ ७ खरब था। (पृ ४०२)। २ 'मास-उत्पादन ससाधन, और निर्यात' शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि देश मे ३,६०० कत्लखाने है (लायसेस-प्राप्त)। एशिया का सबसे बडा कत्लखाना देवनार (बम्बई) मे है, जबकि दूसरा कत्लखाना गोआ के उसागाँव मे चालू हुआ है। पश्चिम बगाल मे दुर्गापुर और मजीतर (गगटोक, सिक्किम) मे एक अद्यतन कत्लखाना निर्माणाधीन है। (बडे गौरव के साथ बताया गया है कि) यद्यपि अधिकाश कत्लखाने अद्यतन तकनीक एव सुविधाओ से वचित है, तथापि वर्ष १९९१-९२ मे १३८ करोड रु मूल्य का मास विदेशो को भेजा गया (पृ ४०३)। ३ वर्ष १९९१-९२ मे ४१ ५७ लाख टन

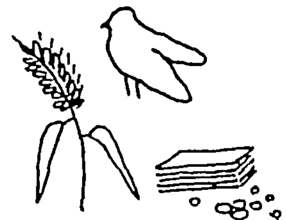
मछलियाँ पैदा की गयीं। कहा गया है कि गत चालीस वर्षो मे मछलियो का उत्पादन छह गुना बढ़ गया। (पृ ८०६)। ८ पिग डेवलपमेंट (सुअर-विकास) शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि देशमे एक करोड सुअर है। शकर-कृषि का देश मे बहुत महत्त्व है, क्योकि यह उत्तर-पूर्व मे गरीब ग्रामीण वर्ग के सामाजिक-आर्थिक स्तर को उन्नत करने मे एक महत्त्व की भूमिका निभा सकता है। वर्तमान मे १०० सुअर-खेत है (सरकार-द्वारा सचालित) जिनमे २९,००० सुअर है। गत पाँच वर्षो मे सरकारी फार्मो से २८,००० कृषको को ७९,००० घेंटे (पिगलेट्स) वितरित किये गये। (पृष्ठ ८०२-०३)। इत्यादि।

'इडिया १९९३' (सरकारी सदर्भ) मे अहिंसा, करुणा, अनुकम्पा, दया, नैतिकता, ईमानदारी आदि मे कितना इजाफा हुआ, इनका कितना निर्यात हुआ-कहीं कोई जिक्र नहीं है। (हो भी नहीं सकता), अब ये सब भारत के लिए जरूरी नहीं रहे है। जरूरी हुए हैं बेईमानी, क्रूरता, भ्रष्टाचार, हिंसा, हत्या, भेदभाव आदि।

मुश्किल यह है कि हम हिंसा-के-उत्पाद बढ़ा रहे है और अहिंसा को जड मे खोद फेकने की कोशिश मे है। अजीब बात है, सरकार जिन मुल्को की नकल कर रही है, वहाँ की सास्कृतिक आबोहवा बदल गयी है। ब्रिटेन ने सन् १९८० के बाद कोई नया कत्लखाना नहीं खोला है और भारत सरकार दिनोदिन लुकछिप कर या तो नये कत्लखाने खोल रही है या पुरानो को अद्यतन बनाने की कोशिश मे है। अन्तर्विरोध यह है कि सरकारी बीमारियाँ बढ़ाती है, अस्पताल खोलती है, प्राथमिक स्कूलो को उजाडती है, उन्हे दयनीय स्थिति मे रखती है- साक्षरता के गीत गाती है और विश्वविद्यालयो मे उच्च शिक्षा के परचम फहराती है, अहिंसा की जय बोलती है, और नये कत्लखाने खोलने और पुरानो को अद्यतन करने-बनाने की बात करती है।

सरकार का फर्ज है कि वह इस बात का पता लगाये कि हिंसक उत्पादो से देश मे कितनी और कौन-कौन-सी बीमारियाँ पनपी-फैली और तदनन्तर उनसे जूझने के लिए उसे कितने अभियान चलाने, और अस्पताल खोलने पडे। जिस देश मे कत्लखानो (वैध-अवैध) की सख्या ३६,०००+३१ और ग्रन्थालयो की सख्या सिर्फ ६०,००० हो, उस देश का मालिक भगवान् ही है।

क्या यह सब हमे बाध्य नही करता है कि हम हिंसा की दासता से बाहर आये और अहिंसा के स्वच्छ स्वस्थ सदय, विकासोन्मुख मानवीय जगत् मे पाँव रखे? □



सम्मान : सहअस्तित्व : सहयोग

अहिसा की नीव पर खडे अर्थतन्त्र के कम-से-कम सात आधार-सूत्र हो सकते है १ जीवन के प्रति सम्मान, २ शोषण-मुक्त जीवन-शैली, ३ सहअस्तित्व मे घनीभूत आस्था, ४ परस्पर सहयोग का सकल्प, ५ व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन मे सादगी का अनुसरण, ६ अपव्यय पर अकुश, ७ गुणवत्ता पर सावधान नजर।

हम देख रहे है कि आज विश्व मे जीवन-के-प्रति सम्मान (रेवरेस फॉर लाइफ) की भावना लगभग लुप्त हो गयी है। चारो ओर से आदमी को हिसा ने अपने घेरे मे कस लिया है। हिसा की गिरफ्त मे अब वह प्रकृति को उजाडने लगा है। उसने नभ, थल, जल सर्वत्र हा-हा कार मचा दिया है। पक्षियो के हजारो वशोपवश अपने स्वाद और शौक के लिए उसने नष्ट कर दिये है। जो शेष है, उन पर भी उसकी खुदगर्ज बद आँख लगी हुई है। मुर्गा-मुर्गी, बतख, बटेर आदि तो उसकी हिसक वृत्ति के शिकार है ही, इनसे पहले भी वह कई दुर्लभ प्रजातियो को नेस्त-नाबूद कर चुका है। यदि उसका वश चले तो जितने नभचर इस विश्व मे है, उन सबको भून कर खा जाए।

जहाँ तक थलचरो का सवाल है उसने इतने कत्लख़ाने (वैध/अवैध) खोल लिये है कि खून-गोश्त से नदी-नाले तक प्रदूषित हो गये है। हर दिन करोडो पशु मौत के घाट उतार दिये जाते है। उसने 'न मारने' के कानून बना कर भी अपने जायके और शौक के लिए उनका भरपूर उल्लघन किया है। वस्त्रो, जूतो, सूटकेसो, बटुओ, टोपियो, शृगार-प्रसाधनो आदि के लिए वह पशुधन की बेरहमी से हत्या कर रहा है। वध का यह क्रम निरन्तर है। विशेषज्ञो द्वारा चेतावनी दिये जाने पर भी उसने अपने कदम अभी पीछे नही लिये है।

आसमान और धरती की प्राण-सपदा के लगभग ख़त्म होने पर अब उसने समुद्र-की-सपदा भी हथियाना शुरू कर दिया है। मसलन, भारत अब यहाँ से खाद्य-प्रसस्करण (फूट-प्रोसेसिग) के नाम पर प्रतिवर्ष लगभग ८० लाख टन झीगे जापान की 'चटोरी जीभ' के लिए निर्यात होगे। ऐसा करने के लिए समुद्र-तट से २०० मील आगे तक फैले क्षेत्र को 'ईज' (एक्स्क्लूजिव इकॉनॉमिक झोन/विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र) घोषित किया गया है। इस क्षेत्र मे गहन मछुवाही (डीप फिशिग) शुरू कर दी गयी

है। परिणाम क्या होगे इस सिलसिले मे सरकार बिलकुल चिन्तित नही है। वह मजूरी दे कर दृश्य से लगभग हट गयी है। आने वाली पीढ़ी को इसकी क्या सजा भोगनी होगी, इसमे उसे कुछ लेना-देना नही है।

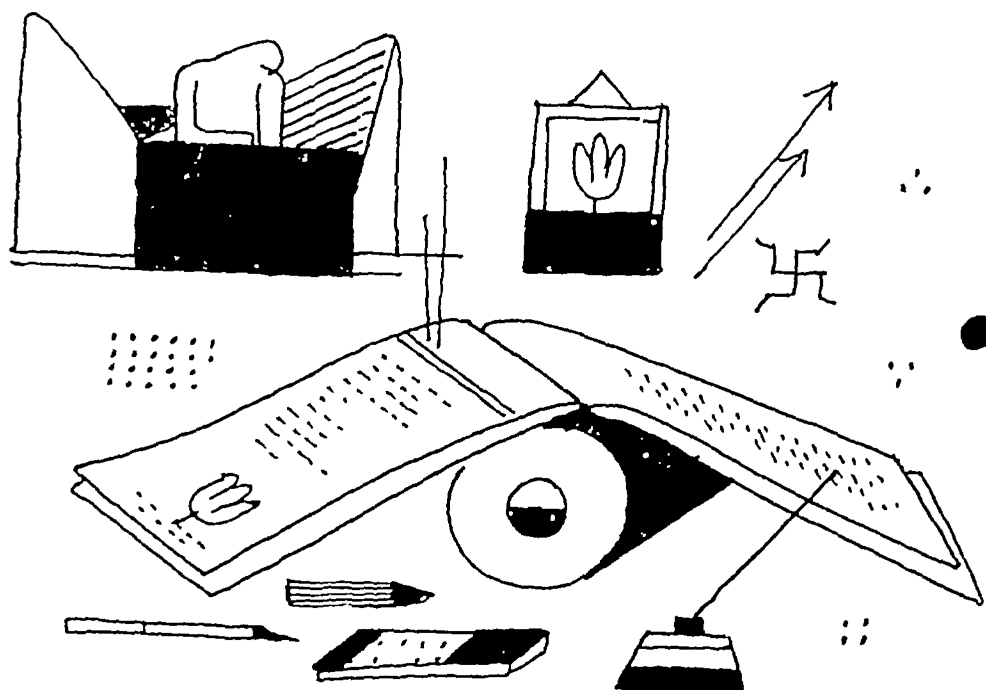
'विकसित' और 'विकासशील' इन दो खेमो मे बाँट कर पूरी दुनिया के मुल्को को धोखे की जिस भट्टी मे झोका गया है, उसकी लपटे खतरनाक है। यह छल-कपट उन देशो के अर्थतन्त्र को चिन्दा-चिन्दा कर देगा जो गाँवो पर निर्भर है, जिनकी ज्यादातर जमीन हल-की-नोक नीचे रही है, या है। अब हल से जमीन छीन कर या तो उस पर कौलोनियो बसायी जा रही है, कारखाने खुल रहे है, या फिर तालाब आदि खुदवा कर उन पर झीगा-फसले शुरू हुई है। सामान्य कृषक पिट रहा तथा एक नया रईस किसान क्षितिज पर आ रहा है - ऐसा किसान जो खुद खेती या श्रम से बच रहा है, और एक एक्जीक्यूटिव्ह कुर्सी पर टेलीफोन पर बतिया रहा है। लगता है आगे चल कर टेलीफोन हल की जगह आ जाएगा।

छपे या बोले हुए शब्दो ने जीवन की गुणवत्ता पर तीखा प्रहार किया है। विज्ञापन अब एक कपट है, वह किसी वस्तु की सही जानकारी या परिचय नही है, वरन् अतिशियोक्तिपूर्ण उत्तेजक जानकारी है। हमारा किसान/श्रमिक अभिजात वर्ग की इस चालबाजी को अभी ठीक से पहचान नही पाया है। वस्तुत हम जिस अर्थव्यवस्था की ओर अन्धाधुन्ध गति मे कदम बढ़ा रहे हैं, वह आगे जा कर आत्मघाती सिद्ध होने वाली है। निजीकरण (प्राइवेटाइजेशन), उदारीकरण (लिबरेलाइजेशन), विश्वीकरण (ग्लोबेलाइनजेशन) जैसे शब्द लगते आकर्षक है, किन्तु देश की समृद्धि को उखाड फेकने वाले है। ये प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय समृद्धि मे कुछ जोडेगी, ऐसा सोचना सिर्फ भ्रम है - एक दु स्वप्न। जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश मे आ गयी है, उन्होंने नये-नये व्यापारिक हथकडे अपनाना शुरू कर दिया है। अमरीकी कोला ने जिस तरह का जाल फैलाया है, ठीक उसी तरह अन्य बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी अपना जाल फैलाने वाली है। शहरो मे तो उनका जाल बिछ गया है, अब उन्होने गाँवो मे अपना आर्थिक हमला आरम्भ किया है। सब जानते है कि कोको कोला जैसा पेय स्वास्थ्य के लिए कितना घातक है, किन्तु जानते हुए भी हमे इस सांस्कृतिक षड्यन्त्र मे फँसाया जा रहा है। तीसरी दुनिया को लूटने के लिए कोला कम्पनियो ने अब एक नयी तरह की झांसेबाजी शुरू की है। उनका भ्रामक प्रचार है कि यदि गाय-भैंसो को कोका कोला पिलाया जाए तो वे बहुत खुश होगी, फलस्वरूप अधिक दूध देगी। प्रचार किया जा रहा है कि बंगलादेश मे दुधारू पशुओ को कोला देने मे फायदा हुआ है, अत भारत को भी इस अनुभव का लाभ उठाना चाहिये। सब जानते है कि किसी भैंस का कोला की एक बोतल से काम चलने वाला नही है १०-३-९ दै०

से कम मे उसका काम नही सरेगा, अत तय है कि कपनी की बिक्री बढ़ेगी और भारतीय धन/पशुधन दोनो एक गप मे फिजूल चले जाएँगे। यह बदकिस्मती है। क्या हम बहुराष्ट्रीय कम्पनियो की इस चालबाजी को समझने की कोशिश कभी करेंगे?

विज्ञान की ईजादो और नयी तकनीको का इस्तेमाल कर नभ, थल, जल के प्राणियो के प्राण लिये जाएँगे और हमारे पर्यावरण-तन्त्र को निकम्मा और असतुलित कर दिया जाएगा। हिंसा के अर्थशास्त्र ने विज्ञान की लाठी थाम कर अब जिन हथियारो का उपयोग शुरू किया है, उनमे सबमे घातक है जिनेटिक इजीनियरिंग (आनुवशिक यान्त्रिकी)। उसने अनियन्त्रित प्रजनन की बागडोर अपने हाथ मे ले कर जो अतिरिक्त उत्पादन शुरू किया है, उसमे पर्यावरण तो डगमगायेगा ही, लोगो का एक-दूसरे पर ये भरोसा भी उठ जाएगा।

दुनिया के तमाम देश एक-दूसरे से अधिकतम छीनने-झपटने मे लगे है। भारत का सोचना है कि, वह निर्यात के रूप मे दुनिया से काफी कुछ छीन लेगा, किन्तु यह उसकी गलतफहमी है। असलियत यह है कि लूटा वह खुद जाएगा। दूसरे मुल्को ने उसे लूटना शुरू कर भी दिया है। नतीजे सामने है। कुछ आ गये है, कुछ आने को है। विश्वीकरण की प्रवृत्ति ने देशवासियो को कही किसी सिरे से ऊँचा उठाया हो, यह नही दिखायी दे रहा है बल्कि जो दिखायी दे रहा है वह यह कि लोग मिथ्या दभ, फैशन, शौक, व्यसन आदि मे बुरी तरह धँस रहे है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियो और



पोल्ट्री/मीट लॉबियो ने उल्लेखनीय रकमे चुका कर अब वैज्ञानिको/लैबोरेटरियो से वह कहलवाना भी शुरू कर दिया है, जो उनके व्यापार-धन्धे के लिए मुफीद है। प्रचार-तन्त्र ने भी कई नये द्वार और सपर्क खोल लिये है। हमे नही लगता कि शोषण का जो चक्र शुरू हुआ है, वह किसी तरह रुकेगा, किन्तु तय है कि इसके दुष्परिणाम जल्दी ही प्रकट होने लगेगे।

सहअस्तित्व और अहिंसा पर्याय शब्द है। जैसे ही हम अन्य जीवधारियो के साथ जीते रहने की बात मान लेते है, हमे उनके प्रति दया, करुणा और अहिंसा की दृष्टि अपनानी पडती है। सहअस्तित्व का उसूल मान कर फिर हम अन्य प्राणियो के साथ न तो क्रूर बर्ताव कर सकते है, और न ही उन्हे मार सकते है, हॉं, हम यदि चाहे तो अपने जीवन को सुख-सुविधामय बनाने के लिए उनसे न्यायोचित सहयोग अवश्य ले सकते है, बशर्ते हम इस सहयोग के बदले उनके साथ सद्व्यवहार का सकल्प करे।

हिंसा और सहअस्तित्व समानान्तर नही चल सकते। जहॉं हिंसा हो, वहॉं विपक्ष बचे, यह सभव ही नही है। सक्षेप मे **अहिंसा और सहजीवन तो सभव है, किन्तु हिंसा और सहजीवन सभव नहीं है।** आज हम बात तो सहअस्तित्व की कर रहे है, किन्तु हमारे आचरण मे दोगलापन है। हम अपने सहवर्ती प्राणियो पर तरह-तरह से हमला कर रहे है। उन्हे नष्ट कर रहे है। हमने उनकी कई प्रजातियो को सर्वनाश के सकट मे डाल दिया है। जिन जीवधारियो का जीवन सकट मे है, उनकी सख्या कम नही है। जो ऑंकडे सामने आये है, वे घबराहट पैदा करने वाले है।

'परस्पर सहयोग' से हमारा आशय एक व्यापक भाईचारे से है। आज दुनिया का कोई मुल्क निर्विघ्न नही है। सब एक-दूसरे को सदेह और अविश्वास की नजर से देख रहे है। सब अपनी रक्षा के लिए हथियार जुटाने मे लगे है। कुछ ऐसे देश है जो हथियार बेचने के लिए जगखोर आदतो को बढ़ावा देने मे लगे है। इनके लिए दुनिया के विकासशील देशो को आपस मे लडने के लिए कटिबद्ध रखना जरूरी है। जब तक हम एक-दूसरे को समझेगे नही, तब तक यह सभव नही होगा कि हम परस्पर सहयोग की भावना को समृद्ध करे। सुनिश्चित है कि भ्रातृत्व-की-भावना अहिंसा-की-जमीन पर ही जड पकड सकती है हिंसा की बजड जमीन पर इसके पनपने की कोई सभावना नही है।

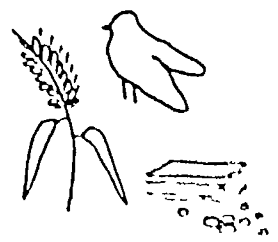
विकृतियो का विश्वीकरण हुआ है। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी ने गुत्थी को और उलझा दिया है। सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से जटिल होने के साथ ही व्यक्ति अपने भीतर भी काफी गुत्थमगुत्थ हुआ है। आज व्यक्ति को जानना/उसे भाँपना बहुत कठिन हो गया है। वह इतना अनिश्चित है कि किसी भी क्षण किसी भी तरह का बर्ताव कर सकता है। दोगलेपन ने उसके चरित्र को दूषित/खण्डित कर दिया है। वह विश्वसनीय नही रहा है। उसकी कथनी-करनी मे एकरूपता नही है, अत जब तक हम एक सार्वभौम सादगी की ओर अग्रसर नही होगे, बात उलझती जाएगी। हमे अपने रहन-सहन, खान-पान आदि को किंचित् सादगी की ओर मोडना चाहिये। तय है कुछ लोग इसे पुरानेपन की ओर लौटना कह सकते है, किन्तु हमे इस तथ्य को नही भूलना है कि जिस तरह जटिलता का विकास हुआ है, उसी रौ मे सादगी का विकास भी हुआ है। यदि हम चाहे तो विकसित तकनीकी सवेदनशीलता के साथ भी सादगी की ओर कदम बढ़ा सकते है। यह भौतिक नही, बल्कि मानसिक सादगी है। ध्यान रहे **आदमी जैसे-जैसे सादगी और ऋजुता की ओर मुडेगा, वैसे-वैसे उसमे शक्ति-स्फूर्ति के नये स्त्रोत खुलेगे और मनुष्य अपनी निजता, सहजता, और स्वाभाविकता मे लौटना शुरू कर देगा।**

अहिंसा के अर्थतन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है मितव्यय/आवश्यक व्यय। आज व्यक्ति और समाज दोनो के जीवन मे अपव्यय बढ गये है। जहाँ पहले कभी दो लोटे जल से काम चल जाता था, आज सौ लोटे भी कम पडते है। कारखानो मे पानी की खपत बढ़ गयी है, शौचालयो की नयी व्यवस्था ने पानी की खपत मे वृद्धि की है, डिटर्जेण्ट ने जल के उपभोग मे बढ़ोतरी की है (पश्चिम ने डिटर्जेण्ट के उपयोग पर बदिश लगा दी है, हम उसके खतरो को अभी पहचान नही पाये है), कत्लखाने, पौल्ट्रियाँ, हैचरीज आदि जल के बहुत बडे शोषक है – इनके अलावा कई उत्पादनो मे पानी के अविवेकपूर्ण इस्तेमाल ने भी समस्या को उग्र बनाया है। जल तो एक मिसाल है, वस्तुत हमने प्राकृतिक साधनो का जो अपव्ययमूलक दोहन शुरू किया है, उससे हमारे अर्थतन्त्र को भारी धक्का लगा है। आज हमारे जीवन मे कागज का उपयोग अपनी चरम सीमा पर है। कागज की वजह से हमारी वन-सपदा उजड रही है। हम किसी भी चीज के दुबारा उपयोग के लिए तैयार नही है। 'काम मे लो, और फेको' (थ्रो अवे कल्चर) ने हमे अपनी जहरीली गिरफ्त मे ले लिया है। चारो ओर कचरे के ढेर लग गये है। अन्तरिक्ष भी इस कचरे से नही बचा है। इस 'जक' से निबटना मुश्किल हो गया है। एक मुल्क दूसरे मुल्क को जक के इस्तेमाल की टेक्नॉलॉजी निर्यात कर अपने देश का जक उस पर थोप रहा है। 'रिसाइक्लिग' की क्रिया शुरू तो हुई है, किन्तु हमारा ध्यान मितव्यय या किफायत पर नही है। **अहिंसा**

का जोर दोहरा है, वह जहाँ एक ओर जितना जरूरी हो उतना खर्च/उतनी खपत पर ज़ोर देती है, वहीं वह वस्तु के सपूर्ण/यथोचित उपयोग पर भी बल देती है। असल मे, उपभोग के क्षेत्र मे हमे सयत और परिमाणोन्मुख होने की जरूरत है। हमे यह देखना है कि धरती पर सिर्फ हम ही नही है, हमारे अलावा और भी है, जिनकी साझेदारी उम सबमे है जिसका उपभोग हम कर रहे है। कही भी हमारा कोई एकाधिकार नही है।

पश्चिम की फिजूलखर्ची के असर मे 'थ्रो अवे कल्चर' व्यक्ति/राष्ट्र के जीवन का अग बनती जा रही है। अब उसने मन के भीतर भी पाँव पसारना शुरू कर दिया है, यही सबब है कि अन्य जीवधारियो को हम जड वस्तु मानने लगे है। वस्तुत जब तक हम अपव्यय पर अकुश नही लगायेगे और मितव्यय को अपनी जीवन-शैली का अभिन्न अग नही मानेगे, एक सुखद भविष्य की रचना नही कर सकेगे।

कुल मिला कर जीवन की जिस गुणवत्ता को हम हिंसा के रास्ते चल कर गँवा बैठे है, उसे लौटाने के लिए हमे अहिंसा-का-मार्ग फिर पकडना होगा। हमे यह जानना होगा कि अहिंसा-के-अर्थतन्त्र मे मनुष्य (प्राणिमात्र) मुख्य और अन्य सब गौण है और हिंसा-के-अर्थतन्त्र मे मनुष्य (प्राणिमात्र) गौण और अन्य वस्तुएँ मुख्य है। □



अहिसा का स्वरूप

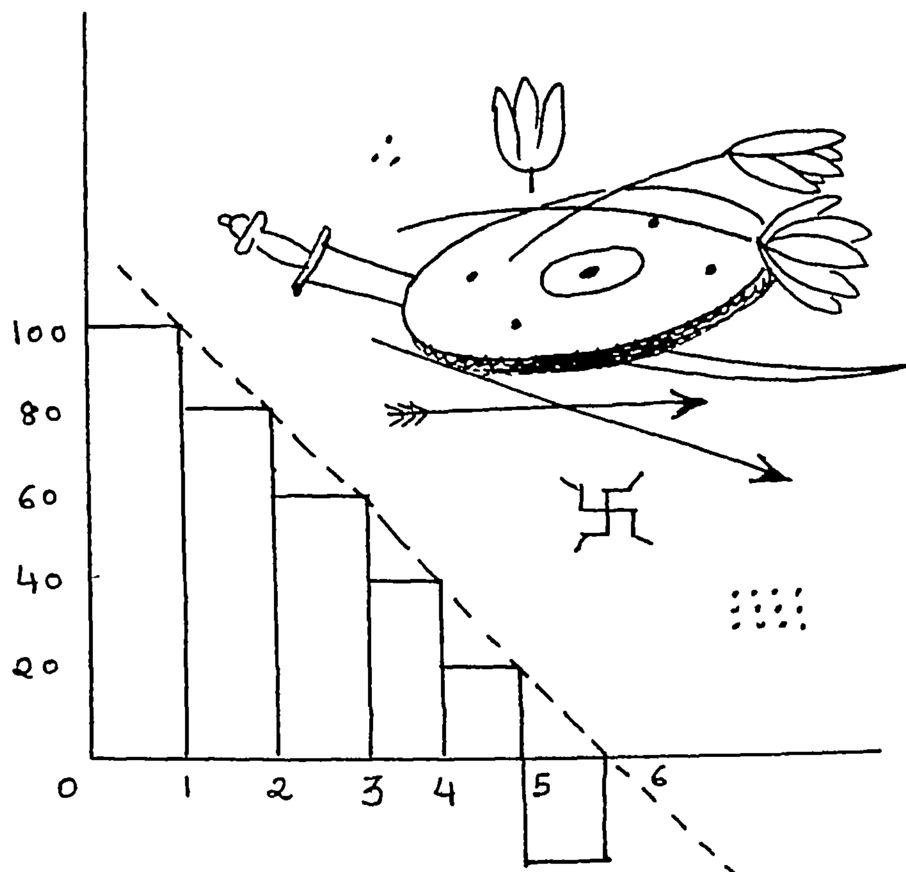
अहिंसा के अर्थशास्त्र का ककहरा करुणा से शुरू होता है। करुणा और अनुकम्पा मनुष्य की मूल वृत्तियाँ है। मनुष्य ही क्यो, बल्कि हम कहेगे कि ये प्राणिमात्र की मौलिक चित्तवृत्तियाँ है। शेर और भेडिये की रक्त-पिपासु दाढो मे तक करुणा की झिरियाँ होती है। माना, यद्यपि, यह करुणा उनकी सतति तक सीमित रहती है, तथापि हम इसका अन्यत्र विस्तार भी देखते है।

आज हालात बिलकुल उलट गये है। हिंसा ने जिस तरह जीवन मे अन्धा प्रवेश पा लिया है, खिड़की-दरवाजे खोल लिये है, अहिंसा को उस तरह अपनी सशक्त अभिव्यक्ति के लिए कोई छोटी-सी दरार भी नही मिल सकी है। हिंसा हमारे जीवन की सहज अनिवार्यता हुई जा रही है और अहिंसा की ओर हमारी नजर बिलकुल नही है। अखबारो की सुर्खियो मे क्रूरता लगातार बनी रहती है, किन्तु जब करुणा और सदाचार-निष्ठा की कोई खबर होती है तब उसे अनदेखा कर दिया जाता है, या एक छोटे कोने मे डाल दिया जाता है, जहाँ वह लगभग निष्क्रिय हो पड़ती है।

या दिल भी दुखता है, या उसके चित्त को कही कोई आघात पहुँचता है तो वह भी हिंसा है। अहिंसा की सूक्ष्मतम आकृति की समीक्षा और उसके लघुत्तम रूप का चरित्र मे उन्मेष हमारे देश के ऋषि-मुनियो/ सत-सूफियो ने प्रकट किया है। उसकी हर छोटी-बड़ी शक्ल को जी कर बताया है। जब सत नरसी मेहता कहते है कि "वैष्णव जन तो तेने कहीये जे पीड पराई जाणे रे' तब उसके इस स्वर मे सपूर्ण देश के ग्राम-नगर बोलते है, झकृत होते है। 'किसी सम्प्रदाय मे कैद शब्द नही है, बल्कि वह हर करुणावान् व्यक्ति के लिए प्रयुक्त शब्द है। यहाँ साफ-साफ कहा गया है कि करुणा की फुहार स्वय मे-से स्फूर्त हो कर अन्यो के दुःख-दरद तक पहुँचती है। 'मुझे भले ही कष्ट हो, किन्तु किसी अन्य प्राणी को किंचित् कष्ट न हो' की भावना अहिंसा के अर्थशास्त्र की अविचल आधार-भूमि है।

दूसरी ओर हिंसा का अर्थशास्त्र है कि चाहे जिस का अस्तित्व-शेष हो, हमे तो सुख-सुविधा/भोग-विलास चाहिये। कत्लखानो आदि के पीछे मनुष्य की यही क्रूर वृत्ति बन्दूक लिये खड़ी है। जब तक जीवन मे-से रागद्वेष और प्रमाद (असावधानी) को विदा नही किया जाता, प्राणिमात्र के जीवन की सुरक्षा के प्रति कोई करुणा/स्वस्ति/आश्वस्ति सभव नही है।

पश्चिम के मुल्को मे 'प्राणि' शब्द पर अधिक विचार नही हुआ है। वहाँ मनुष्य ने स्वय को सर्वोपरि माना है और अपने, तथा अपनी सुख-सुविधाओ के लिए कुछ भी करने की तैयारी व्यक्त की है। यही वजह है कि पश्चिम के देश पशुओ को अनुभूतिशून्य मास-मशीन मानते है। जिस तरह कोई वाशिंग मशीन या अन्य जड़ मशीन होती है, ठीक वैसे ही भेड़-बकरी/गाय-बैल/ऊँट-जिराफ को इन देशो मे 'मीट-मशीन' माना जाता है। उन्हे अन्न दिया जाता है और बदले मे मास लिया जाता है। पश्चिम का आदमी अन्न कम खा कर मास प्राप्त करने के लिए उसे पशुओ को खिलाता है और इस तरह मास मडी मे लाता है। इसे उसने 'फूड-प्रोसेसिंग' (खाद्य-समाधन) जैसे भ्रामक नाम दिये है और जो मास नही खाते उन्हे बरगलाया है। आज वह रोज-ब-रोज लाखो-लाख पशु-पक्षियो की जाने ले रहा है। इस काम के लिए उसने बड़े-बड़े कारखाने खोल लिये है और प्रयोगशालाओ मे प्रजनन-सबन्धी नाना प्रयोग किये है। कृषि (भूमि-से-सबन्धित) को उसने विकृत किया है। अब वह मास, मछली, अडे, खरगोश, केचुए इत्यादि की खेती-बाड़ी करने लगा है। अपने भोग-विलास/जीभ-जायके के लिए उसने जीवधारियो का कत्लेआम न सिर्फ अपनी धरती पर वरन विकासशील (डेवलपिंग) देशो की धरती पर भी शुरू कर दिया है। सयम की जगह उसने असयम और स्वेच्छाचार को दे दी है। ध्यान रहे अहिंसा के अर्थशास्त्र मे सयम और मितव्ययिता का सर्वोपरि स्थान है जबकि हिंसा की जमीन पर खड़े अर्थशास्त्र मे



तृष्णा, सग्रह और असयम को भरपूर छूट है। इस असयम और खुले भोग-विलास की सतृप्ति के लिए उसने किस्म-किस्म की खोजे की है और तमाम जीव-जन्तुओ के साथ क्रूरतम खिलवाडे की है। उसने जल, थल, नभ–सर्वत्र हिंसा का परचम लहरा लिया है। अब वह इसे अपनी गौरवशाली उपलब्धि भी मानने लगा है।

यदि हम चाहते है कि न सिर्फ मनुष्य अपितु जगत् के समस्त जीव-जन्तु सुख-शान्तिमय निरापद-निर्विघ्न जीवन व्यतीत करे, एक-दूसरे की मदद मे खडे रहे तो हमे मार्वजनिक जीवन मे त्याग, नि स्वार्थ, निष्कामता, करुणा, और परस्पर-सहयोग जैसे जीवन-मूल्यो को जगह देनी होगी, उन्हे ससार के कोने-कोने मे ले जाना होगा। सयम और त्याग, मितव्यय और उत्सर्ग, बचत और समर्पण जब तक व्यक्ति और समाज के जीवन मे नही लौटेगे, ऐसा कुछ नही हो पायेगा, जिसे 'समग्र क्रान्ति' का नाम दिया जा मके। हमे जगत् की हर धडकन को प्रणाम करना होगा और उसे उसकी स्वाभाविक जिन्दगी के लिए आश्वस्त करना होगा। अहिंसा का अर्थशास्त्र त्यागमूलक अर्थशास्त्र है, भोगमूलक वह नही है। जब तक हम किसी और के लिए पहला कौर

छोड़ कर भोजन करने का संस्कार विकसित नहीं करेंगे, अहिंसा के अर्थशास्त्र की अ आ इ ई नहीं सीख पायेंगे। 'त्याग के साथ भोग' हमारे जीवन का रेखांकित सन्देश होना चाहिये।

यह धारणा ही गलत है कि यदि मनुष्य अन्य जीव-जन्तुओं को मार कर नहीं खायेगा तो उनकी संख्या इतनी बढ़ जाएगी कि वह संकट में पड़ जाएगा (आज क्या कम संकट में वह है?)। सचाई यह है कि प्रकृति का साम्राज्य असन्तुलन नहीं, वरन् सन्तुलन पर टिका हुआ है। उसमें सर्वत्र-सदैव एक अद्भुत-अपूर्व सन्तुलन बना रहता है। उसकी पुनरुपयोग-प्रक्रिया (प्रासेस ऑफ रिसाइक्लिंग) निरन्तर सक्रिय रहती है। उसके अर्थतन्त्र में कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं है। सब एक-दूसरे पर निर्भर हैं, किन्तु एक-दूसरे से शोषित नहीं हैं। मनुष्य को छोड़ शेष तमाम जीव-जन्तु संयम और सन्तुलन की जिन्दगी जीते हैं। यहाँ तक कि पेड़-पौधों की जिन्दगी का भी अपना एक संवेदनशील सन्तुलन-बिन्दु है।

हम जिन्हें जलचर कहते हैं, प्रकृति के सन्तुलन में उनकी भी एक वृहत् भूमिका है। गहन मछुवाही (डीप फिशिंग) द्वारा प्रकृति में हम जो असन्तुलन/वैषम्य उत्पन्न कर रहे हैं, उससे समुद्र के गर्भ में जो मरुस्थल बनेगा (बनने लगा है, अभी हमारे सामने तज्जनित भयावह दृश्य उपस्थित नहीं हुआ है) वह जल्दी ही संपूर्ण जगत् को निगल जाएगा। थलचरों का वध कर आदमी जमीन को बंजड़ बनायेगा और नीली क्रान्ति (ब्ल्यू रिवोल्यूशन) के नाम पर जलचरों की जानें ले कर समुद्र को उजाड़ेगा। असल में आज का आदमी अपनी बदहवासी में आगामी पीढ़ी को अभिशप्त कर रहा है। उस पर तो ईसा मसीह के वे अल्फाज लागू पड़ते हैं जो उन्होंने सलीब पर कहे थे-'इन्हें माफ कर दे, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं'। ईसा ने तो अपने प्रभु से क्षमा कर देने की प्रार्थना की थी, किन्तु आने वाली पीढ़ी मनुष्य को न तो माफ कर देने के लिए कोई प्रार्थना करेगी और न ही उसे किसी तरह बख्शेगी, बल्कि उसका नामोनिशाँ मिटा देगी।

हिंसा की जो व्याख्या जैनागम में दी गयी है, वह काफी महत्त्व की है। कहा गया है-प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा (रागद्वेष/असावधानी में जो प्राण-वध होता है वह हिंसा है)। प्रमत्त योग क्या है? सीधे-सरल शब्दों में प्रमत्त-योग आचरण में प्रमाद के आ जुड़ने को कहा गया है। जब हम किसी के प्राण किसी राग या द्वेष के कारण अथवा किसी गफलत में लेते हैं, तब हमारी वह क्रिया हिंसा के अन्तर्गत आती है। हम पशुओं को मारना चाहते हैं। यह हमारा स्वाद-राग है। हमें आहार चाहिये, फिर चाहे कहीं भी, कुछ भी घटित क्यों न हो। हमारा यह जो रवैया है इसे ही प्रमाद कहा गया है। जब ऐसा प्रमत्त (प्रमादपूर्ण) आचरण किसी के प्राणवध का

कारण बनता है, तब उसे हिंसा कहा जाता है। जब हम किसी को किसी शत्रुता की वजह से मार डालते है, तब उसे भी हिंसा कहा जाता है।

एक ओर राग सक्रिय है, दूसरी ओर बैर-भय। जब तक हम अभय-की-भावना से स्फूर्त नही होगे, अहिंसा का कोई अर्थ नही होगा। हमे, वस्तुत किसी एक या किन्ही दो प्राणियो के लिए नही वरन् दुनिया के तमाम जीवधारियो के लिए अहिंसक व्यवहार अपनाना होगा और तय करना होगा कि मनुष्य और अन्य जीवधारियो के बीच के सबन्ध किस तरह के हो? क्या मनुष्य अपने ऐशोआराम के लिए अन्य जीवों की जाने ले? क्या अन्य जीव-जन्तुओ के प्रति सम्मान (रेवरेंस) की भावना न रखे? क्या वह उनके साथ सहअस्तित्व की शुभाकाक्षा के साथ अपनी जिन्दगी बसर न करे?

इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि हमे सपूर्ण जगत् मे अभय-की-भावना का जयघोष करना चाहिये, ऐसी अभय भावना का जिसकी उदार छवि मे न तो एक मनुष्य किसी अन्य मनुष्य से भयभीत हो और न ही उससे, कोई जीव-जन्तु खौफ खाये या आतंकित हो। जब तक हम इस जगत् मे एक निरापद/अभीत वातावरण की रचना नही करेंगे तब तक इस धरती को स्वर्ग बनाने की बात तो हम कर सकेंगे, किन्तु इसे स्वर्ग शायद कभी बना नही पायेंगे।

आज हिंसा करते-करते मनुष्य ने उससे आनन्द लेना शुरू कर दिया है। वह मनोरंजन, विनोद के लिए भी हिंसा करता है। सर्कस, फिल्म, खेल और शिकार उसकी इसी तरह की प्रवृत्तियां है। पींजरो मे पशु-पक्षियो को कैद करना भी ऐसा ही है। सोचे, कि क्या हम जितने आजाद स्वय रहना चाहते है, दुनिया के और-और जीव-जन्तु क्या उतने आजाद नही रहना चाहेंगे? क्या हमे जीने का अधिकार है तो उन सहचारी जीवधारियो को जीने का कोई हक नही है? क्या वे इस धरती के बाशिन्दे नही है? इसलिए हमे सर्वप्रथम भावना-शुद्धि की ओर ध्यान देना होगा।

अभय के बारे में एक बात और। जिसे हम धर्म-निरपेक्षता (सर्वधर्मसमभाव) कहते हैं—सेक्युलरिज्म—वह अभय की पृष्ठभूमि पर ही पल्लवित हो सकती है। जब तक हम एक-दूसरे से भयभीत रहेंगे, तब तक धर्म-निरपेक्षता/धर्मसमभाव की वृत्ति निष्क्रिय रहेगी, अतः हमें पता करना चाहिये कि उन स्थितियों का जहाँ हम एक-दूसरे से डरे हुए हैं, अथवा भयभीत रहते हैं।

अहिंसा अभय की माँ है। हिंसा स्वार्थ को जन्मती है, अहिंसा निःस्वार्थ को, अतः हिंसा से सीख और अहिंसा से अभय को स्फूर्ति मिलती है। जब तक हम अपने सामाजिक जीवन में अभय को नहीं टाँकेंगे, तब तक कोई कारगर रास्ता, कोई सटीक मार्ग निकले इसकी संभावना कम ही है। हमें चाहिये कि अभय को हम जीवन में जहाँ-जहाँ भी पहुँचा सकते हों, अवश्य पहुँचायें। हम जानें, कि हिंसा की अर्थ-व्यवस्था लूटखसोट में विश्वास रखती है जबकि अहिंसा की गोचरी/भ्रमरवृत्ति में, हिंसा परिग्रह पर खड़ी होती है, अहिंसा अपरिग्रह पर—दोनों की संरचना में मौलिक अन्तर है। एक में स्वार्थ, शोषण, छीन-झपट, रक्त-पात आदि हैं, दूसरी में निःस्वार्थ, त्याग, समर्पण और सहयोग-सहानुभूति। स्वार्थ और शोषण भय उत्पन्न करते हैं, निःस्वार्थ त्याग और अभय। अहिंसा का अर्थतन्त्र एक-दूसरे की स्वाधीनता को सम्मान देता है और अत्यन्त निष्काम भाव से एक-दूसरे के सहयोग के लिए यत्न करता है। इस तन्त्र की बुनियाद है—न डरें, न डरायें, रहें, रहने दें जियें, जीने दें। भयमुक्त/निःशंक जीवन अहिंसा के अर्थशास्त्र की सर्वोत्तम फलश्रुति है।

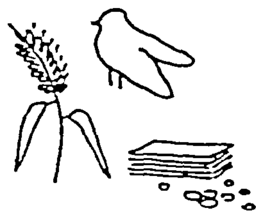
जैनागम में ऐसे तीन शब्द हैं, जिन्हें अहिंसा के अर्थशास्त्र की नींव की ईंट बनाया जा सकता है, ये हैं—अतिथि-संविभाग, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदण्ड व्रत। श्रावकों के लिए जैनाचार में १२ व्रतों का उपदेश है। इनमें से ३ गुणव्रत (दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत) ४ शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत तथा अतिथि-संविभाग) एवं ५ अणुव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) हैं।

गुणव्रत आचरण की गुणवत्ता (क्वालिटी) का संवर्धन करते हैं, शिक्षाव्रत जीवन को अनुशासनबद्ध बनाते हैं तथा अणुव्रत आधार-स्तम्भ हैं। ये जीवन का इतना प्रशस्त करते हैं और [illegible] है।

काम मे लेते है, उनके बारे मे तय करे कि हम उन्हे कितना-कितना काम मे लेंगे। इस दृष्टि से न तो हम वस्तुओ का सग्रह करेगे और न ही उनकी फिजूलखर्ची। यह व्रत जीवन के चारो ओर सयम और सतुलन की मेड खडी करता है ताकि असयम फसल को व्यर्थ ही चर न जाए। अतिथि 'मुनि' का पर्याय शब्द है, किन्तु हम यहाँ इसका एक नया अर्थ और ले रहे है—अपरिचित जरूरतमद, अत इसका अर्थ हुआ अपनी वस्तुओ मे अपरिचित के साथ विवेकपूर्ण भागीदारी। अपनी सुख-सुविधाओ तथा दूसरो के दु ख-दरद के बीच सवाद और तदनुसार मदद। 'सविभाग' शब्द का अर्थ है सतुलित एव विकेन्द्रीकृत सहयोग, हिस्सेदारी।

विकेन्द्रीकरण अहिंसा के अर्थशास्त्र की आत्मा है। अणुव्रतो मे वैसे पाँचो की अपनी-अपनी भूमिकाएँ है तथापि अहिंसा और अपरिग्रह ऐसे व्रत है, जो व्यक्ति और समाज के जीवन को निश्चय ही अधिकाधिक निर्विघ्न एव सुख सम्पन्न बना सकते है।

हमे विश्वास करना चाहिये कि हम जिन गुणो को निजी कहकर अक्सर टाल देते है, उन्हे यदि हम अपने रोजमर्रा के जीवन की बुनियाद बनाये तो अहिंसा के अर्थशास्त्र को एक ठोस आकृति मिल सकती है। हमे चाहिये कि जिस तरह विनाशकारी शक्तियो ने हिंसा को 'ग्लोबलाइज' किया है, हम भी अहिंसा की हैसियत और ताकत का सार्वभौमीकरण (ग्लोबलाइजेशन) करे और दुनिया को बता दे कि अहिंसा की झोली मे ऐसा कुछ विलक्षण भी है जो दुनिया को उखडने, ध्वस्त और बर्बाद होने से बचा सकता है। □



हक और हकीकत

अहिंसा का अर्थशास्त्र तीन प्रमुख प्रवृत्तियो पर अवस्थित है—ये है स्वावलम्बन, अपरिग्रह, विकेन्द्रीकरण। उसका मानना है कि जहाँ पराधीनता, परिग्रहण और केन्द्रीकरण है, वहाँ दमन, दोहन, और हिंसा अपरिहार्यत है। इस सदर्भ मे गुजराती भाषा मे एक पुस्तक प्रकाशित हुई है—'सुदर दुनिया माटे सुदर सघर्ष' (१९९३, श्रीमती नदिनी जोशी)। इस किताब के अध्याय ३४ और ३५ अहिंसा के अर्थतन्त्र को बडी स्पष्टता से प्रतिपादित/ परिभाषित करते है। इन अध्यायो मे प्रो काओरु यामागुची (जापान) के ग्राम-अर्थतन्त्र (म्युराटोपिअन अर्थतन्त्र) की चर्चा की गयी है और कहा गया है कि यही एक ऐसा अर्थतन्त्र है जो हमारी आगामी समाज-रचना का सबल आधार बन सकता है। हो सकता है कुछ लोगो को यह रूढ और परम्परित दीख पडे, किन्तु अब जब तक मनुष्य इस ओर वापस नही होगा, उसके बीच के फासले बढेंगे और परिग्रह तथा पूँजी का अजगर उसे आमूलचूल निगल जाएगा। जो भारत हिंसा और परिग्रह के जहर से अब तक बचा हुआ था, आज वही उदारीकरण की फाँसी के फँदे मे लटका जीवन-मरण का सघर्ष कर रहा है। दुर्भाग्य से बहुराष्ट्रीय कपनियों के नाम पर देश का जो भी बचाखुचा ग्रामतन्त्र था वह भी सर्वनाश की ओर कूच कर गया है।

ऐसे भयावह क्षणो मे यदि हमने हक और हकीकत की ओर से अपनी आँखे मूँदी तो यह आदमी जो पूँजी का मालिक था, उसका एक सपूर्ण गुलाम बन जाएगा (बन गया है)। आज जगतवर्ती ग्राम (ग्लोबल विलेज) का मतलब पूरी दुनिया को एक ग्राम (विलेज) के रूप मे विकसित करने का है यानी सूचना-युग (इन्फर्मेशन एज) की तीव्रता का अड्डा बनाना है अर्थात् यह कहना है कि दुनिया इतनी सूचना-पराधीन हो पडेगी कि जैसे कोई बात गाँव मे जगल की आग की तरह फैलती-व्यापती है, वैसे दुनिया मे वह व्याप जाएगी। गाँव सूचनाओं से कराहने लगेगा। वह दलाल स्ट्रीट बन जाएगा। यह कल्पना या ख्वाब नहीं बल्कि एक भयानक दुःस्वप्न है, जो मनुष्य के अस्तित्व और उसकी अस्मिता के लिए प्रलयकारी सिद्ध होगा। इसमे दुनिया छोटी नहीं होगी और न ही लोग एक पड़ोसी की तरह एक-दूसरे से प्यार, और एक-दूसरे पर भरोसा करने लगेंगे बल्कि 'पास' आकर भी वे एक-दूसरे से कोसो 'दूर' पड जाएँगे।

मानिये, हिंसा, सत्ता और पूँजी पर खडा यह अर्थतन्त्र मनुष्य और मनुष्य, तथ मनुष्य एव प्रकृति के बीच ऐसे फासले खडे कर रहा है, जिन्हें कभी पाटना सभव नह होगा। आज मनुष्य ने प्रकृति को पूँजी कमाने का साधन/माध्यम बना लिया है, अत वह उसके अधिकतम शोषण मे लग गया है। अधिकतम के मकडजाल मे फँसा आदम अब सब ओर से विनाश के खौफनाक शिकजे का दबाव/कसाव महसूस करने लगा है उसके हाथ-पाँव एक ऐसे आर्थिक जाल मे फँस गये है, जिससे उभरना असभव-जैस हो गया है।

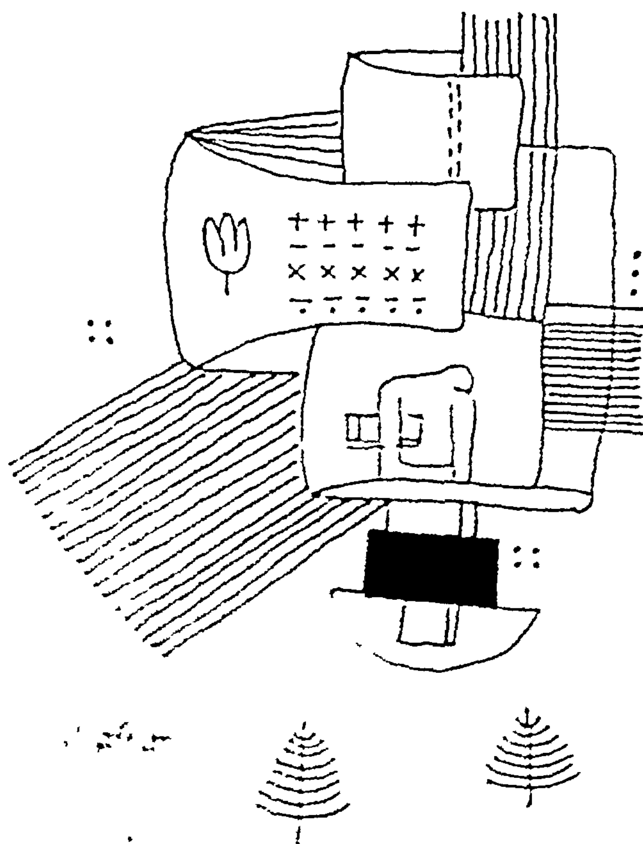
ऐसे मे 'ग्लोबल विलेज' का मतलब यदि हम वही लेते है, जो ऊपर दिया गर है तो हम मनुष्य को एक अभिशप्त भविष्य की ओर ले जाते है और यदि उसका अ हम यह करते है कि जो कुछ जगत् मे है वह हर गाँव मे हो तो हम जगत् को ए ऐसे नन्दन वन के रूप मे परिकल्पित करते है, जिसका शिल्पन गाँधी ने कभी कि था और जो कभी भारतीय अर्थतन्त्र की रीढ था। अहिंसा के अर्थतन्त्र का प्रथम औ सर्वोपरि लक्ष्य है एक अहिंसक अपरिग्रहमूलक ग्राम-इकाई को आविष्कृत/आर्विभू करना।

हमे यह भी ध्यान मे रखना होगा कि भारत सिर्फ अर्थतन्त्र ही नही है, बलि सस्कृति, सद्विवेक, अध्यात्म एव धर्म का समवेत सुविकसित तीर्थधाम भी है। भार एक ऐसा विश्व-स्थल है, जिसने अतीत मे कई आर्थिक, राजनीतिक, सास्कृतिव नैतिक, आध्यात्मिक एव धार्मिक सफल प्रयोग किये है, और विश्व-मानव को ए स्वच्छ छवि प्रदान की है। उसके अर्थतन्त्र की सबसे प्राणवान्, बलशाली एव ऊर्जावा इकाई थी ग्राम, वह ग्राम जिसे आज अनजाने मे पश्चिम के निरर्थक आवेश मे तहस नहस किया जा रहा है। आज हम एक ऐसे खतरनाक क्षण से गुजर रहे है, जहाँ अ और राजनीति के दबाव से हमारे ग्रामतन्त्र का चेहरा निस्तेज, और फीकाफस्स हुअ जा रहा है- हम बदले, किन्तु इस बात का ध्यान रखते हुए कि हमारी मौलिकताए बरकरार रहे और हमारा ग्राम परतन्त्र/परमुखापेक्षी न बने। यह सब-सारा तभी सभव है, जब राजनीति, समाज-व्यवस्था, न्याय-प्रबध, शिक्षा एव चिकित्सा आदि मे सुचिन्तित परिवर्तन लाया जाए, और समाविष्ट विकृतियो को दूर किया जाए।

श्रीमती नदिनी जोशी लिखती हैं कि 'आज से लगभग दो सदी पूर्व हमारे देश के ग्राम इतने सक्षम/स्वावलम्बी/समृद्ध थे कि प्रत्येक ग्राम स्वय पूरे जगत् का प्रतिरूप था। मैंने अपने पिताजी से सुना था कि सयुक्त राष्ट्र सघ मे जिन प्रश्नो की चर्चा होती है, उन तमाम प्रश्नो पर हमारे एक छोटे मे गाँव के चबूतरे पर भी चर्चा होती है। मात्र इन प्रश्नो का फलक छोटा है अन्यथा उनका स्वरूप तो एक-जैसा ही है।' इसका

मतलब है कि अहिंसा का अर्थतन्त्र प्रत्येक भारतीय ग्राम को एक ऐसे 'स्व-क्षम स्वतन्त्र ग्राम' के रूप में विकसित देखना चाहता है, जो लघु संयुक्त राष्ट्र संघ (मिनी यूनो) हो। ऐसे ग्राम पूँजी को ऋण करके ही उभर सकते हैं। जब तक हम विनिमय-पद्धति (बार्टर-सिस्टम) को नहीं लौटायेंगे, जीवन की गुणवत्ता (क्वालिटी) को लौटाना संभव नहीं होगा। जब वस्तुओं का विनिमय होगा, तब उनकी गुणवत्ता के साथ कोई बदसलूकी नहीं कर पायेगा। मूल वस्तु के साथ मूल वस्तु का विनिमय होगा। ऐसे में वे सारे व्यय और विकार आपोआप घट या हट जायेंगे, जो वस्तु की मौलिकता को अवमिश्रित करते हैं, और उसके साथ अन्धी व्यापारिकता को जोड़ते हैं। गाँधीजी ने ऐसे ग्रामतन्त्र के अन्तर्गत विकसित ग्राम को 'स्वर्ग-का-बगीचा' कहा है।

हमारा यह मानना है कि 'भारतीय ग्राम तक विकास-की-झिरी शहरों से, या दुनिया के विकसित मुल्कों से पहुँचेगी।' यह गलत है। ऐसा करने या कहने से हमारी बुनियाद कमजोर होगी। सब जानते हैं कि जब तक समाज में समानता और अमन



आविर्भूत नही होगे, आतक और हिंसा बने रहेगे, तथा विकास के रुद्ध स्रोत खुल नही पायेगे। हम दो कदम आगे और बढ़ेगे और चार कदम पीछे आयेगे। यह गणित अवनति और विनाश का गणित है, इसे हम उत्थान और विकास का गणित नही कह सकते।

जब तक हम छोटे पैमाने पर, बैको-के-जाल से मुक्त हो कर- उत्पादन की प्रक्रिया मे नही आयेगे, यह असभव ही होगा कि हम मनुष्य और मनुष्य के मध्यवर्ती फासलो को घटा पाये। जब नफे की जगह समाज/जनहित के लिए उत्पादन की शुरूआत नही होगी, नयी समाज-रचना का शिलान्यास सभव नही होगा। यह मान कर चलना कि अर्थतन्त्रके बीज विकसित देशो से आयेगे, और उनकी स्वस्थ फसले भारतीय ग्रामो मे पनपेगी, बुनियादी तौर पर ही गलत है। हमारे गाँवो मे विकास की अनगिनत उर्वर सभावनाएँ (पोटेशिल्स) है, हम असल मे उनका कद छोटा करके उनके बारे मे सोचने लगे है, और उस 'अनखिले ज्ञान' (ग्राम-विज्ञान) को भूल रहे है, जो मैदान के जल को सिंचाई के लिए बगैर किसी यन्त्र की मदद के पहाडो पर चढा ले जाता है। मध्यप्रदेश के निमाड अचल मे इस तरह की सिंचाई-व्यवस्था को आज भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

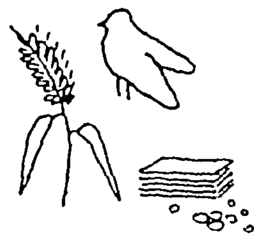
आज का उद्योगवर्ती अर्थतन्त्र प्रकृति को कमाई का साधन मान कर चलता है, उसके लिए पेड-पौधे, नदी-झरने, पर्वत-पहाड, वराह-हाथी, मछली-मुर्गी, केचुए-खरगोश सब कमाई के जरिये है, इसीलिए वह इन सब का क्रूरतम दोहन करता है, और उनके प्रति जो भी क्रूरतापूर्ण और असम्मानजनक सभव है, उसे करने से नही चूकता। यही कारण है कि आज के अर्थतन्त्र ने जीवन-के-प्रति-सम्मान की भावना को नष्ट कर दिया है, और वह सिर्फ पूँजी के पीछे पिशाच की भाँति पड गया है। अहिंसा-का-अर्थतन्त्र हिसा को छोटा/व्यर्थ करने का अर्थतन्त्र है। वह दुनिया के कोने-कोने मे हिसा और क्रूरता के कद को छोटा करना चाहता है, और चाहता है कि सर्वत्र समता की सभावनाएँ फले-फूले। हमारी विनम्र राय मे जब दुनिया का हर गाँव स्व-क्षम जगत्वर्ती गाँव बनेगा तभी विश्व-शान्ति की कल्पना साकार होगी अन्यथा यह यावच्चन्द्रदिवाकरो स्वप्न बनी रहेगी।

जापान एक ऐसा देश है, जिसने औद्योगिक क्रान्ति का अधिकतम दोहन करते हुए भी प्रो काओरु यामागुची की 'सक्षम जगत्वर्ती ग्राम' (सस्टेनेबल ग्लोबल विलेज) की अवधारणा को जन्म दिया है। प्रो यामागुची ने इस ग्राम-अर्थतन्त्र को 'म्युराटोपियन अर्थतन्त्र' का नाम दिया है। 'म्युरा' जापानी का शब्द है, जिसका अर्थ है ग्राम - एक ऐसा ग्राम, जहाँ के लोग आत्मनिर्भर हों, परम्परित रीत-रिवाजों मे

आस्था रखते हो, प्रकृति के प्रति जिनके मन मे सम्मान की भावना हो, और जो अन्तराल में एक-दूसरे की मदद के लिए कमर कसे हो। जब हम 'म्युरा' शब्द का विश्लेषण करते है तब हमे 'म्युराटोपिअन' अर्थतन्त्र की खूबियो का और अधिक गहराई से पता चलता है। 'म्यु' का अर्थ है 'न होना' (नथिंगनेस) तथा 'रा' का अर्थ है 'अपरिग्रह' यानी स्वामित्व-की-अनुपस्थिति'। यहाँ इस तरह 'म्युरा' का अर्थ हुआ 'कुछ न होना' अर्थात् मालिकी का विसर्जन, उसकी गैरहाजिरी। 'टोपिआ' ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है 'जगह'। इस तरह कुल मिला कर 'म्युरा' एक ऐसी जगह हुआ जहाँ आगामी युग की नयी समाज-रचना का सूत्रपात होगा।

सहज ही सवाल उठता है कि इस नयी समाज-रचना के आधार क्या होंगे?

आज हम देख रहे है कि यन्त्रोद्योग-प्रधान-रचना सफल नही हुई है। चारो ओर प्रदूषण है, महामारियाँ है, भुखमरी और गरीबी है, कृत्रिम अभाव बने हुए है। पूँजीखोर-बाजारोन्मुख-सट्टेबाज अर्थतन्त्र ने विश्व-की-रीढ क्षत-विक्षत कर दी है। साम्यवादी अर्थतन्त्र परास्त हो चुका है। जो अर्थतन्त्र आज है, श्रीमती नंदिनी जोशी के अनुसार, उसके मुख्यत छह आधार है– १ एक-जैसा माल (स्टैंडर्डाइजेशन), २ सतुष्ट या एकांगी विकास (स्पेशियलाइजेशन), ३ प्रचण्ड व्यवस्था-तन्त्र (सिंक्रोनाइजेशन), ४ केन्द्रीकृत विकास (कंसेन्ट्रेशन), ५ अधिकतम कमाई का ध्येय (मॅक्सिमाइजेशन), ६ आर्थिक तथा राजकीय सत्ताओ का केन्द्रीकरण (सेन्ट्रलाइजेशन)। लेकिन जो ग्राम-तन्त्र क्षितिज पर आना चाहता है, उसके दो मुख्य आधार है- १ स्वावलम्बन, २ परोपकार या परस्पर-उपग्रह (एक-दूसरे की मदद अथवा एक-दूसरे के साथ जीवन्त जिम्मेदारी)।



निर्मानवीकरण

बीसवी सदी की सबसे बडी त्रासदी है मनुष्य का ठीक से मनुष्य न रहना और उसके चारो ओर एक ऐसे वातावरण का बन जाना जिससे उसके अ-मानुषीक (डीह्यूमेनाइज) होने की आशकाएँ बढती जाएँ। सही है कि 'डीह्यूमेनाइजेशन' की यह प्रक्रिया सार्वभौम है, और कोई देश इसके प्रहार/अभिशाप से बच नही पाया है, किन्तु इसमे अधिक पीडादायी यह है कि मनुष्य ने इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना पर न तो कोई चिन्ता ही व्यक्त की है और न ही आक्रोश। असल मे उसके व्यक्तिगत रागद्वेष इतने अधिक बढ गये है कि वह उनमे सिर-से-पैर तक लिप्त हुआ है। उसे इस बात का भान ही नही रहा है कि वह इस पृथ्वी का सर्वोपरि अस्तित्व है और उसके कुछ उत्तरदायित्व भी है। उसने अपनी व्यक्तिगत दिलचस्पियाँ और खुदगर्जियाँ इस हद तक विकसित कर ली है कि वह सहअस्तित्व के विचार को अकस्मात् नजरअन्दाज कर गया है। उसकी सवेदनशीलताएँ लगभग खत्म है, वह क्रूर और नृशस हुआ है। उसकी क्रूरता न सिर्फ अन्य जीवधारियो तक सीमित है वरन् वह प्रकृति को विकृत और असतुलित भी करने लगी है। यद्यपि युद्ध और सघर्ष की जो आशकाएँ बार-बार उसकी चौखट पर आ खडी होती है, उन्हे वह सहज ही टाल सकता है, किन्तु स्वार्थ और अहतुष्टि के आवेश मे वह वृहत्तर सामाजिक हितो को भूल कर अपने सकीर्ण हितो की पूर्ति को ही अन्तिम लक्ष्य मान बैठा है। यह अवस्था न सिर्फ दयनीय है, अपितु विस्फोटक भी है।

जब हम किसी युद्ध या सघर्ष की समीक्षा करते है, तब हमे स्पष्ट अनुभव होता है कि उसकी जड व्यक्ति-के-स्वार्थ मे गहरे कही है, वह इस तरह कुछ सोचने लगा है कि समाज चाहे ध्वस्त हो, किन्तु उसके व्यक्तिगत सुख-भोग अक्षत बने रहे। जन-जीवन मे इस तरह के दूषित चिन्तन के प्रवेश ने कई विकार उत्पन्न कर दिये है।

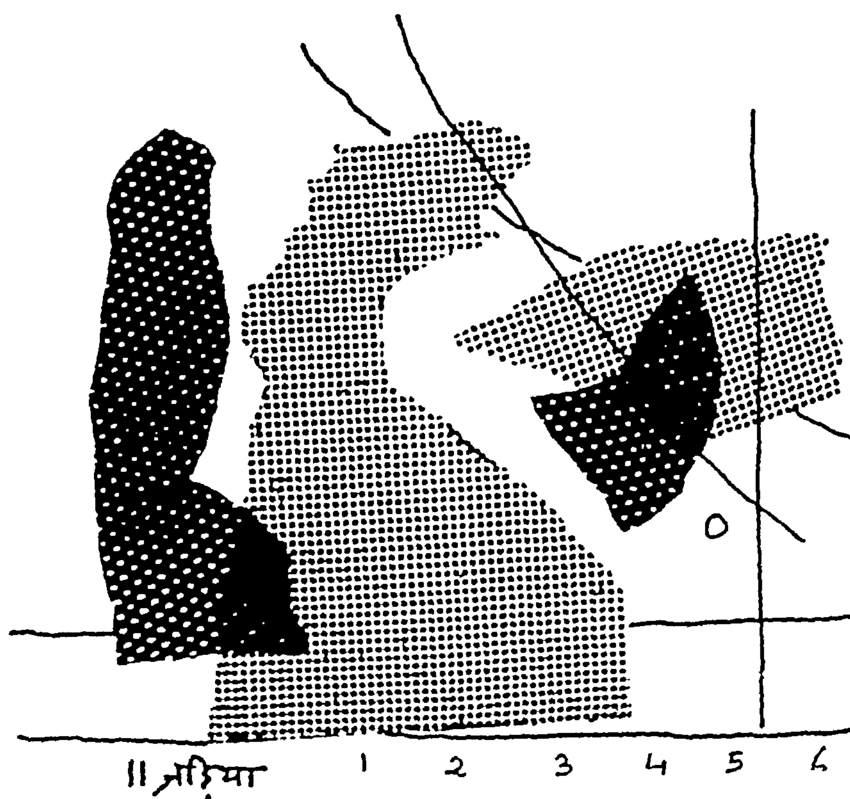
गत अर्द्धशताब्दी का पुनरवलोकन यदि हम करे तो पायेगे कि हमने अधिकाश युद्ध गलत शीर्षको के तले जूझे है। हमने कहा है कि 'हम शान्ति की स्थापना के लिए युद्ध लड रहे है' 'हम लोकतन्त्र की रक्षा के लिए जूझ रहे है', किन्तु विवेक और लोकहित की कसौटी पर जब हम इन शीर्षको की सरचना पर विचार करते है तब अन्तर्विरोध दिन-के-उजाले की तरह स्पष्ट हो जाता है। वस्तुत शान्ति के लिए कभी

कोई युद्ध चाहा ही नहीं जा सकता. जो भी युद्ध होगा वह किसी अशान्त/असामान्य/अतृप्त व्यक्ति के विकृत मन की विकृत उपज ही होगा। सामान्यतः सामान्य जन बहुत शान्ति और निर्विघ्नता की जिन्दगी बसर करना चाहता है। ऐसे में वह भला किसी ऐसे प्रलय की योजना क्यों करेगा जिसमें उसकी तमाम आत्मीयताएँ छिन्न-भिन्न होती हों और वह रोटी-रोजी-कपड़ा-छत-सेहत के लिए मोहताज हो जाता हो? दुखद यह है कि युद्धों में वे बेकसूर ही बर्बाद होते हैं, जिनका उनसे रत्ती-भर भी वास्ता नहीं होता। असल में जो लोग युद्ध लड़ाते हैं, वे अत्यन्त सुरक्षित रहते हैं उनका बाल भी बाँका नहीं होता। युद्धों में या तो सैनिक मारे जाते हैं या बेकसूर नागरिक, जंगखोर लोग हर हालत में बचे रहते हैं। उनकी सुख-शान्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्या हम युद्धों के उन कारणों की खोज नहीं करना चाहेंगे, जिनकी वजह से मानवता पर तबाही आती है और मनुष्य की गतानुगत सांस्कृतिक विरासत क्षण-भर में जमींदोज हो जाती है?

युद्ध का सबसे बड़ा कारण है परिग्रह - 'मुझे सर्वाधिक मिले। जो भी, जितना भी जिसके पास है- फिर चाहे वह किसी भी मुल्क या व्यक्ति का हो- सब मेरे अधिकार में हो। ऐसा करने में फिर चाहे जिसका सर्वस्व छीना-झपटा जा रहा है, नष्ट या ध्वस्त हो क्यों न हो जाए - इसकी चिन्ता उस शोषक मुल्क या शख्स को नहीं होती जो स्वार्थ के लिए युद्ध या युद्धों की शृंखला को तरजीह करता है। 'जो जहाँ है उसे समेट लो' की अतृप्त वासना लिए जो लोग हैं युद्धों के असली कारण वे ही हैं। इस निरंकुश वासना का नतीजा यह होता है कि मनुष्य नहीं रहता वह एक खूंखार जानवर की भूमिका में आ जाता है। आज अधिकांश राष्ट्रनेता - दुनिया के किसी भी देश के [illegible] अदा कर रहे हैं। कोई इस अतिक्रमण के कारण समृद्ध है तो कोई अभाव की [illegible] बनाए रहे हैं। हजारों बच्चे [illegible] वृद्ध [illegible] की [illegible] वासना के शिकार हो गए हैं।

अहिसा व्यक्ति के उत्थान और उन्नयन का ध्यान तो रखती है, किन्तु ऐसा करते हुए वह व्यक्ति को प्रतिपल/प्रतिपग लोकोन्मुख रखती है। अहिसा और शोषण, अहिंसा और परिग्रह स्वप्न मे भी साथ नही चल सकते।

पता नही कब किस दुर्भावनावश क्षण मे अहिंसा-जैसे निष्कलक जीवन-मूलक का राजनीतिकरण हुआ। आज राजनीति के लोग हिंसा-के-ध्वज के नीचे अहिंसा का उपदेश दे रहे है। उनकी पोशाक अहिंसा की है, किन्तु भीतर से वे शत-प्रतिशत हिंसक है। उन्हे इस बात का ध्यान ही नही है, या वे जानबूझ कर इस तथ्य से अपरिचित है कि अहिंसा-के-क्षेत्र मे शब्द और अर्थ, कथनी और करनी की एकता सर्वोच्च है। ऐसा सर्वथा असभव ही है कि कोई अहिंसा-मे-आस्था रखने वाला व्यक्ति बाते अहिंसा की करे और काम हिंसा का करे। आज बदकिस्मती से यही घटित है कि बाते अहिंसा की जा रही हैं और कदम-दर-कदम हिंसा और ध्वस, हत्या और रक्तपात के खेमे खडे किये जा रहे है। इस दोहरे आचरण के कारण आदमी मात्र औपचारिक रह गया है। वह कहने को आदमी है, किन्तु होने को या तो पशु है या बाजार की कोई बिकाऊ जिन्स। कितने भी आदमी मारे जाते है, तो भी किसी राजनीतिज्ञ को वास्तविक शोक नही होता, वह यदि खेद भी प्रकट करता है, तो सिर्फ

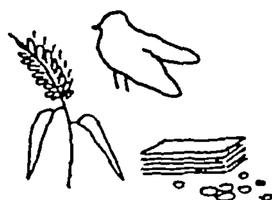


पर सबकी औपचारिकता के लिए। वस्तुतः राजनीति ने व्यक्ति की गरिमा और अस्मिता को तो आहत किया ही है, उसने समाज की मर्यादाओं तथा उसकी सदाचरणशीलताओं की होली भी जलायी है। आज न तो 'सामाजिक शील' जैसी कोई स्थिति शेष है और न ही व्यक्ति को नियन्त्रित करने का कोई मार्ग ही बचा है, सब कुछ ऐसे घालमेल में पट गया है कि हम सदियों तक इनकी अस्मिताओं को पहचान नहीं पायेंगे।

जीवन के लिए व्यक्ति में जिस उत्साह और रवानी की अपेक्षा थी, हिंसा ने उन तमाम आधारों को नष्ट कर दिया है। आम आदमी जी तो रहा है, किन्तु उसके भीतर जीने के लिए स्फूर्ति का जो उत्स चाहिये वह लगभग सूख चुका है। आदमी है, किन्तु क्यों है, अपने लिए कितना और अपने सहवर्तियों के लिए कितना इस नैतिक गणित की न तो उसे कोई जानकारी है और न ही कोई थाह या अन्दाज। वह अँधेरे की खोज में रोशनी से चल रहा है। अन्धे की हथेली पर दीया रखने से कोई लाभ नहीं है- यह जगजाहिर सचाई है। आज अन्धे के हाथ में मशाल है जो उसकी गर्मी तो महसूस कर रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से जो इस मर्म से अपरिचित है कि जो मशाल स्वयं हाथ में है उससे वह खुद भी तो देख ही सकता है, दूसरों के लिए भी एक नई किरण तो पैदा कर सकता है।

हमने इतना कुछ बर्बाद किया है कि सपूर्ण मानवता पूरी एक सदी तक सुख-शान्ति से जी सकती थी। हमने जगल बर्बाद किये है, स्वस्थ/दुर्लभ पशु-सपदा को नष्ट किया है, प्रकृति द्वारा प्रदत्त सपत्ति को अनियन्त्रित ढग से उस छोर पर ला खडा किया है, जिसके आगे नाश और दुर्भिक्ष के अलावा कुछ और है ही नही। हम पानी इतना पी गये है कि अब वह हमे पीने लगा है, हम पेट्रोल इतना जला चुके है कि अब वह मे जलाने लगा है। हमने पशुधन को इस तरह खतम किया है कि अब उसकी कई नस्लो ने लुप्त या दुर्बल होना शुरू कर दिया है। जल्दी ही एक ऐसा क्षण आने को है जब हम अपनी तमाम पशु-सपदा डकार चुके होगे और विश्व या प्रकृति के शव पर एक भीमकाय दैत्य की तरह खडे होगे, अत हमे उस जीवन-शैली को ही अपनाना होगा, जो अहिंसा की सुदृढ आधार-शिला पर अविचल खडी हो और प्राणिमात्र के मगल के लिए रेशा-रेशा समर्पित हो।

जो हो हमे 'डीह्यूमेनाइजेशन' की प्रक्रिया की तुरन्त समीक्षा करनी होगी और यह देखना होगा कि हम किस तरह उस पर नियन्त्रण पा सकते है। यदि हमने इस बिगडेल साँड को ठीक से नही नाथा और इसे निरकुश/उच्छृल चलने दिया तो वह दिन दूर नही है जबकि अखिल मानवता को कुछ बदमिजाज इसानो की वजह से सर्वनाश की दिशा मे मुड जाना पडे। वस्तुत यही वह नाजुक क्षण है जब हम भारतीय अर्थ-व्यवस्था की निष्पक्ष समीक्षा कर सकते है और देख सकते है कि जिस अर्थतन्त्र को हम उदारीकरण और प्राकृतिक स्रोतो के अनियन्त्रित/अदूरदर्शी दोहन पर खडा करने जा रहे है, वह भावी समाज के लिए कितना निर्विघ्न है। प्रश्न है क्या किसी विदेशी वणिक् को यह हक दिया जाना चाहिये कि वह हमारे हितो के बारे मे सोचे? क्या वह हमारी सपदा के बारे मे कोई मगल कामना रख पायेगा- उस सपदा के बारे मे जिसे हमने अपने वजूद से खीचा और पुष्ट किया है? क्या हम मूलत भारतीय अर्थ-व्यवस्था को सपदा-केन्द्रित रखे या मानव-हित-केन्द्रित? जब तक हम इन/ऐसे सवालो पर गभीरता से विचार नही करेगे, तब तक उस धुरी से स्खलित रहेगे, जिस पर अहिंसा-का-अर्थशास्त्र अनवरत गतिमान है। □



पृथ्वी पर प्रलय

हमारे सामने दो भयावह समाचार है- एक वियतनाम का, दूसरा अपने ही देश का। इन खबरो से इस सचाई की थाह सहज ही मिल जाती है कि मनुष्य दिनोदिन हिंसक, क्रूर, बेरहम और बर्बर होता जा रहा है।

वियतनाम के हैफग शहर की ख़बर नसो मे तूफान खडा कर देने वाली है। हैफग के टाम वाक स्ट्रीट स्थित ट्रग खच रेस्त्राँ मे बन्दर के मास को तरह-तरह से लजीज बनाया जाता है, इस तरह कुछ, कि उसे पढ़-सुन कर आदमी काँप उठता है, उसका जर्रा-जर्रा सिहर उठता है। आदमी इस तरह अपने पुरखो का मास चटखारे ले कर खा सकता है, इस पर बडी मुश्किल से भरोसा हो पाता है। रेस्त्राँ मे वानर मास (मकी मीट्स) की जो स्वाद-श्रृंखला दी गयी है वह इस प्रकार है- स्टिर फ्राइड मकी (विलोडित तला बन्दर), रोटी मकी (कूटा हुआ बन्दर) सट्यूड मकी (सिझाया हुआ बन्दर), मकी स्ट्यूड इन जिन्सेग (जिन्सेग मे सिझाया हुआ बन्दर), मकी स्ट्यूड इन चायनीज हर्ब्ज (चीनी जडी-बूटियो मे सिझाया हुआ बन्दर) ब्राडी मिक्स्ड मकी ब्रेन (ब्राडी-मिश्रित वानर-मस्तिष्क) तथा ब्राडी-मिक्स्ड मकी ब्लड (ब्राडी-मिश्रित वानर-रक्त)। इस तरह हम स्तब्ध रह जाते है कि मनुष्य कैसे-कैसे/किन-किन चटखारो से अपने पुरखो को खाने लगा है। निश्चय है कि यदि हिंसा और बर्बरता के इन दौर को नही थामा गया तो युद्धो, कत्लखानो और हत्याओ की सख्या बढ़ेगी और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को नोचने, चीथने, चबाने, खाने लगेगा।

दूसरी खबर हमारे अपने ही देश की है। पश्चिम बगाल के बैरकपुर कस्बे मे कुछ प्रयोग हुए है। भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् के वैज्ञानिको ने पता लगाया है कि खेत के कीट/जन्तुओ को यूरोप के पेट मे डालने के लिए डेलीकेसीज (स्वादिष्ट खाद्य) के रूप मे काम मे लाया जा सकता है। उनका ख्याल है कि ऐसा करने से देश को भारी विदेशी मुद्रा प्राप्त होगी।

अफ्रिका के 'अचानिन फुलिका' नामक घोघे को जर्मनी, रूस, बेल्जियम, नीदरलैंड्स तथा अन्य यूरोपीय मुल्को मे स्वादिष्ट व्यजन के रूप मे भेजा जाएगा। वहाँ इसकी बेहद माँग है। वैज्ञानिको ने इस जन्तु के बडे पैमाने पर उत्पादन की योजना तैयार की है। यह खबर नई दिल्ली से प्रकाशित अग्रेजी दैनिक 'हिन्दुस्तान

टाइम्स' के १२ जनवरी '९५ के अक मे पृष्ठ ५ पर विस्तार मे प्रकाशित है। पहली खबर 'इटरनेशनल प्राइमेट प्रोटेक्शन लीग' ने सितम्बर १९९४ मे प्रकाशित की थी।

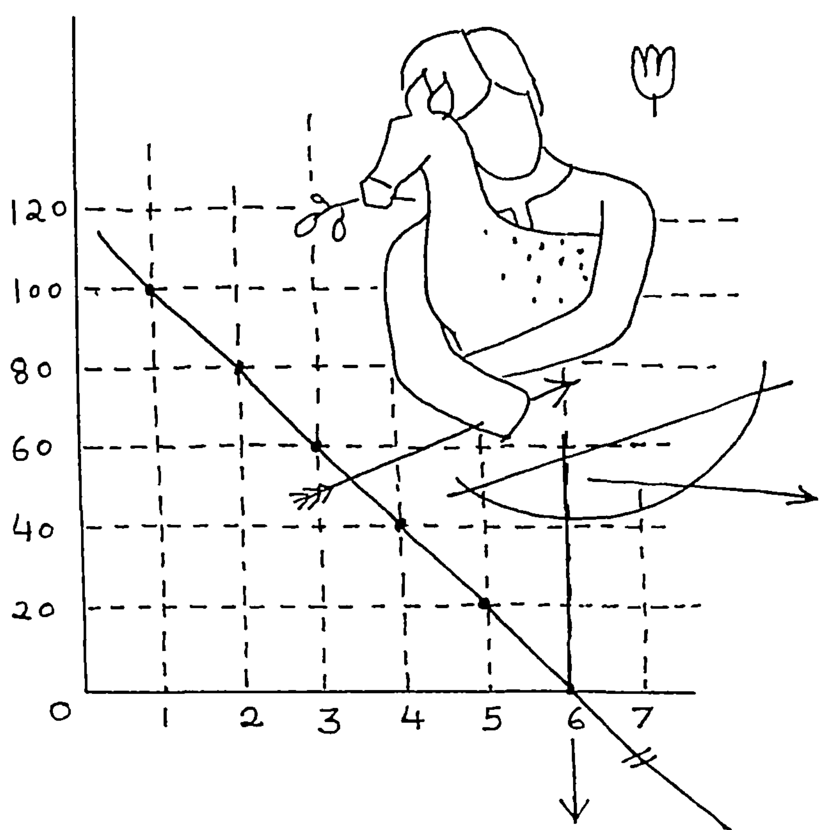
इस तरह ये दोनो समाचार मनुष्य के उस हिंसक रूप को पेश करते है जो जल्दी ही इस दुनिया को एक बहुत बडे कत्लखाने (स्लॉटरहाउस) मे बदल देगा और पृथ्वी के पर्यावरण को प्रलय की ओर धकेल देगा।

जिस विज्ञान को शुरू मे मनुष्य को समृद्ध/सक्षम बनाने का एक सर्वोत्तम वरदान माना जा रहा था, वही अब एक ऐसे खतरनाक मोड पर आ गया है कि पूरी दुनिया क्रमश बारूद के एक दहनशील ढेर पर आ खडी हुई है। सच पूछिये तो आज विज्ञान ने उसे ऐसे खौफनाक/प्रलयकारी उपकरण दे दिये है कि वह अपने क्षणस्थायी सुखो के लिए दुनिया के बुनियादी ताने-बाने नष्ट करने लगा है। वह वस्तुत अपने इस अदूरदर्शी आचरण से अपने ही पाँव पर कुल्हाडी मार रहा है।

माना, मनुष्य ने भौतिक प्रगति की है, किन्तु ऐसा करते हुए उसकी नैतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति का गणितीय सतुलन और अनुपात गडबडा गया है। वह बदहोशी मे इस बात का ख्याल नही रख सका है कि यदि भौतिक प्रगति पर नैतिकता का नियन्त्रण नही रहा तो उसकी अराजकता पूरे मानव-समाज को अपनी खूनी दाढ़ो के तले चबा बैठेगी।

विज्ञान ने मनुष्य की इच्छाओ, वासनाओ, आवश्यकताओ, और तृष्णाओ को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि अब वह उनकी पूर्ति के लिए भला-बुरा कुछ भी करने को तैयार हो गया है। औद्योगिक उत्पाद इतने सम्मोहक और लुभावने तथा तात्कालिक तृप्तियो मे इस कदर लैस कर दिये गये है कि मनुष्य उन्हे हासिल करने के लिए बेकरार हो पडता है। उसने अपनी प्रगति के पैमाने ही बदल दिये है। अब सत्य या अचौर्य प्रगति के माप नही है, प्रगति के माप-दण्ड है अधिक सग्रह, अधिक दमन, अधिक धोखा। छीन-झपट आज की प्रगति का सर्वोपरि माप है। उत्पादको ने उत्पादो मे आज इतने आकर्षक डाल दिये है कि मनुष्य की तमाम मौलिकताएँ मूर्च्छित हो गयी है।

इस तरह विज्ञान ने शामक तत्त्वो को उत्साहित करने की अपेक्षा दाहक तत्त्वो को बढ़ावा दिया है और समस्या को अधिक उलझाया है। लोभ-तृष्णा को दहकाने वाली सामग्री तो विज्ञान ने उत्पन्न की, किन्तु ऐसी सामग्री उत्पन्न करने मे वह असफल रहा, जो मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य बनाने मे समर्थ हो।



विज्ञापन आज मनुष्य को मनुष्य बनाने या कम-से-कम उसे मनुष्य बने रहने की ज्ञान-शाखा न रह कर ऐसी तकनीकें और तरकीबें दे रहा है, जो उसे प्रकृति और पृथ्वी के अधिकाधिक दोहन की ओर प्रवृत्त कर रही है। धरती का जितना शोषण हमारी इस सदी में हुआ है, और जिस तरह कचरे का ढेर इसे बना दिया गया है, वैसा अतीत में कभी नहीं हुआ। मनुष्य की जीभ-लपलपाती तृष्णा ने इस धरती के आकाश-पाताल प्रदूषित/विकृत कर दिये हैं। चारों ओर कूड़े के ढेर लग गये हैं। अन्तरिक्ष में भी कचरे का अम्बार लग गया है। इस तरह विज्ञान से जो आशा-अपेक्षा थी, उसके विपरीत उसने किया है। मनुष्य को सुख और उत्थान की दिशा में ले जाने की अपेक्षा उसने उसे एक खतरनाक खाई में धकेल दिया है। जो नुकसान इस धरती को दुनिया के तमाम पागल मिल कर भी नहीं पहुँचा सकते थे, वह बुद्धिजीवियों ने कुछ ही वर्षों में उसे पहुँचा दिया है। धरती को एक विशाल वधशाला में बदलने में कोई कोर-कसर अब नहीं रही है। चारों ओर युद्ध है। भुखमरी ने अपने जबड़े खोल रखे हैं। रोग बढ़ गये हैं। उनकी नयी-नयी किस्मों ने अखिल मानवता को संकट में डाल दिया है।

हम सब जानते है कि शिक्षा किसी भी देश या समाज को मस्कारशील बनाती है, किन्तु जब वह मात्र उदर-पोपण का माध्यम बन कर रह जाती है, या सिर्फ पेट पर केन्द्रित हो पडती है, तब वह मनुष्य को उसके कर्तव्य और उसकी मौलिक विशेपताओ से विचलित-स्खलित कर देती है। आज शिक्षा ने मर्यादाओ की रक्षा करने की जगह विकारो को दहकाया है। शिक्षा मे-से नीतिशास्त्र लगभग ऋण हो गया है। शिक्षा पर वाणिज्य और अर्थ हावी हो बैठे है। राजनीति ने भी उसे विकृत/तहस-नहस किया है। इस स्थिति की तटस्थ समीक्षा होनी चाहिये ताकि आने वाली पीढ़ी को शिक्षा का कोई प्राजल रूप विरासत मे दिया जा सके।

आहार भी चिन्ता का विपय है। वह आज सर्वत्र व्यापार है। स्वास्थ्य से उसका कोई सबन्ध नही है। दृश्य-श्रव्य विज्ञापनो ने आहार को इस तरह विकृत कर दिया है कि वह मनुष्य के उपयोग का रहा ही नही है। जहाँ एक ओर व्यापारिकता ने आहार को अधिक कमाई का साधन बना कर मनुष्य को उसमे-से ऋण और गौण कर दिया है, वही दूसरी ओर विज्ञान ने उसे नयी तकनीके दे कर चिन्दा-चिन्दा कर डाला है।

यूरोपीय देशो ने विकासशील मुल्को की जमीन की उर्वरता पर हमला किया है। सारी धरा झुलस गयी है, बुरी तरह आहत हुई है। कृत्रिम खादो ने धरती की साहजिक उर्वरता को ध्वस्त कर दिया है। वनस्पतियाँ सत्त्वहीन/निस्सार हो गयी है। धरती के स्वास्थ्य के साथ ही उस पर बसने वाले प्राणियो का स्वास्थ्य भी खतरे मे पड गया है। रोग बढ़ गये है। देहात उजड गये है। प्रकृति चारो ओर से प्रदूपण की गिरफ्त मे है। सच पूछिये तो वसुधा की तमाम सुधा विप मे बदल गयी है। क्या हम इसे प्रगति कहेगे?

इस समय तीन मानवीय गुण अस्तित्व-लोप के खतरे से गुजर रहे है- अहिंसा, करुणा, सहअस्तित्व। झूठी समृद्धि के लालच मे मनुष्य हिंसा से अपना पिंड नही छुडा पा रहा है। हिंसा ने उसके विवेक को दबोच लिया है। वह सिर्फ भौतिक सपदा का ढेर चाहता है, फिर धरती के प्राणियो का कुछ भी हो, इसलिए अहिसा की जगह हिंसा ने ले ली है। करुणा की जगह क्रूरता आ गयी है। सहअस्तित्व का स्थान एक-दूसरे के प्राणापहरण ने ले लिया है। मनुष्य अपने आनन्द के लिए सहवर्ती जीवन की न तो चिन्ता ही कर रहा है और न ही इज्जत। वह उसे छिन्न-भिन्न/मटियामेट करने पर आमाद है। ऐसा नही है कि मनुष्य की इस उच्छ्रृखलता का कोई दुष्परिणाम सामने नही आया है, आया है, किन्तु अपने तात्कालिक फायदे के लिए वह इन सबकी अनदेखी कर रहा है। इस अदूरदर्शी अनदेखी का नतीजा यह होगा कि तमाम दुनिया

एक कूडादान बन जाएगी और मनुष्य उसमे रहने वाला एक क्षुद्र कीट।

इस समय हिंसा और क्रूरता का हमला अपनी चरम सीमा पर है। हथियारो का उत्पादन अब वे देश भी करने लगे है, जो अहिंसा और सत्य के सदेशवाहक देश रहे है। भारत ने भी हथियारो का उत्पादन शुरू कर दिया है। जल्दी ही वह विकासशील देशो को हथियार निर्यात करने वाला एक प्रमुख देश बनने वाला है। मास-निर्यात मे वह पहले ही कीर्तिमान स्थापित कर चुका है। अण्डो के उत्पादन मे उसने गर्वोक्ति की है कि वह इस दृष्टि से दुनिया का पाँचवाँ मुल्क है। गहन मछुवाही (डीप फिशिंग) के क्षेत्र मे उसने इधर काफी नाम कमा लिया है। दक्षिण के समुद्र-तट सरकार ने विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र घोषित किये है। झीगो के उत्पादन मे उसने प्रगति की है। कत्लखानो की सख्या उसने उत्तरोत्तर बढ़ा ली है। रेशम-उत्पादन इजाफे पर है। कत्लखानो से निकलने वाले मलबे का उपयोग कर अब वह उसके उत्पाद हर घर-दुआर तक पहुँचाने की कोशिश मे है।

जब हम देश की आजादी के बाद के इतिहास पर नजर डालते है, तब बहुत साफ हो पडता है कि एक भारतीय का चरित्र अब वैसा नही रहा है जैसे पहले कभी था- वह अपग/विकलाग हुआ है। गाँव बर्बाद हुए है। विदेशो के प्रति हमारी पराधीनता बढ़ी है। राजनीति ने मनुष्य के सदाचार को हर देश मे छिन्न-भिन्न किया है। शिक्षा सर्वत्र अपने मौलिक दायित्व से अपदस्थ हुई है। मनुष्यता की मुखछवि धूमिल हुई है। इस तरह कुल मिला कर यदि हम हिंसा-नियन्त्रित/प्रेरित अर्थतन्त्र की दिशा मे बढ़ते है तो देश की सामाजिक सरचना बिखर जाएगी और विलम्ब से ही सही यदि हम अपनी परम्परित अहिंसामूलक अर्थ-व्यवस्था की ओर लौटते है तो देखेगे कि देश आत्मनिर्भर हुआ है, उसका सार्वजनिक चरित्र ऊँचा उठा है और उसकी खुशहाली वापिस हुई है।

नये है भारत के हिंसा-की-ओर-उठते कदम उसे सुख-सुविधाओ की ओर ले जाने की अपेक्षा दुख-दुविधाओ की ओर ले जाएँगे। □



डॉ. नेमीचन्द जैन की बहुचर्चित/प्रेरक कृतियाँ

वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (परिवर्द्धित चौथा सस्करण)	१५ ००
बहुआयामी महामन्त्र णमोकार	१५ ००
ओम् १०० तथ्य	५ ००
जहर अमृत चुनौतियाँ	१० ००
अपरिचय	५ ००
जैनधर्म १०० तथ्य	७ ००
जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी	५ ००
भक्तामर स्तोत्र (अर्थ-सहित, सचित्र)	५ ००
मेरी भावना (सचित्र), विशिष्ट भूमिका-सहित	३ ००
पर्युषण उप पान जीवन का (परिवर्द्धित)	५ ००
एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका (परिवर्द्धित)	५ ००
हम अन्धे पाँच अन्धे (परिवर्द्धित)	५ ००
अहिंसा है हमारी माँ (परिवर्द्धित)	५ ००
अहिंसा का अर्थशास्त्र	५ ००
प्रणाम महावीर	५ ००
जैन आहार विज्ञान और कला	५ ००
वरक मासाहार है	५ ००
मुखातिब खुद-ब-खुद (बातचीत स्वय-की, स्वय से)	१० ००
शाकाहार-विज्ञान	१५ ००
शाकाहार १०० तथ्य	५ ००
शाकाहार सर्वोत्तम जीवन-पद्धति	२ ००
बेकसूर प्राणियो के खून-मे-सने हमारे ये बर्बर शौक	२ ००
ना बाबा ना	२ ००
मासाहार सौ तथ्य	३ ००
अण्डे के बारे मे १०० तथ्य	२ ००
अण्डा जहर-ही-जहर	२ ००
अण्डा आपको निगल रहा है	१ ००
कत्लखाने १०० तथ्य	८ ००
कत्लखानो का नर्क	२ ००
हिंसा कत्ल क्रूरता	५ ००

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१ (म प्र)

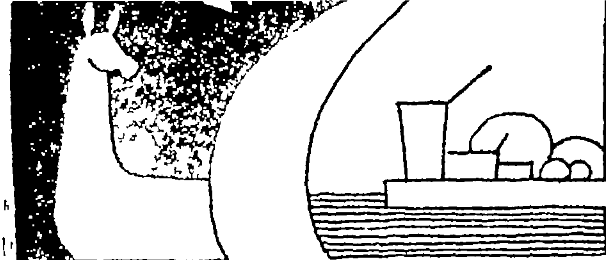
जैन

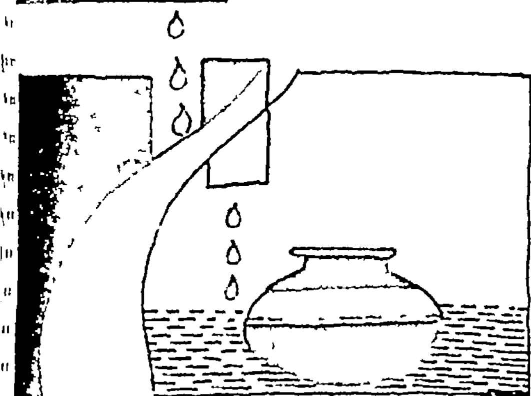
आहार

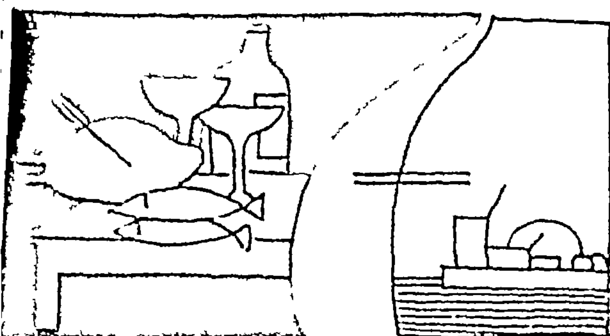
विज्ञान

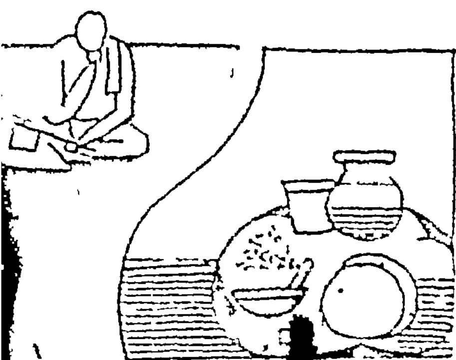
और

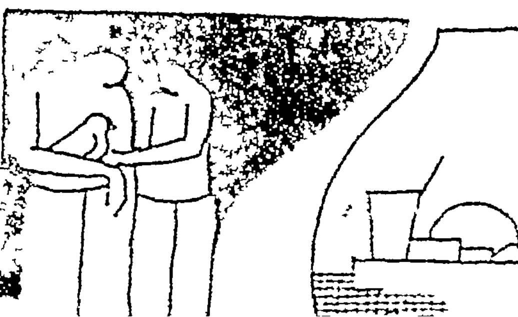
कला











डॉ. नेमीचन्द जै

जैन आहार
विज्ञान और कला

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

जैन आहार : विज्ञान कला

डॉ. नेमीचन्द जैन

प्रकाशन . हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी,
कनाडिया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

मुद्रण : नईदुनिया प्रिन्टरी,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००९, मध्यप्रदेश

सपादन प्रेमचन्द जैन
प्रथम आवृत्ति · अक्टूबर १९९३
द्वितीय आवृत्ति जनवरी १९९५
मूल्य . पाँच रुपये

ISBN 81-85760-19-5
अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक-संख्या
८१-८५७६०-१९-५

दर्पण

आहार हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। सयम भी एक समानान्तर महत्त्व का पहलू है। विवेक सयम का मार्गदर्शक तत्त्व है। इसे हम टॉर्चबेअरर (ज्योतिर्धर) कह सकते हैं।

हम देख रहे है कि इधर के कुछेक दशको मे हमारे आहार पर से सयम, और विवेक का शासन लगभग समाप्त हो गया है।

रोग बढ रहे हैं, और प्रदूषण ने हमारे जीवन की स्वच्छता, और उज्ज्वलता को छिन्न-भिन्न कर दिया है। स्वाद ने हमारे तन-मन को रक्त-रजित कर दिया है। हमारी इस कमजोरी का फायदा उठा कर व्यापारियो ने भी हमारा शोषण किया है।

आज आहार धन्धा बन गया है। विदेशी कपनियाँ 'फास्ट' और 'जक'फूड के नाम पर हमारे परम्परित आहार को कलकित/दूषित करने लगी है।

अहिंसा पर चारो ओर से ज़बर्दस्त हमला है। आहार उससे बच नही सका है। आज हिंसा-मुक्त आहार खोजने के लिए बडे पुरुषार्थ, और श्रम की ज़रूरत पडने लगी है। मासाहार ने कई शक्लो मे हमारे आहार-विवेक को तहस-नहस किया है। हमारा रसोईघर आज पूरी तरह अरक्षित हुआ है। उसके इर्द-गिर्द का सास्कृतिक कवच चकनाचूर हो गया है।

धर्म ने सदियो से हमे आहार, आचार और विचार के क्षेत्रो मे राह दिखायी है, रोशनी दी है। वह भारतीय सस्कृति का अत्यन्त तेजोमय, दिव्य, और मनोज्ञ पक्ष है। उसकी अनदेखी का सीधा मतलब है, स्वय को अस्वच्छता और असयम की भट्टी मे झोक देना। आहार मे धर्म की अनुपस्थिति अमगलसूचक है।

जिस जैन आहार का लोग पहले उपहास करते थे, उसे रूढ और दकियानूस बताते थे, वे ही लोग विवशता मे उसकी ओर आने लगे है। विश्व के सभी देश पानी छान/उबाल कर पीने लगे है। प्रासुकता (निर्जन्तुकता) जीवन की अपरिहार्यता बन गयी है। स्वच्छता और शुद्धता की ओर लोगो का ध्यान गया है। आहार-विज्ञानी, और चिकित्सक लगभग वही राय दे रहे है, जो जैनागम मे पूर्ववर्णित/व्याख्यायित है।

किन्तु, किन्तु जैन जन आहार की मर्यादाओ, और विशेषताओ उनकी वैज्ञानिकताओ, और गुणवत्ताओ को विस्मृत करने लगा है। पीडादायी यह है कि वह ऐसा करने मे स्वय को गौरवान्वित तथा अद्यतन मान रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक मे हमने जैन आहार की उपयोगिता आधुनिकता, गुणवत्ता [illegible], और युक्तियुक्तता पर विचार किया है।

हमे विश्वास है हीरा भैया प्रकाशन का यह विनम्र प्रयास जैन [illegible] साथियो को बचायेगा, जो उनके आहार-तन्त्र को चकनाचूर करने के लिए [illegible] लगातार खोदी जा रही है।

नेमीचन्द जैन
[illegible]

इन्दौर १६ अक्तूबर १९९१

क्रम

जैन आहार में क्रान्ति

सभ्यता की नयी छवियो ने हमारे खानपान के केन्द्रस्थल और मानक बदल दिये हैं। पहले हम चौको मे खानपान करते थे। वाहनो मे आहार, या जल लेना वर्जित था। अब वैसा नहीं है। अब हम कहीं भी और कुछ भी खा सकते हैं। इस दृष्टि से सिर्फ हमारा सोच ही नही बदला है, बल्कि भोजन करने के स्थान भी बदल गये हैं। अब चौका या रसोई नाम की चीज कहाँ है? पराडा अब कहाँ है? चूल्हा अब कहाँ है? चक्की अब कहाँ है? सूपडा, या चालनी अब कहाँ है? अब तो जो भी सामने है, खाला हुआ है—मान रहे हैं कि वह साफ किया हुआ है। आनन्ददायी यह है कि जब विश्वास किया जा सकता था, तब हम अविश्वास कर रहे थे और आज जबकि विश्वास नहीं किया जाना चाहिये, घनघोर विश्वास कर रहे हैं।

अब चौको का स्थान होटलो/रेस्त्रां/दुकानो ने ले लिया है। कही भी जाइये दुकानो से अपना तैयार आहार/उपाहार ले लीजिये और उदरस्थ कर लीजिये। यह आत्मघाती परिवर्तन हुआ है और बहुत तेजी से हुआ है। आहार के बारे मे जो अन्तिम शब्द थे, या जो मर्यादाएँ थीं, वे ध्वस्त हो चुकी हैं। अब इस बारे मे न तो कोई चर्चा करना चाहता है और न ही कोई किसी शास्ति को मानना चाहता है। फैक्टरियो मे जो खाद्य तैयार होते हैं, फास्ट (तुरन्ता) और जंक (कचरा) फूड के नाम से हम धड़ल्ले से उनका इस्तेमाल कर रहे हैं। हमारी आगामी पीढी तो सिर्फ उस पर निर्भर हुई है। पोषण की जगह, क्रमश, स्वाद ने ले ली है। संयम की जगह असंयम आ गया है, वस्तुत संयम-असंयम जैसा अब कुछ रहा ही नहीं है।

'आहार और श्रावक', 'आहार और श्रमण' को ले कर जैनागमो मे काफी विचार हुआ है, किन्तु अब इस बारे मे नये सिरे से विचार-विमर्श के लिए तैयार नही हैं। हमारे खानपान मे यन्त्रो ने एक खास जगह बना ली है। ध्यान रहे, हम यहाँ यह नही कह रहे हैं कि यन्त्रो का उपयोग हम बन्द कर दे, करे, किन्तु विवेकपूर्वक। उन कसौटियो का ख्याल रख कर, जो हमारे वजूद (अस्तित्व) की रक्षा करती है। क्या आज हम चली आ रही कसौटियो का सामयिक संशोधनो के साथ सम्मान करने की चित्तवृत्ति मे हैं?

पहला काम हमे यह करना होगा कि हम खानपान की तमाम वस्तुओ की एक व्यापक सूची बनाये। बेबीफूड से ले कर ओल्डएजफूड तक की एक तालिका हो, जिसमे आहार-संबन्धी प्रामाणिक सूचनाएँ संकलित हों। जिसमे यह भी बताया गया हो कि हम कौन-सा आहार ले, कौन-सा न ले। जैनो की कोई संस्था 'विदटो' विदाउट क्रूएल्टी' की पगडंडी पर एक 'लिस्ट ऑफ ऑनर' प्रकाशित करे, जिसमे यह साफ-साफ बताया गया हो कि बाजार मे ऐसी कौन-सी वस्तुएँ हैं जिनका उपयोग हम धर्म और स्वास्थ्य की दृष्टि से निःसंकोच कर सकते हैं। अभी ऐसी कोई बहादुर संस्था उभर कर सामने नहीं आयी है, जो इस तरह की छानबीन करे और हमारे रोजमर्रा के उपयोग मे आने वाली वस्तुओ के बारे मे विश्वसनीय सूचनाएँ उपलब्ध करादे। ऐसा नही है कि यह काम हम कर नही सकते कर तो सकते हैं, किन्तु हम इसे लगातार टाल रहे हैं।

कितने जीर्णोद्धार कितनी अंजनशलाकाएँ, कितनी दीक्षाएँ और कितने पच्चक्खाणक महोत्सव होते हैं, किन्तु कहीं किसी उत्सव या समारोह की फलश्रुति के रूप मे यह नही सुना गया कि वहाँ कोई एक ऐसी संस्था जन्मी हो जो भक्ष्याभक्ष्य पर अन्तिम शब्द का उच्चार करता हो। कई सारे व्यर्थ के कर्मकाण्ड होते हैं, किन्तु मूल के ढहते होने पर किसी का ध्यान नहीं है। ज्यादातर इन दिनों लोगो का ध्यान अर्थ-सञ्चय पर है,

आचार या आहार की गुणवत्ता पर किसी का कोई ध्यान नही है।

असल मे जो वस्तुएँ मडी मे हैं उनमे-से किन का उपयोग हम करे और किन का नहीं, यह काम गति से किया जाना चाहिये।

साग-सब्जियो के बारे मे जैन आहार-शास्त्र मे बहुत सारे तथ्य हैं, जिन्हे जीनेटिक्स ने खण्डित किया है। कुछ नये पौधे आविर्भूत हुए हैं। कई पौधे या वृक्ष साकर्य से जन्माये गये हैं। इन सब पर विचार किया जाना चाहिये। कृषि मे जैविक तत्त्व कितना उपयोगी है, यह बात अब निर्विवाद हो गयी है, किन्तु जैन कृषक का ध्यान इस ओर अभी गया नही है। कई तीर्थ-क्षेत्रो के पास कृष्य भूमियाँ हैं, या बागवानी की व्यवस्था है किन्तु वे पेस्टीसाइड्स (कीटनाशी दवाएँ) का उपयोग करते हैं। कई ऐसे श्रावक हैं, जिन्होंने कीटनाशी औषधियो का उपयोग बद कर दिया है और जिनकी कृषि-उपज घटने की जगह बढी है, किन्तु ऐसे तथ्यो का कही कोई प्रचार नही किया गया हैं। हमने कई ऐसे जैन कृषको को देखा है, जो कहते हैं कि क्या करे, कृषि मे तो यह करना ही होता है, यह आरम्भिक हिंसा है, इसकी अनुमति है। 'आरम्भ' शब्द 'कृषि' का पर्याय शब्द है। काश्त मे स्पष्टत जैन श्रावक को अप्रमत्त मनोदशा मे काम करना चाहिये, अत अब वह वक्त हमारे सामने हैं जब हमे कृषि-के-सदर्भ मे भी कुछ अन्तिम शब्द कहने होंगे। जैन कृषको को एकत्रित/सगठित हो कर स्पष्ट घोषणा करनी चाहिये कि वे कृषि मे अहिंसा-व्रत को सर्वोपरि सम्मान देंगे। जहाँ अहिंसा होगी, वहाँ वे होंगे, जहाँ हिंसा होगी, वहाँ वे नही होंगे। आज दुनिया मे सूखी खेती तथा कीटनाशी-दवाओ-के-बगैर खेती के प्रयोग हुए हैं। ये सफल भी हैं, किन्तु दुर्भाग्य से उस ओर हमारा ध्यान नही है। इजराइल का अमिरिम ग्राम इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यह एक अहिंसक/शाकाहारी ग्राम है, जिसकी पूरी दुनिया मे निराली साख है। इस सदर्भ मे जैन कृषक को आगे आ कर 'किसान दशक' को एक नया आयाम और स्फूर्ति देना चाहिये। क्या दक्षिण भारत का जैन कृषक नब्बे-के-दशक मे खेती मे-से हिंसा को निकाल फेंकने की दिशा मे कोई पुरुषार्थ नही करना चाहेगा? जैनो को पूरे भारत मे जगह-जगह ऐसी समितियाँ बनानी चाहिये जो वर्तमान कृषि-पद्धतियो की समीक्षा करे और अहिंसा का ध्यान रख कर जैन कृषको का मार्गदर्शन करे। स्वय कृषि-विज्ञान ने यह साबित कर दिया है कि कीटनाशी औषधियो से जो अन्य जीव मारे जाते हैं वे कृषि के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उनके जीवित रहने मे खेत समृद्ध होते हैं। हमे विश्वास करना चाहिये कि पूरे देश के जैन कृषक आगे आयेगे और कृषि के क्षेत्र मे कुछ अन्तिम शब्द प्रवर्तित करेंगे।

औषधियो के क्षेत्र मे बहुत सारे जैन कार्यरत हैं। ऐसा कोई ग्राम-नगर नही है, जहाँ कोई जैन एलोपैथ न हो, किन्तु बहुत कम ऐसे जैन चिकित्सक हैं, जिनका ध्यान इस बात पर गया हो कि जैन आहार-शास्त्र की दृष्टि से ऐसी कौन-सी औषधियाँ हैं जो ग्राह्य अथवा अ-ग्राह्य हैं। क्या पूरे देश के जैन डॉक्टर मिल-बैठ कर दवाइयो की कोई 'लिस्ट ऑफ ऑनर' तैयार नही कर सकते? क्या अहिंसा के परिपालन मे हमारी मदद करने का उनका अपना कोई दायित्व नही है?

यह जानते हुए कि कैप्सुले जिलेटिन से बनती हैं, क्या जैन रसायन-शास्त्री जैन डॉक्टरो के सहयोग और विचार-विमर्श से कैप्सुलो का कोई विकल्प नही ढूंढ सकते? क्या जैन उद्योगपति उनके इस प्रयोग मे उनकी मदद नही कर सकेंगे? क्या जैन समाज इस तरह के प्रयोग के लिए अलग से कोई कोष स्थापित करने के अपने फर्ज से सकट के इन क्षणो मे चूकना चाहेगा? किन्तु बात कुछ उल्टी ही है। हमारे जैन साधु तक कैप्सुलो का उपयोग कर रहे हैं और जैन चिकित्सक यह जानते हुए भी कि कैप्सुले मासाहार हैं, उन्हे

निःसकोच दे रहे हैं। हमें विश्वास है हमारे डॉक्टर-बन्धु आगे आयेंगे और आहार-शास्त्र की दृष्टि से इस क्षेत्र में कोई सुदृढ़ पहल करेंगे। विश्वास करें शाकाहार के क्षेत्र में यह काम एक बहुत बड़ी रचनात्मक क्रान्ति के रूप में निरूपित होगा। जैनों को सुदृढ़ संकल्प के साथ इस दिशा में आगे आना चाहिये और आहार-शास्त्र तथा अहिंसा की खण्डित/ध्वस्त/प्रतिमा का जीर्णोद्धार करना चाहिये।

सौंदर्य-प्रसाधन के क्षेत्र में भी हम कोई अन्तिम शब्द नहीं कह पा रहे हैं। हमारे कुटुम्बों में जो कुछ घटित है उसे हम नतशीश मान रहे हैं। हम ऐसा सारा साहस खो चुके हैं, जो सौंदर्य-प्रसाधनों में होने वाली हिंसा का मुकाबला कर सकता हो। 'बिउटी विदाउट क्रूएल्टी' द्वारा प्रतिवर्ष प्रकाशित 'लिस्ट ऑफ ऑनर' इस दिशा में उठाया गया एक ठोस कदम है, किन्तु इस दृष्टि से जैनों ने अब तक कोई उल्लेखनीय पग नहीं उठाया है, बल्कि दुःखद यह है कि 'बीडब्ल्यूसी' द्वारा उठाये गये इस कदम का स्वागत तक उसने नहीं किया है। आज भी हम धड़ल्ले से निःसकोच चर्बीयुक्त साबुनों का उपयोग कर रहे हैं। टूथपेस्टों को ले कर हमारा अपना कोई स्पष्ट विवेक नहीं है। शेम्पू आदि में हमने विवेक को ताला-ए-ताक रख दिया है। पाउडर, लिप्स्टिक आदि ऐसे बीसियों आयटम हैं, जिनका उपयोग हम नित्यप्रति कर रहे हैं, किन्तु जिन्हें ले कर हम ऐसा कुछ नहीं कर रहे हैं, जिससे हमारे अहिंसामूलक आचार को दृढ़ता मिलती हो। रेशम का उपयोग हम कहाँ बंद कर पाये हैं? मंदिरों में आज भी वह आ-जा रहा है। जैन महिलाएँ उसका इस्तेमाल निःसकोच कर रही हैं। क्या हम इस ओर ध्यान देंगे?

सब जानते हैं कि कपड़ा मिलों में तैयार सूती कपड़ा मटन-टेलो के उपयोग-बगैर नहीं बनता है। सालों-साल जैन मिल-मालिक टेलो का उपयोग करते रहे हैं और अपनी इस कमाई का एक अंश दान में खरचते रहे हैं। दान के कारण वे सम्मान्य भी रहे हैं। हम जानते हैं जैनों ने उन्हें यह इज्जत अज्ञान के कारण ही बख्शी है, किन्तु अब तो हम जानने लगे हैं कि वस्त्र-उत्पादन में मटन-टेलो (मांस-चर्बी) का उपयोग होता है, अतः इतना होते हुए भी हम प्रक्षाल आदि में इसी का उपयोग करेंगे? क्या हम इसके स्थान पर खादी का उपयोग नहीं कर पायेंगे? इसी तरह जैन साधु-साध्वी, एलक-क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि जिन वस्त्रों का उपयोग करते हैं, क्या हम उनके स्थान पर उन्हें खादी के वस्त्र नहीं दे सकेंगे? खादी अहिंसा की प्रतीक है। हमें खादी का व्यापक उपयोग की पहल करनी चाहिये। कम-से-कम धर्म-के-क्षेत्र में तो हमें यह काम तत्काल प्रभाव से करना चाहिये। यदि सम्भव हो तो किसी जैन संस्था को खादी-उद्योग चलाना चाहिये और पूरे देश की धार्मिक आवश्यकताओं की अभिपूर्ति का बीड़ा उठाना चाहिये।

जहाँ तक खान-पान का प्रश्न है, इस सिलसिले में हम एक व्यापक वस्तु-सूची तैयार करनी चाहिये। सबसे पहले हमें जैन आहार की गम्भीर समीक्षा करनी चाहिये और इस बात का निर्णय करना चाहिये कि ऐसे कौन-से खाद्य पदार्थ हैं जो जैन आहार की दृष्टि से ग्राह्य हो सकते हैं और ऐसे कौन-से स्थान हैं जिन्हें [illegible] प्राप्त किया जा सकता है। अच्छा हो, हम सारे काम छोड़ कर एक केन्द्रीय जैन [illegible] संस्थान की स्थापना करनी चाहिये और उसके हर राज्य में उपकेन्द्र खोलने चाहिये ताकि वे इस दिशा में जैन समाज का उचित मार्गदर्शन कर सकें। हमें विश्वास है इस दिशा में [illegible] कोई प्रभावी पहल होगी और हमारे विद्वान, हमारे साधु, आचार्य, नेता आदि इस क्षेत्र में [illegible] की रक्षा की गम्भीरता को समझेंगे।

जैन आहार : विज्ञान और अ-स्वाद

आज हमारे सहज/स्वाभाविक जीवन पर सकट के घने बादल छाये हुए हैं। उसे कई मोर्चो पर तरह-तरह के सघर्ष करने पड रहे हैं। स्वाद, प्रदूषण, ससाधित खाद्य, किस्म-क़िस्म के घातक पेय, कचरा/तुरता फूड, आकर्षक पैकिंग वाले खाद्य इत्यादि से जो युद्ध आज हमे जूझना पड रहा है, वैसा पिछली किसी सदी मे नही जूझा गया। जो काम हमे, असल मे, पेट से पूछ कर करना चाहिये, उसे हम आज जीभ की सलाह से कर रहे हैं। जीभ ने हमारे अशन को व्यसन मे बदल दिया है।

'आहार शौक नही है, वह नीद-की-तरह की अनिवार्यता है' इस सचाई को जाने बिना हमने पेट को एक स्वच्छ पात्र न मान कर उसे कचरा-पेटी (डस्ट-बिन) बना लिया है। जिसे लाड लडाना था उसे लाड न लडा कर हमने देह को लाड-प्यार देना शुरू कर दिया। ऐसे लोग दुनिया मे काफी हैं, जो मजिल की जगह सीढियो से अधिक प्यार करते हैं और भूल से (शायद जानबूझ कर) उन्हे मजिल या लक्ष्य का दर्जा दे बैठते हैं। इस तथ्य को हम पूरे होश मे जाने कि साधन साधन है और लक्ष्य लक्ष्य। जो किसी लक्ष्य के निमित्त साधन है, वह स्वय लक्ष्य नही बन सकता। देह साधन है, वह साध्य नही है, उसकी चौकस देखभाल अवश्य होनी चाहिये, किन्तु खयाल रहे सिर्फ वही नही है जिसकी देखभाल की जाए, कुछ और भी हैं जिसकी साल-सँभाल उससे पहले जरूरी है। वह हमारा असली गन्तव्य भी नही है। वह सडक है। वह जहाँ तक पहुँचाती है, वह स्थान वह खुद नहीं है। हाँ, यह ठीक है कि हमे उसे काफी साफ-सुथरा, सुविधाजनक, सुदीर्घजीवी, और निष्कण्टक बनाये रखना चाहिये ताकि अडचन न आये और सपूर्ण सफर सुखद और निरापद रहे, किन्तु उसे (सडक को) ही सर्वस्व मान कर सिर्फ उसी पर ध्यान देना उचित नही है।

स्वस्थ रहने का जो भाव है वह स्वास्थ्य है। शरीर घर है, वह गृह-स्थ नही है। घर की देखभाल पूरी और अप्रमत्त होना चाहिये। उसे बुहारा जाना चाहिये। वक्त-दर-वक्त उसकी मरम्मत भी होनी चाहिये। उस पर रग-रोगन भी होना चाहिये। उसमे हवा-रोशनी की मुकम्मल व्यवस्था है या नही यह भी देखा जाना चाहिये, किन्तु तमाम जोर सिर्फ शरीर पर डाल देने से काम नही चलेगा—जो शक्ति हमारे पास है उसका हमे बहुत सतुलित और लक्ष्यबद्ध उपयोग करना चाहिये। ऐसा करके ही हम शरीर को धर्म-साधना का एक स्वस्थ माध्यम बना सकते हैं। वर्ना शरीर के चाकर तो लोग सदियो से रहे हैं, आज हैं, कल रहेगे।

यह सुनिश्चित है कि हमारे स्वास्थ्य की चिन्ता कोई बाहर से आया हुआ आदमी नही कर सकता। उसकी चिन्ता तो हमे स्वय को करनी होगी। शरीर को सिर्फ पुद्गल-पर्याय मान कर उसकी अनदेखी करना ठीक नही है। यह भेद-विज्ञान को खीचतान कर दिया गया अर्थ है। आत्मा पर हमारी आँख, हमारी नजर मग्न हो, लेकिन जहाँ/जिस मच पर हम यह काम कर रहे हैं, उसकी उपेक्षा उचित नही है। आप नौकर को अन्तिम न माने, किन्तु उसकी अवहेलना करे, उसकी मुश्किलो का ध्यान न रखे और चाहे कि वह पूरी मुस्तैदी से आपकी खिदमत करे/करता रहे तो यह उसके साथ बहुत बडा अन्याय है। देह का ख्याल आपको रखना होगा, ताकि वह आपका खयाल रख सके। आप/वह अन्योन्याश्रित हैं। जैसा बर्ताव आप उससे चाहते हैं, ठीक वैसा बर्ताव आप उसके साथ करें। देह के साथ अच्छे सलूक का मतलब है, विदेह की स्वच्छ उपलब्धि के लिए उसे अधिक समर्थ बनाना या उस तक पहुँचने के लिए एक स्वस्थ वातावरण की रचना करना।

ज्यादातर लोग अपने आहार के बारे में बिलकुल निश्चिन्त बने रहते हैं। इस सिलसिले मे वे कोई जहमत उठाने को तैयार नहीं हैं। वे चाहते हैं कि 'तुरन्त' और 'तैयार' कुछ उन्हे मिल जाए जिसे डाल कर वे आगे बढ़ जाएँ। पेट मे कुछ भी डाल कर खाड़ा भरने की बात बहुत दूरदर्शिता नहीं है। पेट और जीभ दोनो सिर्फ भौतिक (फिजिकल) अस्तित्व नहीं है, अपितु वे हमारी चेतना और सवेदना से जुडे हुए महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। हम पेट मे क्या डाल रहे हैं और जीभ उसमे क्या डलवा रही है इसकी परिपूर्ण और सावधान समीक्षा हमें जब-तब ज़रूर कर लेनी चाहिये।

स्वाद और सयम की कुश्ती शताब्दियो से चल रही हैं। धर्म ने स्वाद पर अकुश लाने के बीसियो उपाय किये हैं, किन्तु स्वाद का यह ऐरावत हाथी लगातार निरकुश होता गया है। आज स्थिति यह है कि हम जो भी खा रहे हैं, वह सब ज़ायके के लिए खा रहे हैं—पौष्टिकता अथवा स्वास्थ्य से उसका कोई सारोकार नही है। स्वाद, जिसका अस्तित्व क्षणिक है, कई बार हमारी समग्र चेतना को गुलाम बना कर चलता है और उसे भटका देता है। स्वाद की वजह से हम न जाने कितनी तरह के जहर अपने पेट मे डालते हैं और अन्त मे जब कोई राह नहीं रह जाते, बुरी तरह सिर धुनते हैं।

स्वाद को एक आज्ञाकारी-सेवक बनाने मे धर्म की विशद भूमिका है। उसने उसे कभी लाड नही लड़ाया, बल्कि समय-समय पर उसने ऐसे उपाय किये कि जीभ अनुशासन मे रहे और स्वस्थ मन की हुक्म-बरदार रहे। जीभ की आज्ञाएँ मानने मे न सिर्फ पेट का नुकसान है वरन् पूरे शरीर की हानि है।

जैनाचार मे आहार पर बड़ी गहराई और सिलसिले से विचार हुआ है। उसमे श्रावक/श्रमण दोनो के आहार की यथाप्रसग/समीचीन विवेचना की गयी है।

जैन धर्म, दर्शन, या आचार की जननी है अहिंसा। अहिंसा के बिना हम किसी भी तरह के जैनाचार की कल्पना नही कर सकते। अहिंसा का सीधा सबन्ध व्यक्ति के भावनात्मक अस्तित्व से है। हिंसा का मतलब किसी जीवधारी की हत्या मात्र नही है बल्कि उसके लिए मन मे किसी तरह के हनन की भावना आती है, तो वह भी हिंसा है। हिंसा सिर्फ एक स्थूल घटना नही है, वह एक सूक्ष्मतर सकल्प भी है, जो सभव है प्रत्यक्ष में कोई आकृति ग्रहण न भी करे। आकृत या व्यक्त न होने पर भी हिंसा-का-सकल्प हिंसा है, इसीलिए अहिंसा को मनुष्य का सर्वोपरि विकास कहा गया है।

अहिंसा प्रीति है। आत्मीयता है। सहअस्तित्व है। मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करने वाला एक अद्वितीय आधार है। इसने ही मनुष्य को प्राणि-जगत् का सिरमौर बनाया है। जैन आहार मे अहिंसा हवा की तरह सर्वत्र व्याप्त है।

अहिंसा का मतलब हिंसा की शत प्रतिशत अनुपस्थिति नही है, बल्कि उसका मतलब है हिंसा का क्रमश न्यूनीकरण, उसकी प्रयत्नपूर्वक उत्तरोत्तर अनुपस्थिति। हमारी कोशिश होनी चाहिए कि जो भी काम हमारे द्वारा हो उसमे हिंसा या तो हो ही न और यदि हो तो कम-से-कम हो। उसकी पीठ पर कोई प्रमाद न हो। 'इच्छा तो यह थी कि प्राणिमात्र का मगल हो, किन्तु किसी अज्ञात कारण से वह मकसद सिद्ध नही पाया और न चाहते हुए भी हिंसा हुई'—यह विचार नींव है जैनाचार द्वारा प्रतिपादित अहिंसक जीवन-शैली की। जब हम हिंसा से बचने की भरपूर कोशिश करते हैं और फिर भी हिंसा होती है, तब हम उसे हिंसा की परिधि मे नही लेते। जैन आहार और अहिंसा का चोली-दामन का रिश्ता है। इन दोनो को दो विरोधी ध्रुवो के निवासी की तरह न तो हम देख ही सकते हैं और नही ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि ये दोनो दो

अलग-अलग अस्तित्व हैं।

अहिंसा का ध्यान रखने के कारण ही जैन आहार-विज्ञान मे पग-पग पर निर्जन्तकता का ध्यान भी रखा जाता है। प्रयत्न होता है कि शरीर से बाहर और शरीर के भीतर कम-से-कम हिंसा हो। यदि शरीर के बाहरी वातावरण मे शरीर के भीतर कोई विजातीय जन्तु पहुँचते हैं तो वे एक तो उसमे नाना विकृतियाँ पैदा करते हैं, दूसरे शरीर के भीतर पहले से मौजूद जन्तुओ को हानि पहुँचाते हैं फलस्वरूप शरीर का सतुलन गडबडाता है। स्वास्थ्य ठीक रहे और साधना मे कोई व्यवधान न आये, इस दृष्टि से जैन श्रावक और श्रमण प्रासुक आहार-जल लेते हैं और जीवराशि के हनन से बचते हैं। प्रासुकता (निर्जन्तुकता) जैन आहार-विज्ञान की एक महत्वपूर्ण सीढी है।

आहार उतना ही ले, जितना जरूरी हो। इतना, जिसमे शरीर को साधना का सामर्थ्य मिले और श्रावक को जीविकोपार्जन/धर्म-साधना की क्षमता प्राप्त हो—यह जैन आहार-चिन्तन की दूसरी बडी विशेषता है। निश्चित है कि हम जितना कम आहार लेगे अनुपातत हिंसा उतनी ही कम होगी। अनशन, अवमौदर्य अथवा ऊनोदरी आदि इस तरह के उपाय हैं। शरीर को इस तरह कसना कि वह साधना के लिए प्रतिपल कमर कसे तैयार रहे, जैन आहार का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्यवेध है।

निर्दोष आहार जैन आहार की तीसरी विशेषता है। 'निर्दोष' से हम क्या समझे? उसका क्या अर्थ ले? यह कि **एक तो वह हिंसा-मुक्त हो; दूसरे, वह अध्यात्म-की-साधना मे पूर्णतया उपकारक हो;** तीसरे, **वह ऐसा हो कि जिससे शरीर मे किसी प्रकार की विकृति या असतुलन उत्पन्न न हो; चौथे वह पौष्टिक हो; किन्तु इतना नहीं कि शरीर और मन के बीच व्याधियाँ उत्पन्न करे।**

जैन आहार-विज्ञान मे 'अस्वाद' को शीर्ष महत्त्व दिया गया। स्वाद मन की निरकुशता का सूचक है, अस्वाद सयम और आत्मानुशासन का। अस्वाद मे मन से जूझना होता है, उसे रस की ओर से मोड कर साधना/तप की ओर प्रवृत्त करना होता है। स्वाद मे मन को खूब स्वाद आता है। उसकी सहज वृत्ति है कि वह विकृतियो की ओर तेज गति से छलाग भरता है और निर्विकृति की ओर गिरे हुए मन से यात्रा करता है।

जो लोग आहार को अन्तिम मानते हैं, वे स्वाद पर ध्यान देते हैं और तरह-तरह की उलझने खडी करते हैं और जो इसके विपरीत आहार को मात्र एक अकिंचन साधना मानते हैं, वे दार्शनिक सुकरात के इस कथन पर दस्तखत करते हैं कि 'मैं उन सैकडो लोगो मे-से नही हूँ जो खाने के लिए जीते हैं, बल्कि उनमे-से हूँ जो जीने के लिए खाते हैं'। जो खाने के लिए जीते हैं उनका मुख्य लक्ष्य सिर्फ खाना ही होता है और जो जीने के लिए खाते हैं उनका लक्ष्य भोजन के अलावा भी कुछ होता है। ज्यादातर लोग खाने-के-लिए जीते हैं और जीभ जो माँगती है, उसे वह देते हैं, किन्तु जो लोग कोई लक्ष्य ले कर अपना कदम उठाये हुए हैं, वे जीभ-की-दासता को स्वीकार नही करते और स्वय तथा समाज के लिए, उसके कल्याण के लिए, काम करते हैं, उसके लिए जीते हैं।

मानव-सस्कृति का जो बहुविध विकास आज दीख पड रहा है, वह उन महान् विभूतियो की देन है जो खाने के लिए नही जिये बल्कि जिन्होंने जीने के लिए अपने पेट मे कुछ डाला। ये ऐसे लोग हैं जिन्होंने सयम को अपने जीवन का शृगार बनाया और उसे प्रतिपल पहरे पर रखा।

जैनो के धार्मिक पर्वो का निर्धारण कुछ इस तरह का है कि उनमे स्वाद-जय की सयोजना स्वयमेव हो,

गयी है। 'आयम्बिल' एक इसी तरह की सयोजना है। जो लोग आयम्बिल करते हैं, वे रूखा, फीका, उबला हुआ सिर्फ एक बार खाते हैं और सयम मे उल्लसित रहते हैं। उन्हे शरीर का भान नहीं रहता। वे आत्मोन्मुख बने रह कर शरीर का एक अजीज़ दोस्त की तरह उपयोग करते हैं। शरीर उनसे सहयोग करता है और वे शरीर को हर तरह से स्वस्थ रखने की कोशिश करते हैं। आयम्बिल स्वाद-जय का एक सहज मार्ग है, जिसे श्रावक वर्ष मे दो बार पालते हैं।

चोविहार, तिविहार, नवकारशी आदि सयोजनाएँ भी आहार पर अकुश रखने के लिए हैं। सूर्यास्त से पूर्व पानी ले लेना। उसके बाद कुछ भी ग्रहण न करना। सूर्योदय मे पहले पानी तक न लेना इत्यादि कुछ ऐसी प्रतिज्ञाएँ हैं जिनकी आधार-शिला अहिंसा है और जो सयम के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

'रात्रि मे भोजन न करना' और 'पानी छान कर पीना' जैनो की दो मोटी पहचाने हैं। आज ये पहचाने लगभग लुप्त हो गयी हैं, या लगातार लुप्त होती जा रही हैं, किन्तु ऐसा होने से इनकी महत्ता मे कोई फर्क नही आया है। 'रात मे भोजन न करना' यद्यपि जैनो मे काफी कम हो गया है, किन्तु जो जैन नही हैं और स्वास्थ्य पर जिनकी नजर है वे सूर्यास्त के पूर्व भोजन करने लगे हैं।

भारतीय सस्कृति मे सूर्यास्त के पूर्व भोजन की परम्परा थी। 'महाभारत' और 'रामायण' मे ऐसे कई प्रसग आये हैं, जिनमे निशिभोजन का निषेध किया गया है और सूर्यास्त के पहले ही भोजन कर लेने के लिए कहा गया है। रात और रक्त का सीधा सम्बध है। रात मे जीव-जन्तुओ की फौज-की-फौज निकल पड़ती है। जो जीव-जन्तु सूरज की रोशनी और गर्मी मे निकल नही पाते, वे साँझ के बाद काफी सक्रिय हो उठते हैं, इसीलिए कहा है कि 'रात होते ही जल रुधिर की तरह और अन्न मास की तरह हो जाता है'। विदेशो मे भी अब निशिभोजन न करने की जीवन-शैली विकसित होने लगी है।

'पानी छान कर पीना' जैनो की दूसरी मोटी पहचान है, किन्तु आज बहुत सारे जैन 'पानी छान कर न पीने' मे अपनी शान समझते हैं। उनका कहना है कि जब इतने सारे जल-प्रदाय हैं और हमे छान कर पानी दे रहे हैं तो फिर अलग से उसे छानने की क्या जरूरत है? उनकी यह दलील सदोष है। जल-प्रदाय चलाने वालो मे एक तो कोई धार्मिक विवेक होता नही, दूसरे जल की बड़ी-बड़ी टकियाँ और मीलो फैली पाइप-लाइन कभी साफ नही की जाती। इतना होते हुए भी एक बार छाने हुए पानी की भी कोई उम्र, कोई मर्यादा होती है। एक समयावधि के बाद जो भी रस या स्वाद होते है वे विकृत होना आरम्भ कर देते हैं, अत पानी छान कर पीना केवल जैनो की ही पहचान नही है बल्कि एक आम अनिवार्यता है सामान्य हायजिन

जैन आहार : क्या, कहाँ, कब, कैसे

जैन आहार-विज्ञान मे खान-पान की काफी गहरी छान-बीन हुई है। ऐसा कोई पदार्थ जैन आहार-विज्ञानियो की निगाह से नही छूटा है, जिसके बारे मे उन्होंने कोई अनुभवसिद्ध सलाह न दी हो। ध्यान रहे जैन आहार-विज्ञान किन्ही आकस्मिकताओ का बेतरतीब पुलिंदा नही है, बल्कि कई सदियो तक हुए व्यापक, गहन, सावधान, और सतुलित निरीक्षणो का फल है। कौन-सी वस्तु खाने योग्य है और कौन-सी नही, इसे तय करने की दो स्पष्ट कसौटियाँ हैं अहिंसा, आत्मोत्थान
इसीलिए जैन आहार-शास्त्रियो ने प्रासुकता को ले कर सैकडो प्रयोग किये और श्रावको तथा श्रमणो के लिए अलग-अलग आहार-सहिताएँ निर्धारित की। जीव-जन्तुओ की प्रकृति है कि वे जब अगणित होने की प्रक्रिया मे आते हैं, तब वे बढते ही जाते हैं इसलिए जैन आहार-विज्ञानियो ने 'कब' की मर्यादाएँ रोशनी-की-कलम से लिख दी।

'मर्या-दा' सस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ है सीमारेखा, ऐसा निशान जिनका अतिक्रमण घातक या अकल्याणकर सिद्ध हो सकता है। 'मर्या' का अर्थ है निशान (मार्क), सीमा-रेखा। 'मर्या-द' का अर्थ है इस तरह की सीमारेखा डालने वाला व्यक्ति, और 'मर्यादा' के मायने हैं वह सीमारेखा या चौहद्दी जिसका उल्लघन अस्वीकृत है।
'जैन चौका' मे 'जैन' और 'चौका' दोनो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। जैन का स्पष्ट अर्थ है वह व्यक्ति जो इन्द्रियजय के लिए प्रयत्नशील है। असयमी को जैन कहना सभव ही नहीं है। चौका शब्द वैसे चौक (चतुष्क) से बना है, किन्तु इसका सबन्ध सिर्फ एक चोकोर आकृति से नही है। इसका सबन्ध द्रव्य (क्या), क्षेत्र (कहाँ), काल (कब), और भाव (कैसा/कैसे) से है। जैन चौका—इस तरह—वह है जहाँ 'कहाँ, क्या, कब, कैसे' का सतुलन है।

इस चौके मे मात्र भोजन का ही महत्त्व नहीं है बल्कि भोजन बनाने और भोजन करने वाले की भावभूमियो का महत्त्व भी है। इसमे और-और प्रदूषणो का ध्यान तो रखा ही जाता है, ध्वनि-प्रदूषण का भी खयाल रहता है। भोजन और मौन दोनो भाई-बद हैं।
जैन आहार (खान-पान) की जो शास्त्रोक्त मर्यादाएँ हैं वे इस प्रकार हैं—

१ आटा, आदि चून की मर्यादाएँ वर्षा मे ३ दिन, ग्रीष्म मे ५ दिन, और शरद्ऋतु मे ७ दिन है। ऋतु-परिवर्तन अठाई (अष्टाह्निका) से माना जाता है।
२ छने हुए पानी की मर्यादा ४८ मिनिट है। अधन-जैसे गर्म किये गये जल की मर्यादा २४ घटे है तथा उससे कम गर्म किये गये की १२ घटे की है।

३ दूध दुह कर, छान कर ४८ मिनिट से पूर्व गर्म कर लेने पर उसकी मर्यादा २४ घंटो की है। कुछ लोगो का अनुभव है कि दूध १२ घंटो मे ही बिगड जाता है, अत यदि ऐसा हो जाए तो उसका उपयोग मर्यादा के भीतर भी न करे। यदि दूध को गर्म न किया जाए तो ४८ मिनिट बाद उसमे, जिस पशु का वह दूध है, उस पशु की जाति के सम्मूर्च्छनज असख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

४ गर्म दूध मे जामन देने पर दही की मर्यादा २४ घंटे है। बिलोते वक्त यदि छाछ मे पानी डाला जाए तो उसकी मर्यादा दिन-भर की है, यदि बिलोने के बाद पानी मिलाया जाए, तो इस तरह तैयार छाछ की मर्यादा सिर्फ ४८ मिनिट की है। (औत्सर्गिक विधान के अनुसार दूध, दही, मक्खन और घी अग्राह्य हैं, हाँ, आपवादिक विधान के अनुसार केवल वृद्ध और बीमार के लिए उन्हे ग्राह्य कहा गया है। औत्सर्गिक शब्द 'उत्सर्ग' से बना है जिसका अर्थ है 'मुख्य' तथा आपवादिक शब्द 'अपवाद' से बना है, जिसका अर्थ है 'गौण'। इस सिलसिले मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो विधान समान हैं।)

५ बूरे की मर्यादा ठड मे एक माह, गर्मी मे १५ दिन और वर्षा मे ७ दिन है। घी, गुड, तैल आदि की मर्यादा स्वाद न बिगडने तक मानी गयी है।

६ खिचडी, कढी, तरकारी आदि की मर्यादा ६ घंटे है। पूआ, सीरा, रोटी आदि जिनमे पानी का अश अधिक रहता है, की मर्यादा १२ घंटे की है। पुडी, पपडी, खाजा, लड्डू, घेवर आदि जिनमे पानी का किंचित् अश रहता है, की मर्यादा २४ घंटो की है।

७ जिस भोजन मे पानी न पडा हो, जैसे मगद आदि उसकी मर्यादा आटे की मर्यादा के तुल्य मानना चाहिये।

८ पिसे हुए मसालो की मर्यादा आटे की मर्यादा के समान है।

९ जिस दही मे बूरा, मिश्री, सारक, दाख आदि मीठी वस्तुएँ पडी हो, उसकी मर्यादा ४८ मिनिट की होती है। गुड के साथ दही या छाछ मिला कर खाना अभक्ष्य है।

× × ×

यह सूची अन्तिम नहीं है, अधिकतम है। इसमें अभी कई खाद्य पदार्थों का समावेश किया जा सकता है
परन्तु इस समय हमें पच्चक्खाण आदि छोड़ कर [illegible]
जाना चाहिये 'एक केन्द्रीय जैन खाद्य प्रयोगशाला' स्थापित करनी
चाहिये जो समय-समय पर
आहार-सम्बन्धी जानकारियाँ देती रहे तथा आवश्यक निष्कर्षों को प्रस्तुत
करने की जिम्मेदारी उठाये। यदि इसने ऐसा किया तो यह
न केवल जैनों के आहार-विज्ञान को एक स्वस्थ वैज्ञानिक [illegible]
अपितु सामाजिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी एक [illegible]

क्या आप अहिंसक हैं? इन्हें मत खाइये

ओला, घोरबडा, निशि-भोजन, बहुबीजा, बैंगन, मधान।
बड, पीपर, ऊमर, कठ-ऊमर, पाकर, फल जो होय अजान॥
कन्दमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस ये जिनमत बाईस बखान॥

१ **ओला**—अनछने पानी के जम जाने से अस्तित्व मे आता है। वह बर्फ भी इस श्रेणी मे आता है, जो अनछने पानी से जमाया गया हो।

२ **घोरबडा** (दहीबडा)—यह उडद या मूँग की दाल को फुला कर पीसने के बाद घी या तेल मे तल कर बनाया जाता है। इसे दही या छाछ मे डाल कर खाने से द्विदल (बिदल) खाने का दोष लगता है।

३ **निशि-भोजन**—रात्रि-भोजन निषिद्ध है।

४ **बहुबीजा**—जिस फल या शाक मे बीजो के अलग-अलग न हो, जैसे—अफीम का डोडा, अरण्ड ककड़ी आदि।

५ **बैंगन**—उन्मादक या विकृत होने के कारण अभक्ष्य।

६ **सधान**—अचार।

७ **बड़** (वट/बरगद)—इसके फल चमकीले लाल होते हैं। कभी-कभी पीले रग के फल भी लगते हैं।

८ **पीपर** (पीपल/अश्वत्थ)—इसके फल पकने पर लाल-जामनी रग के होते हैं।

९ **ऊमर** (गूलर)।

१० **कठ-ऊमर** (अंजीर)।

११ **पाकर** (पर्कट)—बरगद की तरह का एक वृक्ष।

१२ **अजान फल**—ऐसा फल जिसका स्रोत अथवा नाम अज्ञात हो। ऐसे फल कई बार हिंसा के कारण तो होते ही हैं, जानलेवा भी सिद्ध हो सकते हैं।

१३ **कन्दमूल**—अरबी आलू सकरकद आदि।

१४ **माटी** (मिट्टी)—खेत या खदान की मिट्टी।

१५ **विष** (जहर)।

१६ **आमिष** (माँस)।

१७ **मधु** (शहद)।

१८ **मक्खन**।

१९ **मदिरा** (शराब)।

२० **अतितुच्छ फल**—बहुत छोटा फल।

२१ **तुषार** (ओस)।

२२ **चलितरस**—ऐसे पदार्थ जिनका स्वाद बिगड चुका है, रस-भग हो गया हो।

(क्र ७ से ११ तक के वृक्षफल उदुम्बर फल कहलाते है। इन्हे सूक्ष्मजीवो का सघन उत्पत्ति-मूल/केन्द्र माना गया है।)

जैन 'किचन' के सोलह शृंगार

जिसे आज हम 'किचन' कहते हैं, मध्यकाल में हम उसे 'रसोईघर, रसोई या रसोड़ा' कहते रहे हैं। यह शब्द आज भी प्रचलित है। अधिक लोकप्रिय शब्द है—'चौका'। 'किचन' अंग्रेजी का शब्द है। 'रसोई' संस्कृत के 'रस' शब्द से हिन्दी के 'ओई' प्रत्यय के मेल से बना है, जिसके मायने हैं 'पका हुआ भोजन, तैयार आहार'। इससे कई शब्द बने हैं—रसोईघर, रसोईखाना, रसोईदार, रसोइया, रसोइयन, रसोइदारी आदि।

'किचन' लैटिनमूल का शब्द है। मूल लफ्ज है 'कोकीना', जो 'कोकर' क्रिया से बना है जिसका अर्थ है 'रसोई बनाना'।

इधर के वर्षों में अंग्रेजी सभ्यता के संपर्क के कारण इस शब्द का प्रचलन गहरी जड़ पकड़ गया है।

'चौका' शब्द भी काफी प्रचलित है। यह एक ऐसा शब्द है जो हमारी सांस्कारिक गरिमा और सांस्कृतिक श्रेष्ठता को व्यक्त करता है। 'चौका' संस्कृत के 'चतुष्क', प्राकृत के 'चउक्क', और हिन्दी के 'चौक' का विकसित रूप है, जिसका अर्थ है वह स्थान जहाँ रसोई तैयार की जाती है और किसी कुटुम्ब के सदस्य, अतिथि आदि बैठ कर जहाँ भोजन करते हैं। यह 'किचन-कम डाइनिंग कक्ष' होता है। चौके के चौकोर होने के कारण ही चौका शब्द प्रचलन में आया है। पहले रिवाज था कि भोजन-समाप्ति के बाद चौके को धो-बुहार कर उसे स्वच्छ/निर्मल कर दिया जाता था। उसके निर्मलीकरण का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। आज हम ध्यान तब रख रहे हैं जब किसी साधु के लिए उसे लगा रहे हैं।

आज चौका है नहीं, उसे लगाना पड़ रहा है। यह जो बदलाव आया है उसके फलस्वरूप चौका दो टुकड़ों में बँट गया है—किचन, डाइनिंग-कक्ष। किचन में से आहार [illegible] या [illegible] में मेज पर आ जाता है और वहाँ बैठे लोग अपनी-अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुसार [illegible] लेते जाते हैं। इस तरह रसोईघर [illegible] रसोई और घर दोनों अलग हो गये हैं। आज रसोई तो बनती है, किन्तु उसमें से आत्मीयता (घरेलूपन) निकल चुकी है।

चौके में किचन शब्द का उपयोग [illegible] बढ़ गया है, और [illegible] साधु के लिए [illegible] किचन का [illegible] हो गया है

एक पढा-लिखा आदमी 'चौका' कहने से झिझकता है, किन्तु 'किचन' कहने मे गर्व-गौरव का अनुभव करता है। हमे चौके को लौटाना है ताकि हम अच्छे स्वास्थ्य की दिशा मे कोई ठोस/सुदृढ कदम उठा सके।

जब हम चौके या रसोईघर की बात करते हैं, तब 'सोळा' या 'सोला' शब्द हमारे कदमो मे लिपट जाता है और विवश करता है कि हम उस पर सोचे। 'सोला' शब्द का 'सोलह' अर्थ तो सब जानते हैं, किन्तु इसका जो अर्थ निर्मलता, पवित्रता, निष्कलकता से सबन्धित है, उसके बारे मे हमारी जानकारी बहुत कम है।

'सोला/सोळा' शब्द कहाँ से आया, कैसे आया, किसलिए आया इत्यादि की चर्चा हम आगे चल कर करेंगे, पहले हम उसके 'सोलह' वाले अर्थ पर विचार करते हैं।

सोलह सख्या बडे महत्त्व की है। सोलह स्वर्ग है। चन्द्र की सोलह कलाएँ हैं। सोलह कारण भावनाएँ प्रसिद्ध हैं। १६ वर्ष का लडका मित्र और लडकी सयानी हो जाती है। स्त्री के सोलह शृगार सर्वविदित हैं। चूँकि चौके या किचन का एक गृहणी से सीधा सरोकार है, अत क्या हम यह नही सोचे कि जिस तरह एक नारी के सोलह शृगार होते हैं, वैसे ही 'अगार' यानी 'किचन' के भी सोलह शृगार हो सकते हैं? नारी के सोलह शृगार हैं—
शुचिता, उबटन, स्नान, केशबध, अगराग अजन, जावक, दतरजन, ताम्बूल, वसन, भूषण, सुगध, पुष्पहार, कुकुम, भाल-तिलक, चिबुक-बिन्दु। ठीक इसी तरह के सोलह शृगार जैन किचन के हैं—अहिसा, प्रासुकता, जल-गालन, शुद्धता, करुणा, रात्रि-भोजन के लिए द्वार बद रखना, सडी-गली वस्तुओ से बचाये रखना, अच्छे स्वास्थ्य के लिए द्वार उन्मुक्त रखना, सतुलित स्वास्थ्य के लिए रोजमर्रा के आहार की समीक्षा करना, देखना कि कौन-सी वस्तु खाने योग्य है और कौन-सी खाने योग्य नही है। सतुलित स्वास्थ्य के लिए सतुलित आहार आवश्यक है। सतुलित आहार का मतलब ऐसे आहार से है जो तन के लिए तो हो ही, मन और आत्मा के उन्नयन के लिए भी लाभकारी है। जो सिर्फ शरीर की शीर्णता को मद रखता हो वही आहार सतुलित नही है, बल्कि वह आहार सतुलित हो जो क्रोध, मान, माया, लोभ की गति को भी मद और सतुलित रखता हो और हमारे भावनात्मक स्वास्थ्य को भी सम्यक्/तेजोमय बनाये रखे। इस सतुलन का परिणाम यह होगा कि हमारा अन्तर्बाह्य चरित्र विकसित होगा और हम अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगे।
जब तक पार्थिव सुखो और अपार्थिव सुखो के बीच हम कोई विभाजक रेखा नहीं डालेंगे, उनके बीच सम्यक् सगति नहीं बिठायेंगे, उनकी प्राथमिकताएँ निर्धारित नही करेंगे तब तक यह सभव नही है कि हम 'मोक्ष-मार्ग-की-कला' पर अधिकार

प्राप्त कर सकें।

वह आहार जो यह मान कर चलता है कि 'शरीर' अन्तिम नही है'—जैन किचन का शृंगार है, किन्तु वह आहार जो स्वय को अन्तिम मानता हो और जिसे प्राप्त करना जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य हो, विकास की अपेक्षा विनाश की ओर ही ले जाएगा। खुराक सिर्फ खुराक नही है, वह चरित्र की एक महत्त्वपूर्ण बिम्ब भी है। हम जो भी खाते हैं, वह सिर्फ स्थूल ऊर्जा को ही निर्मित नही करता, बल्कि उसका नियन्त्रण हमारी आन्तरिक शक्तियो पर भी बनता है, इसलिए ध्यान से देखने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आहार सिर्फ आहार ही नही है वरन् वह चरित्र भी है, वह सिर्फ आचरण ही नही स्वरूपाचरण की दिशा मे भी एक सुनिश्चित पग है।

खुराक सिर्फ खुराक कहाँ है? वह कला, शिल्प, पुरातत्त्व, इतिहास, भूगोल, व्यापार, उद्योग, साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, क़ानून, भक्ति, उपासना सब है—प्रश्न मात्र रहस्य-बोध का है। जिसने आहार-के-मर्म को समझ लिया और उसे नियन्त्रित कर लिया, उसने वस्तुत वह सबकुछ पा लिया जिसके लिए सदियो साधना करनी होती है।

इस तरह किचन सिर्फ किचन कहाँ है, वह तन-मन-पर-अनुशासन है। 'किचन' को जो लोग 'अकिंचन' मान कर उसकी अवहेलना करते है, अन्तत उसके बुरे नतीजे न सिर्फ उन्हे भोगने होते हैं, अपितु आने वाली पीढ़ियो को भी उनसे अभिशप्त होना होता है।

'किचन मात्र स्वाद नही है, वह बाहर-भीतर का स्वास्थ्य भी है'—इस तथ्य का खयाल जो लोग रखते हैं, उनके जीवन मे आनन्द-के-सावन-भादो झड़ी बांध कर बरसते हैं।

भेद-विज्ञान जैन किचन का सर्वोपरि शृंगार है। अहिंसा पहला, भेद-विज्ञान अन्तिम। अहिंसा जैनाचार की बुनियाद है। उसके बिना वह मुर्दा है। निरर्थक है। बेमानी है। अहिंसा, हर कदम पर, जैन चरित्र की रीढ़ है। उसे छोड़ न तो कोई जैन जैन होता है और न ही उसका कोई मूल्य धार्मिक, सामाजिक, व्यक्तिगत अर्थ रह जाता है। वस्तुत अहिंसा को अनुपस्थित कर देने पर जैनत्व की कोई छवि बने यह असम्भव है। अहिंसा जैनत्व-रीढ़ की रोशनी है। रहते होते सबकुछ साफ-स्वच्छ-निर्मल दिखाई देता है।

अन्त मे हमे इस तरह का आहार ही करना चाहिये जिससे हर पल अहिंसा को [illegible] हुआई दे। जिससे यह नाद [illegible] प्रतिध्वनित हो कि 'शरीर अन्य है आत्मा अन्य है। शरीर [illegible] है [illegible] [illegible] है। जिस खुराक [illegible] [illegible] भेद-विज्ञान का [illegible] न बने वह जैन [illegible] का शृंगार कैसे हो सकता है'

इस तरह हम किचन को अकिंचन न माने। उसके अनुशासन को प्रतिपल बनाये रखे। उस पर अप्रमत्त दृष्टि रखे। भेद-विज्ञान जैसी उपलब्धि किचन मे-से आ सकती है इस महत्त्वपूर्ण सचाई को बहुत कम लोग जानते हैं। तमाम नर्क-स्वर्ग किचन मे पकते हैं। मुक्ति भी वही आकार ग्रहण करती है। भोजन मे लौकिक-अलौकिक दोनो स्वाद अवस्थित हैं। जिसकी आँखो मे सम्यक्त्व-का-आलोक है, वह आहार मे-से वीतरागता को प्राप्त कर लेता है और जिसके मन मे मिथ्यात्व ने अगद-के-पाँव की तरह मजबूती पकड रखी है, उसमे-से रागद्वेष के अलावा और भला क्या मिल सकता है?

किचन मे किसी तरह की किच-किच न हो यानी 'किच-किच न होना' 'किचन' है। जहां किच-किच है, वहां जैन चौके की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। मानिये, किचन सिर्फ एक भौतिक अस्तित्व ही नहीं है, वह एक भावनात्मक अस्तित्व भी है। उसके इर्द-गिर्द जो लक्ष्मण-रेखाएँ खिची हैं, उन पर हमारा ध्यान अक्सर नही जा पाता है। हम चौके को सिर्फ अपने परिवार का नही बल्कि पूरी सस्कृति का उदर माने और माने कि यही वह स्थान है जहाँ से सामाजिक जठराग्नि जन्म लेती है और पूरे समाज का नियन्त्रण करती है।

दो शब्द हैं 'सोळा' और 'शोला'। 'सोळा'/'सोला' शब्द पवित्रता, मागलिकता और उज्ज्वलता का प्रतीक है। यह सस्कृत से व्युत्पन्न शब्द है। 'शोला' अरबी का शब्द है। जिसके मायने हैं 'आग की लपट, अगार'। आग का स्वभाव है कि वह किसी भी वस्तु मे दोष नही रहने देती। अग्नि का स्पर्श-मात्र वस्तुओ/स्थितियो को प्रासुक/अविकृत कर देता है।

मराठी मे 'सोवळा/सोवळा' शब्द आये हैं, जिनका अर्थ है स्वाभाविक निर्मल, अविकृत, स्वच्छ, पवित्र। इनका विलोम है 'ओवळा' (ओवळा), जिसका अर्थ है कृत्रिम, विकृत, अप्राकृतिक, अमागलिक, अनुज्ज्वल, अशुद्ध, सदोष। दोनो शब्दो को मगल मे-से विकसित माना गया है सोवळ = सुमगल, ओवळ = अमगल।

'सोवळे' उस रेशमी वस्त्र को भी कहा गया है, जो किसी धार्मिक कृत्य के लिए सुरक्षित रखा गया हो (अब रेशमी वस्त्र को अपवित्र माना जाता है, क्योकि रेशम-उत्पादन मे काफी हिंसा होती है)। 'सोवळे' का अर्थ धोया-सुखाया वस्त्र भी है। 'सोवळा' का अर्थ निष्कलक, स्वच्छ, निर्मल, निर्दोप आदि भी है। 'सोवळेकरी' रसोइये को कहते हैं।

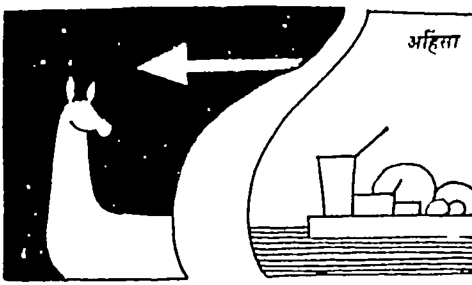
गुजराती मे 'सोळ' का अर्थ 'सोलह' और 'सोळु' का अर्थ तेजोमय, दीप्तिमन्त, स्वच्छ, साफ-सुथरा होता है। इसे सस्कृत मे 'उज्ज्वल' विशेषण से व्युत्पन्न/विकसित माना गया है।

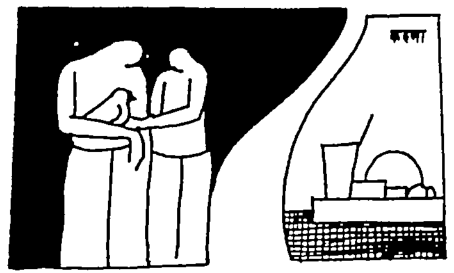
जा हा 'सोला' करना महाराष्ट्र, दक्षिण भारत और बुन्देलखण्ड मे बहुत प्रचलित है।
सोला करने

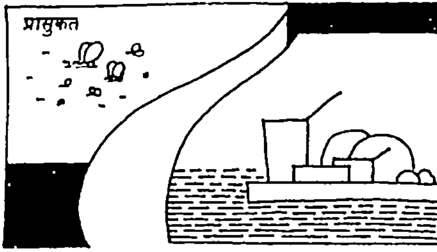
का मतलब होता है बहुत साफ-सुथरे/पवित्र ढंग से किसी धार्मिक कृत्य को सम्पन्न करना। 'सोला' में स्वच्छता-शास्त्र की विशद भूमिका है। जिस तरह ऑपरेशन-थियेटर में स्वच्छता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है और किसी तरह की छूत या अस्वच्छता को बर्दाश्त नही किया जाता, ठीक उसी तरह चौके मे भी किसी तरह की छूत, अस्वच्छता, या गदगी को नही आने दिया जाता। वहाँ जो लोग काम करते है, वे एक शल्य-चिकित्सक की तरह बहुत सावधानी से काम करते है, अपने वस्त्रो को निर्जन्तुक प्रासुक, अस्पृष्ट रखने की कोशिश करते है।

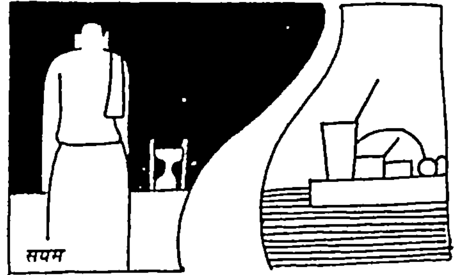
किन्तु आज हमारे 'किचन' की हालत काफी दयनीय है। उसके दो टुकड़े हो गये है—रसोईघर और आहार-कक्ष। पहले ये दोनो एक थे। रसोई बनाने वाले और रसोई-का-उपभोग करने वाले दोनो को ही पूरी तरह स्वच्छ रहना होता था। रसोई तो स्वच्छ होती ही थी। आज तीनो की विश्वसनीयता भग हो गयी है। बुहारी से ले कर जल-गालन तक/सूर्योदय से ले कर सूर्यास्त तक के नियम है चौके के, जिन्हे मानना और मान कर निभाना बहुत आवश्यक होता है।

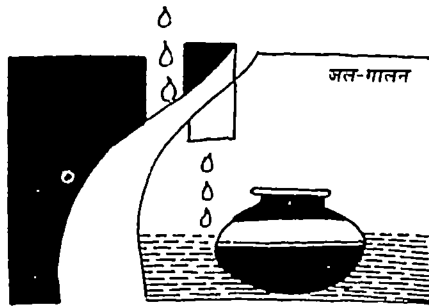
जैन चौके की लगाम सूरज के हाथ मे है। वही उसके द्वार खोलता और बद करता है। सूरज की पहली किरण जैन किचन पर दस्तक देती है, उसकी साँकल खुलवाती है। और अन्तिम किरण उसकी चिटकनी चढ़ा देती है। किन्तु आज यह सब नही है। हमने सूरज से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है। अब न तो हम सूर्योदय देख पाते है और न सूर्यास्त। हम सिर्फ धनोदयो और धनास्तो में पड़े रात-दिन चीखते-कराहते रहते है।

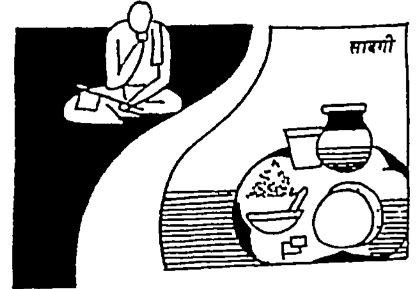


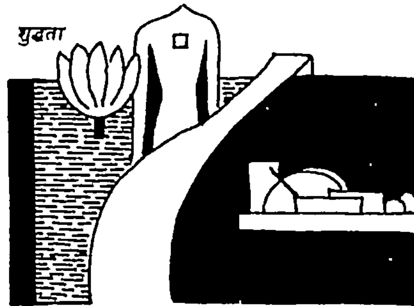


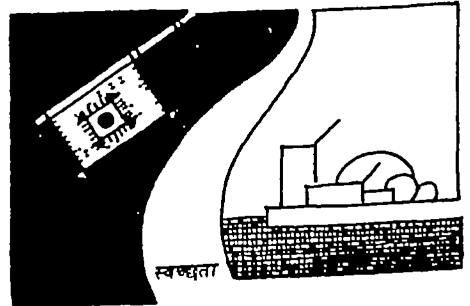












हाइजिन' आज खरगोश की सीग हुई है, जिसे लौटाना बेहद ज़रूरी है।
आइये, अब हम जैन 'किचन' के सोलह शृगारो पर एक सरसरी नज़र डालते हैं।
जैन किचन की शीर्ष अनिवार्यता है अहिंसा। अहिंसा जल से ले कर अन्न तक।
रसोईघर के, यानी चौके के फर्श से ले कर उसकी छत तक यह देखना कि क्या
उसका फर्श प्रासुक है, उसका आकाश/अन्तरिक्ष प्रासुक है सबमे पहली शर्त है।
छत को या तो नियमित साफ रखा जाए या फिर चँदोवा बाँधा जाए।
चँदोवा यदि लगाएँ तो उसे सप्ताह मे एक वार पखवाडे मे एक वार
धोये ज़रूर।
आलमारियाँ साफ रखे। पात्र-पोछने के पोछे स्वच्छ/प्रासुक रखे। जिन पात्रो

जो कच्ची सामग्री हो उन्हे बिल्कुल सकरा/अस्वच्छ न होने दे अर्थात् उन पर कही भी कोई गदगी या मैल न जमने दे। खाने-पीने की वस्तुओ को शोधे, शुद्ध करे। उन्हे छना-बिना रखे। तरल पदार्थों को छानने के लिए शुद्ध सूती वस्त्र काम मे ले।

सूती वस्त्र की तुलना मे अन्य कोई छन्ना उपयोगी सिद्ध नही हुआ है। विज्ञान के आविष्कारो ने सूती वस्त्र के आगे घुटने टेक दिये हैं। अधिकाश लोग अब सूती कपडे की ओर लौट रहे हैं/लौटने लगे हैं।

प्रतिपल इस बात का ध्यान रखे कि चौके मे (चौके के बाहर भी) किसी भी प्राणी को कोई कष्ट न हो। एक तो स्वच्छता इतनी रखे कि न चीटियाँ हो, न तिलचट्टे, न मकडियाँ हो, न चूहे, न छछूदर आये, न बिल्ली परिक्रमा दे। अप्रमत्त रह कर हम 'जैन चिन्तन' के इस शीर्ष शृगार को अविकल-अविचल रख सकते हैं। इतना ही नही, अहिंसा के अन्तर्गत रसोई बनाने वाले पर यह दायित्व अपने-आप आ जाता है कि वह न तो स्वय की भावनाओ को दूषित रखे और न ही चौके मे भोजन के लिए पधारे परिजनो और अतिथियो के बारे मे कोई दुर्भाव रखे। मन की निश्छलता, पवित्रता, और निष्कपटता न सिर्फ भोजन का स्वाद बढा देती है, बल्कि वह उसमे प्रासुकता को भी जनमती है। अहिंसा का सर्वत्र ध्यान रखना जैन चिन्तन की निरन्तरवर्ती शर्त है।

चाहे हम कही हो, पानी छान कर पीने के अपने व्रत, अपनी मर्यादा को अवश्य निभाये। इससे जहाँ एक ओर हम अहिंसा का निर्वाह कर सकेंगे, वही दूसरी ओर अपने स्वास्थ्य की रक्षा भी कर पायेंगे।

शुद्धता के अन्तर्गत बर्तन साफ रखना, खाद्यान्न आदि का बीनना-छानना, निर्जन्तुक खाद्यो का इस्तेमाल करना आता है। कोई ऐसी वस्तु का इस्तेमाल जो अस्वच्छ हो या जो ऐसी जगह उत्पादित हो जहाँ हिंसा होती हो या हुई हो इसके अन्तर्गत आ जाता है। जहाँ अहिंसा और प्रासुकता का पालन है, वहाँ करुणा-की-झिर्रियाँ मन-के-भीतर बुद-ब-बुद फूट निकलती है। ध्यान रहे करुणा की नही जाती, हो जाती है। जैनाचार/धर्म/दर्शन 'होने' मे है, उसका 'करने' मे कोई सबन्ध नही है।

सयम का सबन्ध स्वाद और परिमाण से है। हम कैसा खा रहे है और कितना खा रहे है—चौका इस पर तब नजर रख सकता है जब हम चौके के अलावा कही और खाते-पीते न हो। यदि हमारा चौका मीलो फैला हुआ है तो फिर सयम का प्रश्न बहुत मुश्किल हो पडता है, फिर हम मोटे तौर पर शाकाहारी बने रह सकते है और प्रासुक वस्तुओ को स्वीकार करने की सावधानी बरत सकते है। खानपान मे जरा भी शिथिलता आने पर स्वास्थ्य और सयम पर उसका दुष्प्रभाव पड सकता है, अत हम एक तो अस्वाद को अपने जीवन मे लाये और दूसरे पेट मे जितना आ सकता हो उसका तीन-चौथाई खाये। बार-बार न खाये। हम खाने के लिए न जिये, जीने के लिए खाये यानी 'बेहतर जीने के लिए बेहतर खाये'।

सादगी का अर्थ बहुत स्पष्ट है। जहाँ तक सभव हो उक्त बातो का ध्यान रखते हुए स्वाभाविक आहार ले। प्रोसेस्ड/ससाधित फूड से बचे। मसाले कम खाये। स्वास्थ्य के प्रतिकूल खाने से बाज आये। तले हुए पदार्थ रोज-ब-रोज न खाये। इच्छाओ पर काबू पाये। उन्हे जीते। दिखावे से बच कर स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमो का पालन करे। ऐसा खाना खाये जो प्राकृतिक रूप मे और आसानी से बनाया जा सकता हो और हमारा (मनुष्य का) पाचन-तन्त्र जिसे सरलता से पचा सकता हो। वस्तुत तामसिक पदार्थो से बचने का नाम ही सादगी है। तामस आहार से तन-मन की रक्षा सादगी है।
स्वच्छता का अर्थ सब जानते है। नहाये। धोये। झाडे। बुहारे। माँजे। एक-दूसरी वस्तु को अनावश्यक रूप से एक-दूसरे मे न मिलाये। समय की मर्यादा का पालन करे। रसोई के उपकरणो को निर्मल/स्वच्छ रखे। उनकी अप्रमत्त/सावधान देख-भाल करे।
जैन चौके मे मास-मच्छी-अण्डे आदि के प्रवेश का तो कोई प्रश्न ही नही है

अहिंसा और प्रासुकता में निरामिषता आपोआप सम्मिलित है। मद्य, मांस, मधु इन तीनों मकारों (मकारों) के लिए जैन चौके के द्वार बंद हैं। इन्हें कभी न खाएं, न सूंघें। जमीकंद एकेन्द्रिय जीवों की कॉलोनियां हैं। इन्हें न खाएं। अब यह तय हो गया है कि जो पदार्थ सूर्य की रोशनी में पनपते-पकते हैं, वे उन पदार्थों से अधिक श्रेष्ठ और स्वास्थ्यकर होते हैं जो जमीन के नीचे पैदा होते हैं। अंधेरे में जनम कर प्रकाश दे पाना जमीकंदों के वश की बात नहीं है।

रात्रि में आहार न लें।
जैन ग्रन्थों में तो रात्रि भोजन का निषेध है ही, 'महाभारत'-जैसे महान् ग्रन्थ ने भी निशि भोजन का निषेध किया है। उसने इसे स्वास्थ्य के लिए घातक और हानिकारक बताया है।

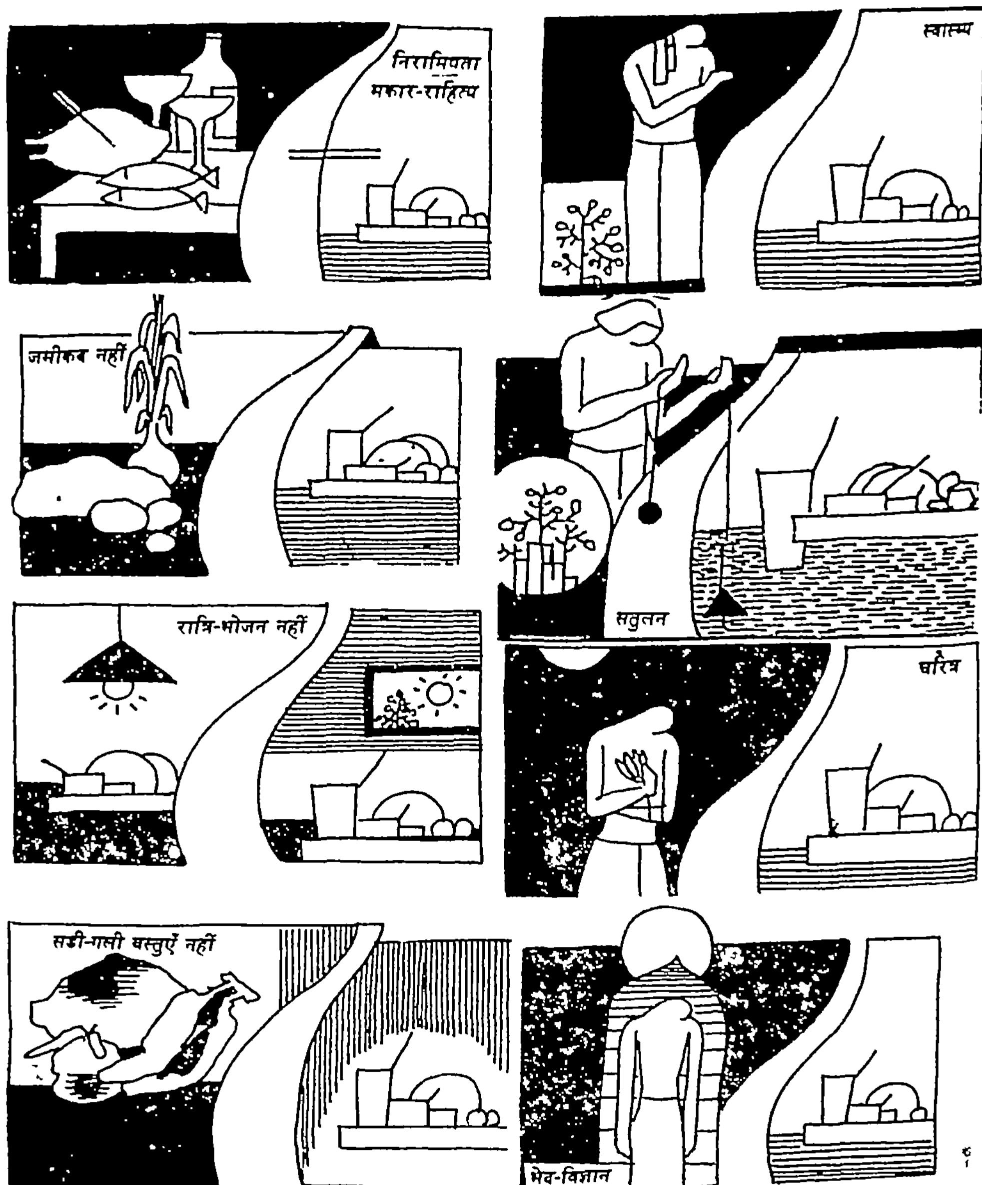
'महाभारत' की पंक्तियां हैं—मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्। ये कुर्वन्ति वृथा, तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तपः॥ (जो पुरुष मद्यपान करते हैं, मांस खाते हैं, रात में भोजन करते हैं, कंद-भक्षण करते हैं, उनकी तीर्थयात्रा और जप-तप व्यर्थ है।) महर्षि मार्कण्डेय का कथन है—अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते। अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा॥ (महर्षि मार्कण्डेय के मत हैं कि सूर्यास्त के बाद जल रुधिर हो जाता है और अन्न मांस)।

अतः हमें रात्रि भोजन से बचना चाहिये और सूरज से निवेदन करना चाहिये कि वह पहले की तरह अब फिर जैन किचन की खिड़की ही नहीं बल्कि उसका ताला बंद करने की कृपा करे।

को खतरे मे नहीं डालना चाहिये। इस तरह ताज़गी जैन किचन की अनिवार्यता है—वह उसका सर्वोत्तम आभूषण है।

उक्त एक दर्जन शर्तों का पालन यदि हम करते हैं तो यह असभव ही है कि हम अस्वस्थ हो। ये शर्तें इतनी सहज हैं कि तन-मन दोनो की मेहत/हैसियत सौटच न रहे यह असभव है। अतिक्रमण या उल्लघन की बात अलग है उसके तो दुष्परिणाम निकलेगे ही।

स्वास्थ्य के बाद सतुलन की बारी आती है। सतुलन जैन किचन का चौदहवाँ शृगार है। हमे क्या चाहिये। हमे कब चाहिये। हमे कितना चाहिये। हमे किसलिए चाहिये। इस तरह के आहार-विवेक का नाम सतुलन है। इसे निभाने



पर स्वास्थ्य-सम्बन्धी कोई गड़बड़ी पैदा हो यह असंभव है।

जब हम इन चौदहों शृंगार का महायोग करते हैं, इन्हें जोड़ते हैं, तो जो सार आता है उसका नाम है चरित्र। यहाँ चरित्र का मतलब अन्तरंग/बहिरंग दोनों प्रकार के आचरण से है।
भोजन का तन-मन दोनों पर प्रभाव पड़ता है।

ज्यादातर अपराध दूषित/विकृत/असंतुलित/तामसिक आहार के दुष्परिणाम होते हैं। आहार चरित्र पर लगाम रखने वाला/उसका नियमन करने वाला सर्वोच्च तत्त्व है। आहार या किचन से हम पता लगा सकते हैं कि कौन आदमी कैसा है?

कहावत है कि यू केन नो ए मैन बाय द किचन ही कीप्स (किसी का रसोईघर कैसा है, इसे जान कर हम उस आदमी के स्वभाव, रहन-सहन आदि का पता लगा सकते हैं)। यदि आपके सामने किसी व्यक्ति के आहार में सम्मिलित पदार्थों की तालिका हो तो आप आसानी से उस आदमी के बारे में सुनिश्चित भविष्यवाणी कर सकते हैं।

भेद विज्ञान जैन आगम का नवनीती शब्द है। इसके मायने हैं जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी जानना। वस्तु का स्वरूप-बोध भेद विज्ञान है। शरीर को शरीर और आत्मा को आत्मा जानना और दोनों को अपनी अपनी गुणों से अपने-अपने चिंतन में रखना भेद विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। शरीर का चिंतन स्वार्थपरक है और आत्मा का चिंतन पुण्यवान्य अथवा [illegible] धर्मपरक। इसी तरह से सभी गुणों का उजागर करना जैन चिंतन का अन्तिम प्रमाण है।

पानी छान कर क्यों पियें?

जल-गालन/पानी छानने को ले कर जैनो मे जिस विधि/पद्धति का विकास हुआ है वह इसलिए तर्कसगत है कि वह मात्र एक स्थूल आचार नही है, वरन् जैन चिन्तन का एक पुख्ता आधार है। वस्तुत हम जिन सिद्धान्तो को मानते हैं यदि उन्हे जीवन की साधारणताओ मे वितरित करके देखते/जीते नही हैं तो उन्हे निरर्थक समझना चाहिये।

पानी जैसे छाना जाए? छन्ना कितना बडा हो? जल मे कितने/किस प्रकार के जीव हो सकते हैं? प्रासुक जल और छने हुए जल की उम्रे क्या हैं? इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विस्तार से सोचा जाना चाहिये।

पानी को सूती वस्त्र (सुदृढ वस्त्र) से छानना चाहिये। यह दोहरा हो, रगीन न हो, पुराना या पहिना हुआ, या छिद्रयुक्त न हो। जिस छन्ने से पानी छाना जाए वह १८" × २७" = ४९६ वर्ग इच = ३ ७५ वर्ग फुट का हो। सूती इसलिए हो कि रुई के रेशो मे गफ होने और 'छन्ने-मे-एक-और-छन्ना' बन जाने की शक्ति होती है। वे नरम होते हैं और गीले होने पर सगठित हो जाते हैं। रासायनिक रेशो से बने कपडे के छन्ने कभी वैसा काम नही कर सकते जैसा सूती छन्ने, इसलिए यथाशक्ति हाथ-कते सूत के छन्ने का उपयोग करना चाहिये। जल मे असख्य जीव होते हैं। **व्रत विधान सग्रह-३१** मे आया है कि जल की एक बूँद मे कितने जीव हैं वे यदि कबूतर के बराबर हो कर उडे तो उनके द्वारा यह जम्बूद्वीप लबालब भर जाएगा। डॉ जगदीशचन्द्र बसु ने एक बूँद जल मे ३९,४५० बैक्टीरिया जीवो को साबित किया है। अब तो ऐसी खुर्दबीने आ गयी हैं कि जीवो को और अधिक सख्या मे देखा जा सकता है। जैसे-जैसे हमारे वैज्ञानिक उपकरण विकसित होते जाते हैं, हम अधिक असदिग्ध हो कर अधिक जानने लगते हैं। इस अतिरिक्त ज्ञान का हमे ठीक-ठीक और विवेकयुक्त उपयोग करना चाहिये। कुतर्क कोई भी कर सकता है, किन्तु एक तर्कसगत तथ्य को जीवन मे प्रकट करना कठिन होता है। यहाँ यह ध्यान मे रखना होगा कि जलकायिक जीव एकेन्द्रिय होते हैं यानी हम छन्ने के द्वारा दो से ले कर पाँच इन्द्रिय तक के जीवो को तो छानना ही चाहते हैं और उनके अनुरूप वातावरण मे ही उन्हे सहअस्तित्व देना चाहते हैं। यह सब हमारी करुणा की आकृतियाँ हैं। जैनो की करुणा कोरी शाब्दिक कभी नही रही अपितु वह जीवन मे जहाँ-तहाँ प्रकट हुई हैं, उसके रेशे-रेशे और रग-रग मे समा गयी है।

प्रासुक जल से जैनो का आशय जीव-रहित जल से है। वर्षा का जल प्रासुक माना गया है। उबाला हुआ जल प्रासुक माना गया है। छने हुए पानी की उम्र ४८ मिनिट और उबले हुए जल की २४ घण्टे मानी गयी है। इस अवधि के बाद उसका अविकृत रहना सभव नही है। जल का रग श्वेत/धवल माना गया है। रग से भी पानी के पेय/अपेय होने का निर्णय लिया जाता है। पानी को उसकी सपूर्ण स्वाभाविकता मे ही ग्रहण किया जाना चाहिये।

माना, आज पानी छन कर आता है, किन्तु मैं सुझाव दूँगा कि एक बार इन जलप्रदायो का व्यक्तिगत निरीक्षण किया जाना चाहिये। जिस बडे पैमाने पर यह सब घटित होता है उसमे अपरम्पार जीव-हिंसा होती है जिसे युक्तियुक्त नही ठहराया जा सकता और फिर क्या इन बडी-बडी टकियो को रोज-रोज साफ करना सभव हो सकता है? नही। ऐसी स्थिति मे कीटाणुनाशक दवाओ का प्रयोग अवश्य किया जाता है, किन्तु

स्न्त्याओं की ओर ध्यान प्रायः नहीं हो पाता है। स्वाभाविक है कि इस तरह [illegible] की हित रक्षा का होता है, उसके साथ सहअस्तित्व का नहीं। सारा व्यापार आज सहअस्तित्व में [illegible] है। जहाँ-जहाँ सहअस्तित्व भंग हुआ है, वहाँ-वहाँ दुर्घटनाएँ हुई हैं। प्रकृति का असन्तुलन कभी [illegible] है। इसके अलावा जलप्रदाय में पानी पाइप-लाइन के द्वारा घर-घर पहुँचता है। ऐसे [illegible] पाइप-लाइन के समानान्तर मल-निकास की लाइन भी बनी होती है जिनके कारण [illegible] और जल सब नल में मिल कर कई संक्रामक रोगों का कारण बन जाता है।

मुझे याद है एक कॉलोनी की पाइप-लाइन में ड्रेनेज की लाइन फूट गयी। कई महीने तक [illegible] मिला-जुला पानी पीते रहे। बीमार पड़े। अन्ततः पानी की जाँच की गयी। पाइप-लाइन सही की गयी [illegible] दुरुस्त किया गया। कॉलोनी में जो लोग पानी छान कर पीते थे उन्होंने अपने बच्चों में बेहतर [illegible] और पायी। [illegible] ना पकड़ में आया हो। इसी तरह का एक उदाहरण और मेरे सामने है। [illegible] में उन दिनों रहता था। एक जैन परिवार मेरा पड़ोसी था। [illegible] पानी [illegible] परिवार के [illegible] की कठोरता/दृढ़ता से पालन करते थे। [illegible] उनके मन में कहीं नहीं था। स्वच्छता के लिए पानी छानना/देखते थे। परिवार के बच्चों की आदत थी कि वे जब भी पानी पीते थे पात्र को भलीभाँति देख कर [illegible] एक दिन वे स्तब्ध रह गये। पानी पीना ही चाहते थे कि उन्हें [illegible] एक केंचुआ दिखायी दिया। पानी [illegible] बार छाना जा चुका था, किन्तु गिलास में कहीं से वह केंचुआ आ गया था। उन्होंने पानी फेंक [illegible] दिया तथा जैनधर्म को धन्यवाद दिया।

नागपुर का एक मित्र-परिवार दो दिनों तक [illegible] का पानी पीता रहा [illegible] भर रह पायी था। यह परिवार का [illegible] आयी।

पानी छान कर क्यों पियें?

जल-गालन/पानी छानने को ले कर जैनो मे जिस विधि/पद्धति का विकास हुआ है वह इसलिए तर्कसगत है कि वह मात्र एक स्थूल आचार नही है, वरन् जैन चिन्तन का एक पुख्ता आधार है। वस्तुत हम जिन सिद्धान्तो को मानते हैं यदि उन्हे जीवन की साधारणताओ मे वितरित करके देखते/जीते नही हैं तो उन्हे निरर्थक समझना चाहिये।

पानी जैसे छाना जाए? छन्ना कितना बडा हो? जल मे कितने/किस प्रकार के जीव हो सकते हैं? प्रासुक जल और छने हुए जल की उम्र क्या हैं? इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विस्तार से सोचा जाना चाहिये।

पानी को सूती वस्त्र (सुदृढ वस्त्र) से छानना चाहिये। यह दोहरा हो, रगीन न हो, पुराना या पहिना हुआ, या छिद्रयुक्त न हो। जिस छन्ने से पानी छाना जाए वह १८" × २७" = ४९६ वर्ग इच = ३ ७५ वर्ग फुट का हो। सूती इसलिए हो कि रुई के रेशो मे गफ होने और 'छन्ने-मे-एक-और-छन्ना' बन जाने की शक्ति होती है। वे नरम होते हैं और गीले होने पर सगठित हो जाते हैं। रासायनिक रेशो से बने कपडे के छन्ने कभी वैसा काम नही कर सकते जैसा सूती छन्ने, इसलिए यथाशक्ति हाथ-कते सूत के छन्ने का उपयोग करना चाहिये। जल मे असख्य जीव होते हैं। **व्रत विधान सग्रह-३१** मे आया है कि जल की एक बूँद मे कितने जीव हैं वे यदि कबूतर के बराबर हो कर उडे तो उनके द्वारा यह जम्बूद्वीप लबालब भर जाएगा। डॉ जगदीशचन्द्र वसु ने एक बूंद जल मे ३९,४५० बैक्टीरिया जीवो को साबित किया है। अब तो ऐसी खुर्दबीने आ गयी हैं कि जीवो को और अधिक सख्या मे देखा जा सकता है। जैसे-जैसे हमारे वैज्ञानिक उपकरण विकसित होते जाते हैं, हम अधिक असदिग्ध हो कर अधिक जानने लगते हैं। इस अतिरिक्त ज्ञान का हमे ठीक-ठीक और विवेकयुक्त उपयोग करना चाहिये। कुतर्क कोई भी कर सकता है, किन्तु एक तर्कसगत तथ्य को जीवन मे प्रकट करना कठिन होता है। यहाँ यह ध्यान मे रखना होगा कि जलकायिक जीव एकेन्द्रिय होते हैं यानी हम छन्ने के द्वारा दो से ले कर पाँच इन्द्रिय तक के जीवो को तो छानना ही चाहते हैं और उनके अनुरूप वातावरण मे ही उन्हे सहअस्तित्व देना चाहते हैं। यह सब हमारी करुणा की आकृतियाँ हैं। जैनो की करुणा कोरी शाब्दिक कभी नही रही अपितु वह जीवन मे जहाँ-तहाँ प्रकट हुई है, उसके रेशे-रेशे और रग-रग मे समा गयी है।

प्रासुक जल से जैनो का आशय जीव-रहित जल से है। वर्षा का जल प्रासुक माना गया है। उबाला हुआ जल प्रासुक माना गया है। छने हुए पानी की उम्र ४८ मिनिट और उबले हुए जल की २४ घण्टे मानी गयी है। इस अवधि के बाद उसका अविकृत रहना सभव नही है। जल का रग श्वेत/धवल माना गया है। रग से भी पानी के पेय/अपेय होने का निर्णय लिया जाता है। पानी को उसकी सपूर्ण स्वाभाविकता मे ही ग्रहण किया जाना चाहिये।

माना, आज पानी छन कर आता है, किन्तु मैं सुझाव दूँगा कि एक बार इन जलप्रदायो का व्यक्तिगत निरीक्षण किया जाना चाहिये। जिस बडे पैमाने पर यह सब घटित होता है उसमे अपरपार जीव-हिंसा होती है, जिसे युक्तियुक्त नही ठहराया जा सकता और फिर क्या इन बडी-बडी टकियो को रोज-रोज साफ करना सभव हो सकता है? नही। ऐसी स्थिति मे कीटाणुनाशक दवाओ का प्रयोग अवश्य किया जाता है, किन्तु

स्वच्छताओ की ओर ध्यान प्राय नही ही जाता है। स्मरणीय है कि इस तरह जल छानने वक्त ध्यान जीवो की हिंसा करने का होता है, उनके साथ सहअस्तित्व का नही। सारा ब्रह्माण्ड आज सहअस्तित्व मे धड़क रहा है। जहाँ-जहाँ सहअस्तित्व भग हुआ है, वहाँ-वहाँ दुर्घटनाएँ हुई है। प्रकृति को असतुलन कभी स्वीकार्य नही है। इसके अलावा जलप्रदाय से पानी पाइप-लाइन के द्वारा द्वार-द्वार घर-घर पहुँचता है। मैंने देखा है कि पाइप-लाइन के समानान्तर मल-निकास की लाइने भी डली होती हैं जिनके कारण 'पर्फोरेशन्स' होते हैं और अपेय जल पेय जल से मिल कर कई सक्रामक रोगो का कारण बन जाता है।

मुझे याद है एक कॉलोनी की पाइप-लाइन मे सूएज की लाइन जुड़ गयी। कई महीनो तक वहाँ के लोग मिला-जुला पानी पीते रहे। बीमार पडे। अन्तत पानी की जॉच की गयी। पाइप-लाइन खोदी गयी और उसे दुरुस्त किया गया। कॉलोनी मे जो लोग पानी छान कर पीते थे उन्होंने अपने छन्नो मे केचुए/जोंके तक छानी और फेकीं। कूड़ा-करकट तो पकड मे आया ही। इसी तरह का एक उदाहरण और मेरे सामने है। बड़वानी मे मैं उन दिनो रहता था। एक जैन परिवार मेरे काफी निकट था। वे सब यानी उस परिवार के लोग जैनाचार का कठोरता/दृढता से पालन करते थे। अन्धविश्वास उनके मन मे कतई नही था। स्वच्छताओ के लिए पानी छानते/ढँकते थे। परिवार के कर्ता की आदत थी कि वे जब भी पानी पीते थे, पात्र को भलीभाँति देख लेते थे। एक दिन वे स्तब्ध रह गये। पानी पीना ही चाहते थे कि उन्हे उसमे एक सँपोला दिखायी दिया। पानी एक बार छाना जा चुका था, किन्तु गिलास मे कही से कोई सँपोला आ गया था। उन्होंने पानी फेका और दूसरा पिया तथा जैनधर्म को धन्यवाद दिया।

नागपुर का एक मित्र-परिवार दो दिनो तक उस घडे का पानी पीता रहा, जिसमे एक छिपकली पड कर सड चुकी थी। जब परिजनो का पेट खराब होने लगा तब उस पर ध्यान गया और जड़ पकड मे आयी।

एक कॉलेज के छात्र अपनी स्थानीय टकी मे मरी हुई चिड़िया की सडांध को पीते रहे और जब उल्टियाँ होने लगीं तब उस ओर ध्यान गया।

स्टेशनो पर, छोटे-छोटे गाँवो मे जल-प्रदाय की व्यवस्थाएँ कहाँ हैं? आज भी देश के हजारो गाँव पेय जल के अभाव मे जी रहे हैं, इसलिए पानी को उसकी उम्र के बाद छान कर पीना जरूरी है। सर्वप्रथम तो हम उसे छाने ही, उसके बाद भी उसकी देखभाल करे। अप्रमत्तता हमारे जीवन का एक अपरिहार्य अग होनी चाहिये। पानी छान कर पीने का मतलब अप्रमत्तता भी है। हममे आलस नही है, अहिंसा का हमारा रियाज सतत् चल रहा है, जीवो के प्रति मन मे करुणा का भाव है समत्व और सहअस्तित्व हमारे जीवन मे कोरी बकवास नही हैं, वरन् वे हर काम मे/पर प्रतिबिम्बित हैं।

सामान्य कार्य—मामूली-से-मामूली—भी हमारे चिन्तन का प्रतिनिधि होता है। गाधीजी को ले। गाँधीजी देश को स्वतत्र करना चाहते थे। तकली और चरखा उनके साथ जुडे। क्या आप सोचते हैं कि तकली-चरखा उनके लिए सूत कातने के मामूली उपकरण थे? वे उनके समग्र चिन्तन के प्रतिनिधि थे। वे चाहते थे विदेशी माल का बहिष्कार किया जाए। देश के उद्योग-धन्धे पनपे। विकेन्द्रीकरण हमारी अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार बने। लोग जागे। लोकशक्ति जागे। जनता जाने कि मामूली-सी-मामूली काम मे से स्वतत्रता का आविर्भाव कैसे हो सकता है? तकली मे चित्त किस तरह एकाग्र हो सकता है? क्या

जैन आहार-विज्ञान शब्द-कोश

(शब्द-सख्या ८३)

(सकेत : अ.श. = अन्य शब्द, दे = देखिये, प्रा = प्राकृत, बु = बुन्देलखण्डी, स = सस्कृत)

अगार = आहार-सबन्धी एक दोष, जो मूर्च्छित हुआ अतितृष्णा से आहार ग्रहण करता है उसे यह दोष लगता है, (एक जैन साधु ४६ आहार-दोषो से मुक्त, आहार लेता है, ये है १६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० अशन दोष, सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम)।

अघखानि = पापो की खान।

अचित्त = प्रासुक, निर्जन्तुक, चैतन्य परिणाम से रहित।

अजान = अपरिचित, जिसे पहले कभी जाना नही गया हो।

अथाना = अचार, सधान, बु।

अध:कर्म = आहार-दोष, जिसके बनाने मे हिंसा हुई हो और जो स्व या पर के निमित्त से बनाया गया हो, मुनि के निमित्त बनाया गया आहार, आधा-कर्मिक = साधु के निमित्त बनाया गया आहार।

अनुपसेव्य = जूठा, जूठन।

अन्तर्मुहूर्त = मुहूर्त—समय = भिन्नमुहूर्त—समय = अन्तर्मुहूर्त।

अपर्याप्त = वे जीव जिनका शरीर पूर्ण नहीं हुआ है (पर्याप्तियाँ ६ हैं—आहार, शरीर, श्वास, इन्द्रिय, भाषा, मन)।

अप्रतिष्ठित वनस्पति = जिस वनस्पति-शरीर का स्वामी एक जीव हो तथा जिसके आश्रित कोई निगोद शरीर न हो।

अबोंधा = बगैर सुला हुआ।

अभक्ष्य = न खाने योग्य, भक्ष्य का विपरीत।

अवमौदर्य = स्वाभाविक आहार (३२ ग्रास) मे-से १-२ ग्रास से क्रमश कम करते हुए एक कवल तक का आहार, भूख से कम खाना, ऊनोदरी।

अशन = आहार, भोजन।

अष्ट मूलगुण = तीन मकार (मास, मद्य, मधु) और पाँच उदुम्बर फलो का त्याग।

असिक्थ = बगैर सीत का पानक या माड।

आमिष = मास।

उदुम्बर = बड, पीपल, ऊमर (गुलर), कठूमर, पाकर, इन्हे अभक्ष्य माना गया है, इनमे त्रस जीव प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं, अ श उदबर, उडबर।

उद्देशिक (उद्दिष्ट) = मुनियो के निमित्त बनाया गया आहार।

उपवास = १ उपशमन, २ शुद्धात्म स्वरूप में लीन होना, ३ चतुर्विध आहार का

ऊनोदरी (ऊनोदरिका) = अवमौदर्य, भूख से कम खाना।

ऊमर = उदुम्बर, दे गूलर।

एकभक्त = सूर्योदय से ३ घडी पश्चात् और सूर्यास्त से तीन घडी पूर्व

ज्यादातर लोग मानते हैं कि वरक भक्ष्य है; अतः वे उसे मिठाई, सुपारी, दवाई इत्यादि के साथ वेझिझक खाते हैं और धडल्ले से मदिरो, विशेषत' जैन मदिरो, में लाते-ले जाते है, उससे शिखर सज्जित करते हैं, सिहासन मढाते हैं, आँगी-रचना करते है, पूजा-उपासना की रकावियो में सजाते हैं; किन्तु दुर्भाग्य से, अज्ञान-वश वे यह नहीं जानते कि वरक पशुओ की आँत-खाल की घिनौनी उपज है – उसके निर्माण मे वेहिसाब हिसा होती है –

इस सबकी प्रामाणिक जानकारी के लिए पढिये

डॉ नेमीचन्द की कृति

वरक़ मांसाहार है

□ रगीन चित्र □ जीवन्त विवरण □ तथ्यपरक जानकारी □ मूल्य पांच रुपये (रजिस्टर्ड डाक से तेरह रुपये, सामान्य डाक से सात रुपये)

प्राप्ति-स्थान

प्रवन्धक, हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी,
कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१
मध्यप्रदेश

दूरभाष ४९० ८०४, ४९१ [illegible]